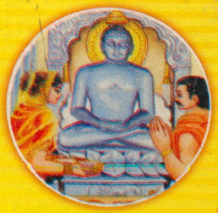
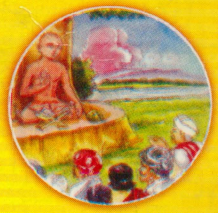
ज्ञानानन्द श्रावकाचार

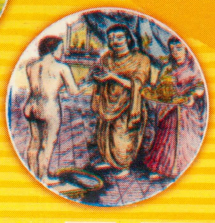


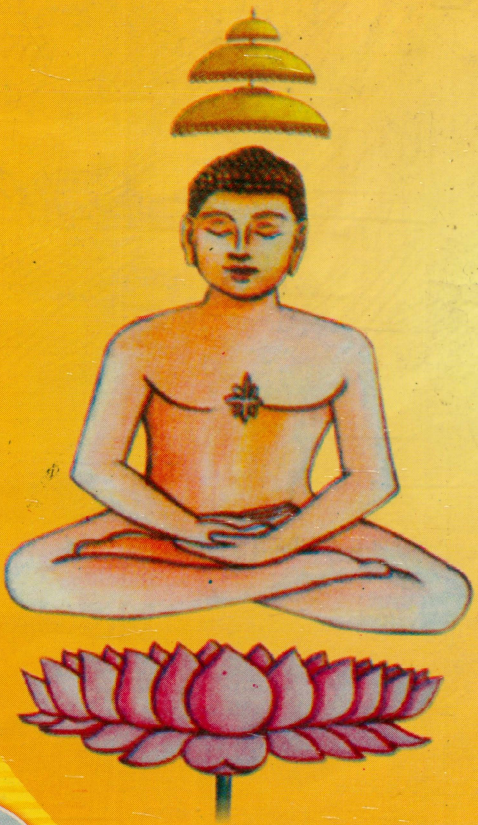












ब्र. रायमल्ल

ज्ञानानन्दश्रावकाचार

[अपरनाम – ज्ञानानन्दपूरितनिर्भरनिजरस–श्रावकाचार]

ग्रन्थकार :

ब्र. पण्डित रायमल्लजी

भाषा रूपान्तरण :

धन्यकुमार जैन, एम.एस.सी.

डी–4, सोमनाथ महादेव सोसायटी,

पार्ले प्वाइंट, सूरत–395007

सम्पादक :

अखिल जैन 'बंसल'

एम.ए. (हिन्दी), डिप्लोमा–पत्रकारिता

प्रकाशक :

श्री अखिल भारतवर्षीय दि. जैन विद्वत्परिषद् ट्रस्ट

129, जादौन नगर 'बी', स्टेशन रोड़

दुर्गापुरा, जयपुर – 302018

फोन : 0141–2722274, मो. 09929655786

प्रथम संस्करण : 1 हजार
(26 अगस्त, 2010)

मूल्य : पैंतीस रुपए

प्राप्ति-स्थल :

- **पण्डित टोडरमल स्मारक भवन**
  ए-4, बापूनगर, जयपुर-302015
- **समन्वयवाणी फाउन्डेशन**
  129, जादौन नगर 'बी' स्टेशन रोड़
  दुर्गापुरा, जयपुर - 302018

मुद्रक :
प्रिन्टो 'ओ' लैण्ड

विद्वत्परिषद् के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

1. क्षत्रचूड़ामणी
2. शुद्धोपयोग विवेचन
3. अध्यात्म बारहखड़ी
4. श्रावकाचार : दिशा और दृष्टि
5. बसंततिलका
6. इष्टोपदेश
7. ज्ञानामृत
8. चतुर चितारणी
9. क्षत्रचूड़ामणी : एक परिशीलन
10. जैन जाति नहीं, धर्म है
11. मंगल तीर्थयात्रा
12. सिद्धलोक और सिद्धत्व साधना के सूत्र
13. समाधि और सल्लेखना
14. छहढाला का सार
15. भगवान महावीर जन्मभूमि का सच

आगामी प्रकाशन

1. सर्वार्थसिद्धिवचनिका
2. परमात्मप्रकाश बालबोधिनी वचनिका

प्रकाशकीय

श्री अखिल भारतवर्षीय दि. जैन विद्वत्परिषद् ट्रस्ट, जयपुर के माध्यम से ब्र. रायमल्लजी कृत 'ज्ञानानन्द श्रावकाचार' का प्रकाशन करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

ब्र. रायमल्लजी आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी के समकालीन थे तथा भीलवाड़ा के निकट शाहपुरा के मूल निवासी थे। पण्डित टोडरमलजी से मिलने की इच्छा उन्हें जयपुर ले आई और फिर उन्होंने जयपुर को अपनी कर्मस्थली बनाया। ज्ञानानन्द श्रावकाचार उनकी महत्त्वपूर्ण कृति है जो मूलरूप से सरल ढुंढारी भाषा में लिखी गई है। वैसे तो इसका प्रकाशन हिन्दी में दि. जैन मुमुक्षु मण्डल भोपाल द्वारा कुछ वर्षों पूर्व किया गया था, जो अब अनुपलब्ध है।

श्री धनकुमारजी जैन स्वाध्यायी विद्वान हैं। उन्होंने ढुंढारी भाषा से हिन्दी रूपान्तरण कार्य बड़े ही मनोयोग पूर्वक किया है। इस श्रमसाध्य कार्य के लिए वे बधाई के पात्र हैं।

श्री अखिल भारतवर्षीय दि. जैन विद्वत्परिषद् के प्रकाशन मंत्री श्री अखिल बंसल जो समाज के वरिष्ठ पत्रकार हैं तथा समन्वयवाणी के आद्य सम्पादक हैं। उन्होंने इस कृति के सम्पादन कार्य को अल्पसमय में रुचिपूर्वक किया है; इसके लिए उन्हें भी धन्यवाद।

पुस्तक की प्रस्तावना विद्वत्परिषद् के पूर्व अध्यक्ष डॉ. देवेन्द्रकुमारजी शास्त्री नीमच द्वारा भोपाल से प्रकाशित कृति में प्रकाशित की गई थी, जिसका संक्षिप्तीकरण कर उसका उपयोग इस कृति में साभार किया जा रहा है।

पुस्तक रत्नकरण्डश्रावकाचार के समान ही अत्यन्त उपयोगी है; अतः पाठकों को नियमित स्वाध्याय कर लाभ उठाना चाहिए। अन्त में पुस्तक के प्रकाशन में जिन महानुभावों का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सहयोग प्राप्त हुआ है, उनका आभार।

डॉ. सत्यप्रकाश जैन
महामंत्री

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल
अध्यक्ष

विषय-सूची

1.	प्रकाशकीय	III
2.	भूमिका	V
3.	प्रथम अधिकार : वन्दनाधिकार	1
4.	द्वितीय अधिकार : श्रावक वर्णनाधिकार	28
5.	तृतीय अधिकार : विभिन्न दोषों का स्वरूप	74
6.	चतुर्थाधिकार : सम्यग्दर्शन	149
7.	पंचम अधिकार : सम्यग्ज्ञान	152
8.	षष्टम अधिकार : सम्यग्चारित्राधिकार	154
9.	सप्तम अधिकार : सामायिक का स्वरूप	194
10.	अष्टम अधिकार : स्वर्ग का वर्णन	202
11.	नवम अधिकार : समाधिमरण का स्वरूप	227
12.	दशम अधिकार : मोक्ष सुख का वर्णन	248
13.	एकादशम् अधिकार : अर्हंतादि के स्वरूप का वर्णन	266
14.	द्वादशम् अधिकार : निर्ग्रंथ गुरु का स्वरूप	267
15.	त्रयोदशम् अधिकार : कुदेवादि का स्वरूप	272
16.	परिशिष्ट - 1	296
17.	परिशिष्ट - 2	303

प्रस्तावना

डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री, पूर्व अध्यक्ष
श्री अ.भा. दि. जैन विद्वत्परिषद्

हिन्दी साहित्य में ''रायमल्ल'' नाम के तीन साहित्यकारों का उल्लेख मिलता है। प्रथम ब्रह्म रायमल्ल हुए जो सत्रहवीं शताब्दी के विद्वान थे। वे हुंवड वंशीय विद्वान थे। उनकी रची हुई अधिकतर रचनाएँ रासो संज्ञक तथा पद्यबद्ध कथाएँ हैं। दूसरे विद्वान कविवर राजमल्लजी 'पाण्डे' नाम से सत्रहवीं शताब्दी में प्रख्यात हो चुके थे। उनकी रचनाएँ अधिकतर टीका ग्रन्थ हैं जो इस प्रकार हैं - समयसार कलश बालबोध टीका, तत्वार्थसूत्र टीका, जम्बूस्वामीचरित एवं अध्यात्मकमल मार्तण्ड, इत्यादि। तीसरे साहित्यकार प्रस्तुत श्रावकाचार के **लेखक ब्रह्मचारी रायमल्लजी** हैं। इन्द्रध्वज विधान-महोत्सव पत्रिका के साथ ही प्रकाशित अपनी जीवन-पत्रिका[1] में उन्होंने अपना नाम **''रायमल्ल''** दिया है। पण्डित प्रवर टोडरमलजी, पं. दौलतरामजी कासलीवाल और पं. जयचन्दजी छाबड़ा, आदि विद्वानों ने अत्यन्त सम्मान के साथ उनके ''रायमल्ल'' नाम का उल्लेख अपनी रचनाओं की प्रशस्तियों में किया है।

पण्डित दौलतरामजी कासलीवाल के उल्लेख से स्पष्ट है कि वे जयपुर निवासी थे। दौलतरामजी ने अपने आपको उनका मित्र लिखा है। उनके ही शब्दों में –

रायमल्ल साधर्मी एक, जाके घट में स्व-पर-विवेक ।।
दयावन्त गुणवन्त सुजान, पर-उपकारी परम निधान।
दौलतराम सु ताको मित्र, तासों भाष्यो वचन पवित्र ।।5 ।।

---

1. ''अथ आगै केताइक समाचार एकदेशी जघन्य संयम के धारक रायमल्ल ता करि कहिए हैं।'' - इन्द्रध्वज-विधान-महोत्सव पत्रिका की प्रारम्भिक पंक्ति

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि मित्र की साक्ष्य के अनुसार रायमल्ल विवेकी पुरुष थे। दया, परोपकार, निरभिमानता आदि अनेक गुणों से विभूषित थे। उन्हें एक दार्शनिक का मस्तिष्क, श्रद्धालु का हृदय, साधुता से व्याप्त सम्यक्त्व की सैनिक दृढ़ता और उदारता पूर्ण दयालु के कर-कमल सहज ही प्राप्त थे। वे गृहस्थ होकर भी गृहस्थपने से विरक्त थे, एकदेश व्रतों को धारण करने वाले उदासीन श्रावक थे। वे जीवन भर अविवाहित रहे। तेईस वर्ष की अवस्था में उन्हें तत्वज्ञान की प्राप्ति हो गई थी।

राजस्थान में शताब्दियों से शाहपुरा धर्म का एक केन्द्र रहा है। लगभग तीन शताब्दियों से यह जैनधर्म, रामसनेही तथा अन्य धर्मावलम्बियों का मुख्य धार्मिक स्थान है। भीलवाड़ा से लगभग बारह कोस की दूरी पर स्थित शाहपुरा सरावगियों का प्रमुख गढ़ रहा है, जहाँ धार्मिक प्रवृत्तियाँ सदा गतिशील रही हैं। स्वाध्याय की रुचि सदा से इस नगर में बनी रही है। जैन शास्त्रों का जितना बड़ा शास्त्र-भण्डार यहाँ है, उतना बड़ा सौ-दो सौ मील के क्षेत्र में भी नहीं है। रायमल्लजी का धार्मिक जीवन इसी नगर से प्रवृत्तमान हुआ। वे यहाँ सात वर्ष रहे। यहीं पर उनको सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई थी। उनके ही शब्दों में –

"थोरे ही दिनों में स्व-पर का भेद-विज्ञान भया। जैसे सूता आदमी जागि उठै है, तैसे हम अनादि काल के मोह निद्रा करि सोय रहे थे, सो जिनवाणी के प्रसाद तै वा नीलापति आदि साधर्मी के निमित्त तै सम्यग्ज्ञान दिवस विषैं जागि उठै। साक्षात् ज्ञानानन्द स्वरूप, सिद्ध सादृश्य आपणा जाण्या और सब चरित्र पुद्गल द्रव्य का जाण्या। रागादिक भावाँ की निज स्वरूप सूं भिन्नता वा अभिन्नता नीकी जाणी। सो हम विशेष तत्वज्ञान का जानपणा सहित आत्मा हुवा प्रवर्ते। विराग परिणामाँ के बल करि तीन प्रकार के सौगंद-सर्व हरितकाय, रात्रि का पाणी व विवाह करने का आयु पर्यंत त्याग किया। ऐसे होते संते सात वर्ष पर्यंत उहाँ ही रहे।"[1]

स्थितिकाल :- जयपुर निवासी पं. रायमल्लजी उस युग के प्रसिद्ध विद्वान् पं. टोडरमलजी, पं. दौलतरामजी कासलीवाल और कवि द्यानतराय

1. इन्द्रध्वजविधान-महोत्सव-पत्रिका, पाना-2

के समकालीन थे। अपनी पत्रिका में उन्होंने पं. दौलतराम का और भूधरदास का उल्लेख किया है। पं. जयचन्द छाबड़ा, पं. सेवाराम, पं. सदासुख आदि उनके पश्चात्वर्ती विद्वान हैं। पं. जयचन्द छाबड़ा ने यह उल्लेख किया है कि ग्यारह वर्ष के पश्चात् मैंने जिनमार्ग की सुध ली। वि.सं. 1821 में जयपुर में इन्द्रध्वज-विधान का महोत्सव हुआ था। उसमें सम्मिलित होकर आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी के आध्यात्मिक प्रवचनों से प्रभावित होकर उनका झुकाव जैनधर्म की ओर हुआ था। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि पं. रायमल्लजी की लिखी हुई पत्रिका उस युग का सबसे बड़ा दस्तावेज है जो जयपुर में तथा निकटवर्ती क्षेत्रों में जैनधर्म की वास्तविक स्थिति पर सम्यक् प्रकाश डालने वाला है। उनके साहित्यिक कर्त्तृत्व का उल्लेख करते हुए पं. सेवाराम जी कहते हैं -

वासी श्री जयपुर तनौ, टोडरमल्ल क्रिपाल।
ता प्रसंग को पाय कै, गहयौ सुपंथ विसाल।।
गोम्मटसारादिक तनै, सिद्धान्तन में सार।
प्रवर बोध जिनके उदै, महाकवि निरधार।।
फुनि ताके तट दूसरो, रायमल्ल बुधराज।
जुगल मल्ल जब ये जुरे, और मल्ल किह काज।।

(शान्तिनाथपुराणवचनिका-प्रशस्ति)

पं. रायमल्लजी ने पत्रिका में अपने जीवन के विषय में जो उल्लेख किया है, उससे यह निश्चित हो जाता है कि 22 वर्ष तक उनको धार्मिक ज्ञान नहीं था। शाहपुरा में उनको यथार्थ धर्म-बोध प्राप्त हुआ। वहाँ वे 7 वर्ष रहे। 29 वर्ष की अवस्था में वे उदयपुर गये और वहाँ पर पं. दौलतरामजी कासलीवाल से मिले। पं. दौलतरामजी जयपुर के राजा जयसिंह के वकील थे।

ब्र. रायमल कुछ दिनों तक शाहपुरा में रहे। फिर पं. टोडरमलजी से मिलने के लिए पहले जयपुर, आगरा, फिर सिंघाणा गये। कहा जाता है कि गोम्मटसार की टीका प्रारंभ होने के (क्योंकि ब्र. रायमल्ल के अनुसार उक्त

टीकाओं के बनाने में तीन वर्ष का समय लगा और उनकी प्रेरणा से ही टीका लिखी गई तथा वे तीन वर्ष तक वहाँ रहे) 3-4 वर्ष पूर्व अर्थात् वि.सं. 1808-9 में वे पं. टोडरमलजी से मिलने के लिए अत्यन्त उत्सुक व प्रयत्नशील थे।[1] इन्द्रध्वज-विधान-महोत्सव-पत्रिका से यह स्पष्ट है कि माह शुक्ल 10 वि.सं. 1821 में इन्द्रध्वज पूजा की स्थापना हुई थी। उसके लगभग तीन वर्ष पूर्व निश्चित रूप से वि.सं. 1818 में टीकाओं की रचना हो चुकी थी। टीकाओं की रचना में लगभग तीन वर्ष का समय लगा था। अतः यदि तीन वर्ष पूर्व पण्डित प्रवर टोडरमलजी ने ब्र. पं. रायमल्लजी की प्रेरणा से टीका-रचना का प्रारम्भ किया हो, तो वि.सं. 1815 के लगभग समय ठहरता है। इससे यह भी निश्चित है कि ब्र. पं. रायमल्लजी यदि दो-तीन वर्ष उदयपुर-जयपुर-आगरा-जयपुर घूम-फिर कर बत्तीस वर्ष की अवस्था में शेखावाटी के सिंघाणा नगर में पं. टोडरमलजी से मिले हों, तो वह वि.सं. 1812 का वर्ष था और इस प्रकार उनका जन्म वि.सं. 1780 सम्भावित है।

पण्डित दौलतरामजी और पं. टोडरमलजी ब्र. रायमल्लजी से अवस्था में बड़े थे। पण्डित टोडरमलजी को उन्होंने कई स्थानों पर भाईजी, टोडरमलजी लिखा है। उनकी ज्ञान-गरिमा और रचनात्मक शक्ति से वे अत्यन्त प्रभावित थे। उनके ही शब्दों में "सारां ही विषै भाईजी टोडरमलजी के ज्ञान का क्षयोपशम अलौकिक है।" पण्डित टोडरमलजी का जन्म वि.सं. 1776-77 में कहा गया है।[2] पं. दौलतरामजी कासलीवाल का समय निर्णीत है। उनका जन्म वि.सं. 1745 में बसवा ग्राम में हुआ था।[3] संक्षेप में, ब्र. पण्डित रायमल्लजी के जन्म की निम्नतम सीमा वि.सं. 1775 और अधिकतर सीमा वि.सं. 1782 कही जा सकती है। क्योंकि यह सुनिश्चित है कि पं. दौलतरामजी से वे अवस्था में छोटे थे। और तीस वर्ष की अवस्था के पश्चात् ही वे पंडित

1. हितैषी, 1941 ई. वर्ष 1-2, अंक 12-13, पृ. 92-93, जयपुर
2. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व, पृ. 53
3. नेमीचन्द शास्त्री : तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा खण्ड-4, पृ. 281

प्रवर टोडरमलजी से मिले थे। उन्होंने स्वयं इस बात का उल्लेख किया है कि टीकाएँ सिंघाणा नगर में रची गईं।

उन्होंने रचने का कार्य किया और हमने बाँचने का। उनके ही शब्दों में[1] – "तब शुभ दिन मुहूर्त विषैं टीका करने का प्रारंभ सिंघाणा नग्र विषै भया। सो वे तो टीका बणावते गये, हम बांचते गये। बरस तीन में गोम्मटसार ग्रन्थ की अड़तीस हजार, लब्धिसार-क्षपणसार ग्रन्थ की तेरह हजार, त्रिलोकसार ग्रन्थ की चौदह हजार, सब मिलि च्यारि ग्रन्थ की पैंसठ हजार टीका भई। पीछै सवाई जैपुर आए।" इसी के साथ उन्होंने यह भी उल्लेख किया है कि इस बीच वि.सं. 1817 में एक उपद्रव हो गया।

यह सुनिश्चित है कि पण्डितप्रवर टोडरमलजी वि.सं. 1811 में मुलतान वालों को रहस्यपूर्ण चिट्ठी लिख चुके थे। उसमें कहीं भी किसी रूप में ब्र. रायमल्लजी के नाम का उल्लेख नहीं है। यह भी एक अद्‌भुत सादृश्य है कि दोनों विद्वानों का साहित्यिक जीवन पत्रिका से प्रारंभ होता है। यह भी सम्भावना है कि पण्डित प्रवर के इस कृतित्व और व्यक्तित्व से प्रभावित होकर ब्र. रायमल्लजी ने उनसे ग्रन्थ रचना के लिए अनुरोध किया हो।[2] अतः सभी प्रकार से विचार करने पर यही मत स्थिर होता है कि ब्र. रायमल्लजी का जन्म वि.सं. 1780 में हुआ था।

रचनाएँ :– अभी तक ब्र. पं. रायमल्लजी की तीन रचनाएँ मिली हैं। रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं :- (1) इन्द्रध्वजविधान-महोत्सव-पत्रिका (वि.सं. 1821) (2) ज्ञानानन्द श्रावकाचार (3) चर्चा-संग्रह।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि पण्डितप्रवर टोडरमलजी के निमित्त से ही ब्रह्मचारी रायमल्लजी साहित्यिक रचना में प्रवृत्त हुए। उनके विचार और इनका जीवन अत्यन्त सन्तुलित था, यह झलक हमें इनकी रचनाओं में व्याप्त

1. इन्द्रध्वज-विधान-महोत्सव-पत्रिका का प्रारंभिक
2. रायमल्ल साधर्मी एक, धरम सधैया सहित विवेक।
   सौ नाना विधि प्रेरक भयो, तब यहु उत्तम कारज थयौ।।
   दे. लब्धिसार, द्वि. स. पृ. 637 तथा

मिलती है। ''चर्चा-संग्रह'' के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्व-विचार तथा तत्व-चर्चा करना ही इनका मुख्य ध्येय था। डॉ. भारिल्ल के शब्दों में ''पण्डित टोडरमल के अद्वितीय सहयोगी थे - साधर्मी भाई ब्र. रायमलजी[1], जिन्होंने अपना जीवन तत्वाभ्यास और तत्वप्रचार के लिए ही समर्पित कर दिया था।[2]

''इन्द्रध्वज-विधान-महोत्सव-पत्रिका'' की रचना माघ शुक्ल 10, वि.सं. 1821 में हुई थी। ब्र. पं. रायमल्लजी के शब्दों में'' आगै माह सुदि 10 संवत् 1821 अठारा से इकबीस कै सालि इन्द्रध्वज पूजा का स्थापन हुआ। सो देस-देश के साधर्मी बुलावने कौ चीठी लिख़ी, ताकी नकल यहाँ लिखिये है।''

''चर्चा-संग्रह'' में विविध धार्मिक प्रश्नोत्तरों का सुन्दर संग्रह किया गया है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति वैद्य गम्भीरचन्द जैन को अलीगंज (एटा) के शास्त्र-भण्डार में वर्षों पूर्व मिली थी। इस प्रति के लिपिकार श्री उजागरदास ने इसे वि.सं. 1854 में लिपिबद्ध किया था। उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों में यह सबसे प्राचीन प्रति है। अतः इसकी रचना वि.सं. 1850 के लगभग अनुमानित है।

इस ग्रन्थ की रचना ग्यारह हजार दो सौ श्लोक प्रमाण है।[3] इसमें अत्यन्त उपयोगी चुने हुए प्रश्नों के युक्तियुक्त संक्षिप्त उत्तर हैं।

श्रावकाचार का रचनाकाल :- ''ज्ञानानन्द श्रावकाचार'' के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक को प्राकृत, संस्कृत आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान था। चारों अनुयोगों पर उनका समान अधिकार प्रतीत होता है। छन्द, अलंकार, व्याकरण आदि का ज्ञान हुए बिना वे इस शास्त्र की रचना नहीं कर सकते थे। ग्रन्थ के प्रारंभ में तथा अन्य स्थलों पर उन्होंने अपनी पद्य-

1. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व, पृ. 66 से उद्धृत।
2. चर्चा संग्रह पन्थ क संख्या करी सुजान।
3. जैनपथ-प्रदर्शक, वर्ष 5, अंक 9, 1 सितम्बर, 1981, पृ. 2 से उद्धृत।

रचना के निर्देशन प्रस्तुत किए हैं। यथार्थ में उनकी शैली सरल होने पर भी गरिमा युक्त है। उदाहरण के लिए, हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत है –

"सो यह कार्य तो बड़ा है और हम योग्य नहीं, ऐसा हम भी जानते हैं, परन्तु "अर्थी दोषं न पश्यति"। अर्थी पुरुष है वह शुभाशुभ कार्य का विचार नहीं करता, अपना हित ही चाहता है। इसलिए मैं निज स्वरूप-अनुभवन का अत्यन्त लोभी हूँ। इस कारण मुझे और कुछ सूझता नहीं है। मुझे तो एक ज्ञान ही ज्ञान सूझता है। ज्ञान के भोग के बिना और से क्या है? इसलिए मैं अन्य सभी कार्य छोड़कर ज्ञान ही की आराधना करता हूँ ज्ञान ही की सेवा करता हूँ तथा ज्ञान ही का अर्चन करता हूँ और ज्ञान ही की शरण में रहना चाहता हूँ।"

ज्ञानानन्द का अभिप्राय :- इस ग्रन्थ का पूरा नाम "ज्ञानानन्द-निर्भरनिजरस श्रावकाचार" है। स्वरस का ही दूसरा नाम ज्ञानानन्द है। स्व माने अपना और अपना माने आत्मा का। आत्मा का रस ज्ञानानन्द या शान्तिक है। उसमें किसी प्रकार की आकुलता नहीं है, वह निराकुल सुख है। उसकी प्राप्ति स्व-संवेदनगम्य ज्ञानानुभव से ही हो सकती है, अन्य कोई उपाय नहीं है। ज्ञान का अनुभव कहिये या निज स्वरूप की अनुभूति कहिये, एक ही बात है। निज स्वरूप का ध्यान करने से विशेष आनन्द होता है। ज्ञानानन्द से अभिप्राय अतीन्द्रिय आनन्द से है।

शुद्धोपयोगी मुनि का उदाहरण देते हुए ब्र. पं. रायमल्लजी कहते हैं – जैसे ग्रीष्मकाल में भूख-प्यास से पीड़ित कोई पुरुष, शीतल जल में गले हुए मिश्री के ढेले को अत्यन्त रुचि के साथ गटक-गटक कर पीता है और तृप्त होता है, वैसे ही शुद्धोपयोगी महामुनि स्वरूपाचरण होने से अत्यन्त तृप्त हैं और बार-बार उसी रस को चाहते हैं। यदि किसी समय में पूर्व वासना के निमित्त से, शुभ उपयोग में लग जाते हैं, तो ऐसा जानते हैं कि मेरे ऊपर आफत आई है, हलाहल जहर के समान यह आकुलता मुझसे कैसे भोगी जायेगी? अभी हमारा आनन्द रस निकल गया है। फिर, हमें ज्ञानानन्द रस की प्राप्ति होगी या नहीं? हाय! हाय! अब मैं क्या करूँ? यह मेरा स्वभाव है।

मेरा स्वभाव तो एक निराकुल, वाधा रहित, अतीन्द्रिय, अनुपम, स्वरस पीने का है सो मुझे प्राप्त होवे। कैसे प्राप्त हो? जैसे समुद्र में मग्न हुआ मच्छ बाहर निकलना नहीं चाहता है और बाहर निकलने में असमर्थ होता है, वैसे ही मैं ज्ञान-समुद्र में डूबकर फिर निकलना नहीं चाहता हूँ। एक ज्ञान रस को ही पिया करूँ। आत्मिक रस के बिना, अन्य किसी में रस नहीं है। सारे जग की सामग्री चेतन रस के बिना उसी प्रकार फीकी है, जैसे नमक के बिना अलोनी रोटी फीकी होती है।

ग्रन्थ-निर्माण का प्रयोजन :- ग्रन्थकार के लिये रचना तो निमित्त मात्र है। यथार्थ में वे अपने से जुड़े हैं, अपने चित्त को एकाग्र कर अपने उपयोग को, अपने में लगाने का पुरुषार्थ किया है। परमात्मा का स्मरण करते हुए, वे अपनी पहचान करते हैं। परमात्म देव कैसे हैं? जिनके स्वभाव से ज्ञान अमृत झर रहा है और स्व-संवेदन से जिसमें, आनन्द रस की धारा उछल रही है। वह रस-धार उछल कर अपने स्वभाव में ऐसी गर्क हो जाती है, जैसे शक्कर की डली जल में गल जाती है। इसलिए रचनाकार ज्ञानानन्द की प्राप्ति के लिये ही इस श्रावकाचार की रचना करते हैं। उनके ही शब्दों में – "ज्ञानानन्द की प्राप्ति केअर्थ और प्रयोजन नाहीं।"

आगै करता (कर्त्ता) आपणा स्वरूप कौ प्रगट करे है वा आपणा अभिप्राय जणावै है। सो कैसा हूँ मैं? ज्ञान ज्योति करि प्रगट भया हूँ, तातै ज्ञान ही नै चाहूँ हूँ। ज्ञान छै, सो म्हारा निज स्वरूप छै। सोई ज्ञान-अनुभव-करि, मेरे ज्ञान ही की प्राप्ति होहु। मैं तो एक चैतन्य स्वरूप ता करि उत्पन्न भया, ऐसा जो शांतिक रस ताकै पीवा कूं उद्यम किया है, ग्रन्थ बनावा का अभिप्राय नाहीं। ग्रन्थ तौ बड़ा-बड़ा पण्डिता नै घना ही बनाया है, मेरी बुद्धि कांई? पुनः उस विषै बुद्धि की मंदता करि, अर्थ विशेष भासता नाहीं, अर कषाय गल्या बिना, आत्मीक रस उपजै नाहीं, आत्मीक रस उपज्या बिना, निराकुलित सुख ताकौ भोग कैसे होय? तातै ग्रन्थ का मिस, चित्त एकाग्र करिवा का उद्यम किया।"

इसप्रकार मुख्य प्रयोजन निज आत्मा का अनुभव करना ही है। यथार्थ में स्व-स्वरूप के सन्मुख व्यक्ति को ज्ञान के सिवाय कुछ नहीं सूझता है, अतः

आत्म-विनय के साथ ही ब्रह्मचारी रायमलजी ने वास्तविकता को ही प्रकट किया है। जैसे भोगी को भोग के सिवाय खाना-पीना आदि कुछ अच्छा नहीं लगता, वैसे ही ज्ञान की ओर झुकने वाले को ज्ञान के, भोग के बिना सब फीका लगता है।

विशेषताएँ :- लगभग एक सौ से अधिक श्रावकाचार उपलब्ध होते हैं। किन्तु उन सभी श्रावकाचारों से इसमें कई बातें विशेष मिलती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जैसे "ज्ञानानन्द श्रावकाचार" इसका नाम है, वैसे ही मधुर भावों से भरपूर है। इसकी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं -

(1) प्रायः सभी श्रावकाचार पद्य में रचे गये मिलते हैं, किन्तु यह गद्य में रची गई प्रथम रचना है। सम्पूर्ण ग्रन्थ गद्य में है।

(2) पानी छानने, रसोई आदि बनाने से लेकर समाधिमरण पर्यन्त तक की सभी क्रियाओं का इसमें विधिवत् वर्णन है। श्रावकाचार की सभी मुख्य बातें इसमें पढ़ने को मिलती हैं।

(3) द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग का इतना सुन्दर सामंजस्य इसमें है कि "मोक्षमार्ग प्रकाशक" के सिवाय अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता।

(4) पण्डित प्रवर टोडरमलजी, पं. दौलतरामजी कासलीवाल आदि ने जिस विषय का प्रतिपादन किया है, उसके समर्थन में स्थान-स्थान पर आचार्यों के उद्धरण दिए हैं। परन्तु ब्र. रायमल्लजी ने एक भी श्लोक या गाथा उद्धृत नहीं की। केवल नाथूराम कृत "विनय पाठ" की दो पंक्तियाँ उद्धृत की है।

(5) जलगालन-विधि के अन्तर्गत पानी छानकर जीवानी डालने की जैसी सुन्दर, स्पष्ट, विषद विधि इस श्रावकाचार में बताई गई है। वैसी अन्य शास्त्र में विस्तार से पढ़ने में नहीं आई।

(6) भाषा और भावों में बहुत ही सरलता है।

(7) निश्चय और व्यवहार दोनों का सुन्दर समन्वय इसमें है।

(8) जिन-मन्दिर के चौरासी आसादन दोषों का वर्णन इसमें विशेष रूप से है।

(9) जिसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने आगम को सामने रख कर सुप्रसिद्ध अध्यात्म ग्रन्थ "समयसार" की रचना की थी, वैसी ही अध्यात्म को सामने रखकर ब्र. रायमल्लजी ने "श्रावकाचार" की रचना की। वास्तव में चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग का सुमेल है।

(10) किसी एक ग्रन्थ के आधार पर नहीं, किन्तु उपलब्ध सभी श्रावकाचारों का सार लेकर इस ग्रन्थ की रचना की गई।

(11) सामान्य जन भी समझ सकें, इस बात को ध्यान में रखकर, स्थान-स्थान पर दृष्टान्त दिये गये हैं।

(12) प्रतिदिन की सामान्य क्रियाओं की भी विधि और उनके गूढ़ अर्थ को स्पष्ट किया गया है।

(13) हेतु, न्याय, दृष्टान्त, आगम, प्रमाण आदि के उपयोग के साथ ही शास्त्रीयता की लीक से हटकर सरल, सुबोध शैली में इस श्रावकाचार की रचना की गई है।

(14) विषय को स्पष्ट करने के लिये अनेक स्थानों पर, प्रश्न प्रस्तुत कर उनका समाधान किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ भी रत्नकरण्ड श्रावकाचार की भाँति ही श्रावकाचार ग्रन्थों में अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ है। ग्रन्थ की रचना शैली सरल है। प्रसाद गुण से युक्त होने पर भी स्थान-स्थान पर काव्यात्मक छटा तथा अलंकारों का समुचित प्रयोग लक्षित होता है। कल्पना के यथोचित समावेश से नई-नई उपमाओं तथा दृष्टान्तों से रचना भरपूर है। ग्रन्थ की यह विशेषता है कि इसमें अपने समय की बोली जाने वाली ठेठ ढूंढारी भाषा का प्रयोग है। भाषा में प्रवाह तथा मधुरता है। लेखक ने संस्कृत की शब्दावली का कम से कम प्रयोग किया है, इसलिए इसकी भाषा ठेठ है। ठेठ भाषा में वह भी गद्य में लगभग तीन सौ पृष्ठों की एक बड़ी रचना करना एक सच्चे लेखक का ही कार्य हो सकता है। ●

243 शिक्षक कॉलोनी, नीमच (म.प्र.)



नमः सिद्धेभ्य

ज्ञानानन्द श्रावकाचार

मंगलाचरण

दोहा

राजत[1] केवलज्ञान जुत[2], परम औदारिक काय।
निरख छवि भवि छकत[3] हैं,पी रस सहज सुभाय।।
अरहंत हरिकै[4] अरिन कों, पायो सहज निवास।
ज्ञान ज्योति परगट भई, ज्ञेय क्यि परकास।।
सकल सिद्ध वंदों सुविधि, समयसार[5] अविकार।
स्वच्छ सुछंद उद्योत नित, लह्यो ज्ञान विस्तार।।
ज्ञान स्वच्छ जसु भाव में, लोकालोक समाय।
ज्ञेयाकार न परनमें[6], सहज ज्ञान रस पाय।।
अंत आंचि[7] के पांचतें[8], शुद्ध भये शिवराय।
अभेद रूप जो परनमें, सहजानन्द सुख पाय।।
जिनमुख तें उत्पत्ति भई, ज्ञानामृत रस धार।
स्वच्छ प्रवाह बहे ललित, जग पवित्र करतार।।
जिनमुख तें उत्पत्ति, सुरति सिन्धुमय सोई।
मैं नमत अद्य हरनतै, सब कारज सिध होई।।
निर्विकार निर्ग्रन्थ जे, ज्ञान ध्यान रसलीन।
नासा अग्र जु दृष्टि धरि, करे कर्ममल छीन।।
इह विधि मंगल करन तैं, सब विधि मंगल होत।
होत उदंगल[9] दूरि सब, तम ज्यौं भानु उद्योत।।

---

1. शोभायमान 2. युक्त सहित 3. तृप्त, 4. नष्टकर 5. शुद्धात्मा 6. परिणमन
7. आंच, अग्नि 8. पाक से (द्वारा) 9. विघ्न, बाधा, द्वन्द

प्रथम अधिकार : वंदनाधिकार

इसप्रकार मंगलाचरण पूर्वक अपने इष्ट देवों को नमस्कार करके ज्ञानानन्द पूरित-निर्भर निजरस नाम के शास्त्र का अनुभवन (प्रकाशन) करूंगा। इसलिये हे भव्य तू सुन – इष्टदेव कैसे हैं, यह शास्त्र कैसा है और मैं कैसा हूँ – वह कहता हूँ। इष्टदेव तीन प्रकार के हैं – (1) देव (2) गुरु (3) धर्म। देव भी दो प्रकार के हैं – (1) अरिहन्त (2) सिद्ध। गुरु तीन प्रकार के हैं – (1) आचार्य (2) उपाध्याय (3) साधु। धर्म एक ही प्रकार का है। इनका विशेष रूप से भिन्न-भिन्न निरूपण करता हूँ।

अरिहन्त देव का स्वरूप :– अरिहन्त देव कैसे हैं ? परम औदारिक शरीर में पुरुषाकार आत्म द्रव्य है, और घातिक अर्थात जिनने घातिया कर्म-मल का घात (नाश) किया है, मल को धोया है तथा अनन्त चतुष्टय को प्राप्त किया है। वह (आत्म द्रव्य) निराकुल, अनुपम, बाधा रहित, ज्ञान स्वरस से पूर्ण भरा है। लोकालोक को प्रकाशित करते हुये भी ज्ञेयरूप परिणमन नहीं करता है। एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव को धारण करता है तथा शान्त रस से अत्यन्त तृप्त है। क्षुधा आदि अठारह दोषों से रहित हैं। निर्मल (स्वच्छ) ज्ञान का पिंड है। जिसके निर्मल स्वभाव में लोकालोक के चराचर (चर अर्थात चलने वाले और अचर अर्थात स्थिर) पदार्थ स्वयं आकर प्रतिबिंबित हुये हैं, मानों भगवान के स्वभाव में पहले से ही मौजूद थे। उनके निर्मल स्वभाव की महिमा वचनों में नहीं कही जा सकती है।

अरिहन्त देव की स्तुति

अरिहन्त देव और कैसे हैं ? जैसे सांचे में धातु चांदी का पिंड बनाया जावे उसी प्रकार अरिहन्त चैतन्य धातु के पिंड हैं, परम औदारिक शरीर में

रहते हैं। शरीर भिन्न है तथा अरिहन्त का आत्मद्रव्य भिन्न है, उन (अरिहन्त देव) को मैं अंजुली (हाथ) जोड कर नमस्कार करता हूँ।

अरिहन्त परम वीतराग देव और कैसे हैं ? अतीन्द्रिय आनन्द रस का पान करते हैं तथा आस्वादन करते हैं। उनके सुख की महिमा हम कह सकने में समर्थ नहीं हैं , परन्तु छद्मस्थों की जानकारी के लिये ऐसी उपमा संभव है ।

तीन काल सम्बन्धी बारहवें गुणस्थानवर्ती शुद्धोपयोगी महामुनियों के आत्मिक सुख से भी अनन्त गुणा सुख केवली भगवान को एक समय मात्र में होता है, परन्तु केवली भगवान के सुख की जाति भिन्न प्रकार की है। इन्हें तो अतीन्द्रिय क्षायिक सम्पूर्ण स्वाधीन सुख है और छद्मस्थ के इन्द्रिय जनित पराधीन अल्प सुख है – ऐसा निसंदेह है ।

केवलज्ञानी और कैसे हैं ? केवल एक निज स्वच्छ ज्ञान के पुंज हैं। उसमें और भी अनन्त गुण भरे हैं ।

पुनः तीर्थंकर देव और कैसे हैं ? अपने उपयोग को अपने स्वभाव में ही लीन कर दिया है, जैसे नमक की डली (टुकडा) पानी में गल (घुल) जाती है वैसे ही केवली भगवान का उपयोग स्वभाव में ही लीन हो गया है तथा फिर नियमरूप से (वह उपयोग) बाहर निकलने में असमर्थ है एवं आत्मिक सुख में अत्यन्त रत हैं। उसका रस पीते तृप्त नहीं होते हैं अर्थात अत्यन्त तृप्त हैं । उनके शरीर की सौम्यदृष्टि ध्यानमय अकंप आत्मिक प्रभाव से शोभित है, मानों भय जीवों को उपदेश ही दे रही हो। क्या उपदेश दे रही है ?

हे भव्य जीवो ! इसप्रकार ही अपने स्वरूप में लग जाओ, विलम्ब मत करो, ऐसा शान्त रस पीओ। इसप्रकार संकेत करके भव्य जीवों को अपने स्वभाव में लगाती है। इस निमित्त को पाकर अनेक जीव संसार समुद्र से पार हुये हैं। अनेक जीव भविष्य में पार होंगे तथा वर्तमान में पार

होते देखे जा रहे हैं । अत: ऐसे परम औदारिक शरीर को भी हमारा नमस्कार हो।

जिनेन्द्र देव तो आत्म द्रव्य ही हैं, परन्तु आत्म द्रव्य के निमित्त से शरीर की स्तुति उचित है तथा भव्य जीवों को तो मुख्य रूप से शरीर का ही उपकार है, अत: (शरीर की) स्तुति और नमस्कार करना उचित है तथा जिसप्रकार कुलाचलों (जम्बुद्वीप को सात क्षेत्रों में विभाजित करने वाले छह पर्वतों) के बीच सुमेरु शोभित होता है, उसीप्रकार गणधरों और इन्द्रों के बीच श्री भगवान (अरिहंत देव) शोभित हैं । ऐसे श्री अरिहंत देवाधिदेव इस ग्रन्थ को पूर्ण करें ।

सिद्ध देवों की स्तुति

आगे श्री सिद्ध परमेष्ठि की स्तुति -महिमा का वर्णन करके अष्ट कर्मो को दूर करता हूँ ।

सिद्ध परमदेव का स्वरूप :- जिनने समस्त घातिया और अघातिया कर्ममल को धो दिया है। ऐसे निष्पन्न हुये हैं जैसे सोलह ताव का शुद्ध स्वर्ण अन्तिम ताव में तप कर निष्पन्न होता है, वैसे ही अपनी स्वच्छ शक्ति से निष्पन्न होकर दैदीप्यमान हो कर उनका स्वरूप प्रकट हुआ है वह मानों प्रकट रूप में ही समस्त ज्ञेयों को निगल गया है ।

सिद्ध और कैसे हैं ? एक-एक सिद्ध की अवगाहना में अनन्त-अनन्त सिद्ध भिन्न-भिन्न अपनी सत्ता सहित विराजमान हैं। कोई एक सिद्ध भगवान किसी दूसरे सिद्ध से मिलते नहीं हैं ।

सिद्ध और कैसे हैं ? परम पवित्र हैं , स्वयं शुद्ध हैं और आत्मिक स्वभाव में लीन हैं । परम अतीन्द्रिय, अनुपम, बाधारहित, निराकुल स्वरस का निरन्तर अखंड रूप से पान करते हैं, उसमें अन्तर नहीं पडता है ।

सिद्ध भगवान और कैसे हैं ? असंख्यात प्रदेशी चैतन्य धातु के ठोस घनपिंड रूप हैं, अमूर्तिक चरम शरीर (अन्तिम परम औदारिक शरीर) से

किंचित न्यून (कम) हैं। सर्वज्ञ देव ने (सर्व सिद्धों को) प्रत्यक्ष विद्यमान भिन्न-भिन्न देखे हैं ।

सिद्ध भगवान और कैसे हैं ? उनने अपने ज्ञायक स्वभाव को प्रकट किया है तथा प्रति समय षट प्रकार हानि-वृद्धि रूप अनन्त अगुरुलघु गुण रूप परिणमन करते हैं । अनंतानंत आत्मिक सुख का भोग करते हैं, स्वाद लेते हैं पर तृप्त नहीं होते हैं अथवा अत्यन्त तृप्त हो रहे हैं । अब कुछ भी इच्छा (चाह) बाकी नहीं रही है । कृत्यकृत्य हो चुके हैं, जो कार्य करना था वह कर चुके हैं ।

परमात्म देव और कैसे हैं ? जिनके स्वभाव से ज्ञानामृत रूप रस झर रहा है, उसमें स्वसंवेदन के द्वारा आनन्द रस की धारा उछल रही है तथा उछल कर अपने स्वभाव में ही लीन हो जाती है । अथवा जिसप्रकार शक्कर की डली जल में घुल जाती है उसीप्रकार उपयोग स्वभाव में घुल गया है, वापस बाहर निकलने में असमर्थ है । निज परिणति (अपने स्वभाव) में रमण करते हैं । एक ही समय में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रहते हैं । पर-परिणति से भिन्न अपने ज्ञान स्वभाव में तथा ज्ञान परिणति में प्रवेश किया है, ऐसे एकमेक (घुलमिल) होकर अभिन्न परिणमन करते हैं । ज्ञान में तथा परिणति में द्वैत को स्थान नहीं रहा ऐसा अद्भुत कौतुहल सिद्ध स्वभाव में होता है ।

सिद्ध और कैसे हैं ? **अत्यन्त गंभीर हैं तथा उदार हैं,** उनका स्वभाव उत्कृष्ट है ।

सिद्ध और कैसे हैं ? आकुलता रहित हैं, **अनुपम हैं,** बाधा रहित हैं, स्वरस से पूर्ण हैं, ज्ञानानन्द से हर्षित हैं अथवा सुख **स्वभाव में मग्न हैं** ।

सिद्ध और कैसे हैं ? अखंड हैं, अजर हैं, अविनाशी **हैं, निर्मल हैं,** चेतना स्वरूप हैं, शुद्ध ज्ञान मूर्ति हैं, ज्ञायक हैं, वीतराग हैं, **सर्वज्ञ हैं** – तीन काल सम्बन्धी सर्व चराचर पदार्थों की सर्व द्रव्य-गुण-**पर्यायों** को

एक समय में युगपत जानते हैं । सहजानन्द हैं, सर्व कल्याण के पुंज हैं, तीन लोकों द्वारा पूज्य हैं, उनका सेवन करने से सर्व विघ्न दूर हो जाते हैं । श्री तीर्थंकर देव (मुनि पद की दीक्षा लेते समय) उनको नमस्कार करते हैं, इसलिये मैं भी बारम्बार दोनों हाथों को मस्तक से लगाकर नमस्कार करता हूँ ।

किसलिये नमस्कार करता हूँ ? उनके जैसे गुणों की प्राप्ति के लिये (नमस्कार करता हूँ)।

सिद्ध भगवान और कैसे हैं ? देवाधिदेव हैं । यह देव संज्ञा सिद्ध भगवान को ही शोभित होती है । शेष चार परमेष्ठियों की 'गुरु' संज्ञा है ।

सिद्ध परमेष्ठि और कैसे हैं ? सर्व तत्वों को प्रकाशित करते हुये भी ज्ञेय रूप परिणमित नहीं होते हैं, अपने स्वभाव रूप ही रहते हैं । ज्ञेय को मात्र जानते ही हैं ।

कैसे जानते हैं ? जैसे ये समस्त ज्ञेय पदार्थ मानों शुद्ध ज्ञान में डूब गये हैं, या मानों प्रतिबिंबित हुये हैं, या मानो ज्ञान में निर्माण किये (बनाये) गये हैं ।

सिद्ध महाराज और कैसे हैं ? शान्त रस से उनके (आत्मा के) असंख्यात प्रदेश भरे हैं तथा ज्ञान रस से आल्हादित हैं । शुद्धात्मा रूपी परमरस को ज्ञानांजुली में भर कर पीते हैं ।

सिद्ध और कैसे हैं ? जैसे चन्द्रमा के विमान से अमृत झरता है तथा अन्य लोगों को आल्हाद, आनन्द उत्पन्न करता है, आताप को दूर करता है उसीप्रकार श्री सिद्ध महाराज स्वयं तो ज्ञानामृत पीते हैं अथवा आचरते हैं एवं औरों को आल्हाद आनन्द उत्पन्न करते हैं ।

उनके नाम, स्तुति और ध्यान से जो भव्य जीव है, उनका आताप दूर हो जाता है, परिणाम शान्त हो जाते हैं तथा स्व-पर की शुद्धता होती है । उन्हें (भव्य जीवों को) निज स्वरूप की प्रतीति आ जाती है । ऐसे सिद्ध

भगवान को पुन: नमस्कार हो, ऐसे सिद्ध भगवंत जयवंत प्रवर्ते, मुझे संसार समुद्र से निकालें तथा संसार समुद्र में गिरने से रोकें (बचावें)। मेरे अष्ट कर्मो का नाश करें, मुझे कल्याण के कर्त्ता होवें, मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति दें, मेरे हृदय में निरन्तर वास करें तथा मुझे स्वयं जैसा बनावें। सिद्ध भगवान और कैसे हैं ? जिनके जन्म मरण नहीं है, शरीर नहीं है, उनका विनाश नहीं है संसार में पुन: आगमन नहीं है, जिनके असंख्यात प्रदेश ही ज्ञान के आधार हैं।

सिद्ध भगवान और कैसे हैं ? अनन्त गुणों की खान हैं, अनन्त गुणों से पूरे भरे हैं अत: अवगुणों को आने के लिये स्थान नहीं रहा हैं। इसप्रकार सिद्ध परमेष्ठि की महिमा का वर्णन कर स्तुति की।

जिनवाणी की स्तुति

जिनवाणी का उद्‌गम :– आगे सरस्वती अर्थात जिनवाणी की महिमा स्तुति करते हैं। जिसे हे भव्य ! तू सुन।

जिनवाणी कैसी है ? जिनेन्द्र के हृदय रूपी सरोवर से उत्पन्न हुई है तथा वहां से आगे चली और चल कर जिनेन्द्र के मुखारविंद से निकली तथा गणधर देवों के कानों में जा कर गिरी, गिर कर वहां से आगे चलकर गणधर देवों के मुखारविंद से निकली। निकल कर आगे चलते चलते ये धारा श्रुतसिंधु में जा मिली।

भावार्थ:– यह जिनवाणी गंगा नदी की उपमा को धारण करती है। जिनेन्द्र देव की वाणी कैसी है ? स्याद्वाद लक्षण से अंकित है तथा दया रूपी अमृत से भरी है एवं चन्द्रमा के समान उज्जवल है तथा निर्मल है। जिसप्रकार चन्द्रमा की चांदनी चन्द्रवंशी कमलों को प्रफुल्लित करती है तथा सर्व जीवों के आताप को हरती है उसीप्रकार ये जिनवाणी भव्य जीवों रूपी कमलों को प्रफुल्लित करती है, आनन्द उपजाती है तथा भव आताप को दूर करती है।

सरस्वती और कैसी है? जगत की माता है, सर्व जीवों को हितकारी है, परम पवित्र है । पुनः कुवाद रूपी हाथी को विदीर्ण करने अथवा परिहार करने के लिये वाद ऋद्धि के धारी महामुनि रूपी शार्दूल सिंह की माता है ।

जिन प्रणीत वाणी और कैसी है ? अज्ञान अंधकार का नाश करने के लिये जिनेन्द्र देव रूपी सूर्य की किरण है। ज्ञानामृत की धारा बरसाने के लिये मेघमाला है, इत्यादि अनेक महिमाओं को धारण करती है । ऐसी जिनवाणी को मेरा नमस्कार हो । यहां मैंने स्वरूपानुभवन का विचार किया है, वह इस कार्य की सिद्धि ही है । इसप्रकार जिनवाणी की स्तुति और महिमा का वर्णन किया ।

निर्ग्रन्थ गुरु की स्तुति

आगे निर्ग्रन्थ गुरु की महिमा स्तुति करते हैं । जिसे हे भव्य ! तू सावधान होकर भली प्रकार सुन।

निर्ग्रन्थ गुरु कैसे हैं ? उनका चित्त दयालु है, स्वभाव वीतराग है, तथा प्रभुत्वशक्ति से आभूषित हैं। जिसप्रकार राजपुत्र बालक नग्न निर्विकार शोभित होता है तथा सर्व मनुष्यों को एवं स्त्रियों को प्रिय लगता है तथा मनुष्य और स्त्रियाँ उसके रूप को देखना चाहती हैं एवं आलिंगन करती हैं फिर भी स्त्री के परिणाम निर्विकार ही रहते हैं , सरागता आदि को (यहां मुख्यतः काम भाव से अर्थ है) प्राप्त नहीं होते हैं, उसीप्रकार जिनलिंग के धारी मुनि बालक के समान निर्विकार शोभित होते हैं। सर्वजनों को प्रिय लगते हैं, सब स्त्री-पुरुष मुनियों के रूप को देख-देख कर तृप्त नहीं होते हैं अथवा वे निर्ग्रन्थ नहीं हुये हैं परन्तु अपने निर्विकार आदि गुणों को ही प्रकट कर रहे हैं ।

शुद्धोपयोगी मुनि का स्वरूप :- शुद्धोपयोग मुनि ध्यानारूढ हैं तथा आत्म स्वभाव में स्थित हैं । ध्यान के बिना एक क्षण मात्र भी गवाते

नहीं हैं । कैसी स्थिति है ? नासाग्र दृष्टि धारण करके अपने स्वरूप को देखते हैं । जिसप्रकार गाय बछडे को देख-देख कर तृप्त नहीं होती है, निरन्तर गाय के हृदय में बछडा ही निवास करता है, उसीप्रकार शुद्धोपयोगी मुनि अपने स्वरूप को क्षण मात्र के लिये भी नहीं भूलते हैं । गाय-बछडे के समान निज-स्वभाव से वात्सल्य किये हैं, अथवा जो अनादिकाल से (उनका) अपना स्वरूप खोया हुआ है उसे ढूंढते हैं अथवा ध्यान अग्नि के द्वारा कर्म-ईंधन को अभ्यन्तर गुप्त रूप से जलाते हैं ।

नगर आदि को छोडकर वन में जाकर नासाग्र दृष्टि धारण कर ज्ञान सरोवर में बैठ सुधा अमृत का पान करते हैं, अथवा सुधा-अमृत में केली करते है, ज्ञान समुद्र में डूब गये हैं। संसार के भय से डरकर अभ्यन्तर में अमूर्तिक पुरुषाकार ज्ञानमयमूर्ति चैतन्य देव का सेवन करते हैं अथवा सब अशरण जानकर चैतन्य देव की शरण को प्राप्त हुये हैं । ऐसा विचारते हैं - भाई ! मुझे तो एक चैतन्य धातुमय ज्ञायक महिमा धारण किये पुरुष अर्थात परमदेव ही शरण हैं, अन्य शरण नहीं हैं, ऐसा मेरा नि:संदेह श्रद्धान है ।

देव-पूजा

(मुनि द्वारा भाव पूजा)

पश्चात सुधामृत से चैतन्य देव के कर्म-कलंक को धोकर स्नपन अर्थात प्रक्षालन करते हैं, फिर मग्न होकर उनके सन्मुख ज्ञान-धारा का क्षेपण करते हैं । फिर निज-स्वभाव रूपी चन्दन से उनकी चर्चा अर्थात पूजा करते हैं । अनन्त गु ण रूपी अक्षतों को उनके आगे क्षेपण करते हैं । फिर सुमन अर्थात भले मन रूपी आठ पंखुडियों से संयुक्त पद्म (कमल) पुष्प को उनके आगे चढाते हैं तथा ध्यान रूपी नैवेद्य उनके सम्मुख करते हैं । ज्ञान रूपी दीप को उनके सन्मुख प्रकाशित करते हैं, मानो ज्ञान दीप से चैतन्य देव (स्वयं के आत्म) स्वरूप का अवलोकन करते हैं । फिर ध्यान

रूपी अग्नि में कर्म रूपी धूप को उदार मन से बहुत-बहुत मात्रा में शीघ्रता से भली प्रकार जलाते हैं । फिर उसी में निजानन्द रूपी फल को भलीभांति प्राप्त करते हैं । इसप्रकार अष्ट द्रव्य से पूजन करते हैं ।

किसलिये पूजन करते हैं ? मोक्ष सुख की प्राप्ति के लिये (पूजन करते हैं) ।

शुद्धोपयोगी मुनि और कैसे हैं ? स्वयं तो शुद्ध स्वरूप में लग गये हैं, मार्ग में कोई भोला जानवर उन्हें काठ का ठूंठ (पेड की सुखी लकडी) जानकर उनके शरीर से खाज खुजाते हैं, फिर भी मुनिराज का उपयोग स्वभाव से चलायमान नहीं होता है, निज स्वभाव में ऐसे रत हुए हैं । हाथी, सिंह, सुअर, व्याघ्र, मृग, गाय इत्यादि बैर भाव को छोडकर सन्मुख खडे होकर नमस्कार करते हैं तथा अपने हित के लिये मुनिराज के उपदेश की चाह रखते हैं । मुनिराज द्वारा ज्ञानामृत का आचरण करने से (मुनिराज के ही) नेत्रों से अश्रुधारा बहकर (मुनिराज की) अंजुली में पडती है , तथा पडते-पडते अंजुली भर जाती है, जिसे चिडिया, कबूतर आदि भोले पक्षी जल जानकर रुचि पूर्वक पी लेते हैं। ये अश्रुपात नहीं बह रहा है, मानो आत्मिक रस झर रहा है । वह आत्मिक रस अन्दर समाया नहीं है अत: बाहर निकल पडा है । अथवा मानो कर्म रूपी बैरी को ज्ञान रूपी खडग से संहारा है, जिसका रुधिर उछल कर बाहर निकला है ।

शुद्धोपयोगी मुनि और कैसे हैं ? अपने ज्ञान रस से तृप्त हैं, अत: बाहर निकलने में असमर्थ हैं । कदाचित पूर्व वासना के कारण (अपने स्वरूप से) बाहर निकलते हैं तो उन्हें यह जगत इन्द्रजाल के समान भासित होता है, फिर तत्काल ही स्वरूप में चले जाते हैं । इससे आनन्द रस उत्पन्न होता है, जिससे शरीर की ऐसी दशा होती है कि रोमांच ही होता है तथा गद-गद शब्द होता है । कभी तो जगत के जीवों को (उनकी) मुद्रा उदासीन प्रतीत होती है, तथा कभी मानों निधि मिल गयी हो ऐसी हंसमुख मुद्रा प्रतिभासित होती है । मुनियों की ये दोनों दशायें अत्यन्त

शोभित होती हैं । मुनि तो ध्यान में डूबे सौम्य दृष्टि को धारण किये हैं तथा नगर के राजा आदि उनकी वंदना करने आते हैं ।

ये मुनि कहां विराजमान रहते हैं ? या तो श्मशान भूमि में या निर्जन पुराने वन में अथवा पर्वत आदि की गुफा कंदरा अथवा पर्वत के शिखर पर या नदी के किनारे अथवा उजाड भयानक अटवी में या एकांत वृक्ष के नीचे अथवा बस्ती में अथवा नगर के बाहर चैत्यालय में इत्यादि रमणीक जो मन को (अपने स्वरूप में) लगाने में कारण हो तथा उदासीनता के लिये कारण हो, ऐसे स्थान में स्थित होते हैं । जैसे कोई अपनी निधि को छुपाता फिरे तथा एकांत स्थान में रहा चाहे वैसे ही महामुनि अपनी ज्ञान ध्यान रूपी निधि को छुपाते फिरते हैं एवं एकान्त में ही उसका अनुभव करना चाहते हैं ।

ऐसा विचार करते हैं कि मेरी ज्ञान ध्यान निधि कहीं चली न जावे तथा मेरे ज्ञान के उपभोग में अन्तर न पड जावे, इसलिये महामुनि दुर्गम स्थानों में बसते हैं । जहां मनुष्य का संचार नहीं होता वहां बसते हैं । मुनिराज को पर्वत, गुफा, नदी, मसान, वन आदि ऐसे लगते हैं मानों ध्यान-ध्यान ही पुकार रहे हों ।

क्या कह कर पुकारते हैं ? कहते हैं – आओ-आओ, यहां ध्यान करो, ध्यान करो, निजानन्द स्वरूप में विलास करो । आपका उपयोग स्वरूप में बहुत लगेगा, अत: और विचार मत करो – ऐसा कहते हैं ।

तथा शुद्धोपयोगी मुनि जहां बहुत हवा चलती हो, बहुत धूप हो, बहुत मनुष्यों का संचार हो वहां जबरदस्ती (बल पूर्वक) नहीं बसते हैं। क्यों नहीं बसते हैं ? मुनिराजों का अभिप्राय एक ज्ञान अध्ययन का ही होता है, जहां ज्ञान अध्ययन बहुत बड़े (होना संभव हो वहीं) पर बसते हैं । कोई ऐसा जाने कि मुनि सर्व प्रकार ऐसे दुर्गम स्थानों पर ही बसते हैं, सदैव चाह कर परिषह सहते हैं तथा इतना दुर्धर तपश्चरण करते हैं, सदैव ध्यान में ही रहते हैं, परन्तु ऐसा तो है नहीं । कारण कि मुनिराजों को बाह्य

क्रिया से तो प्रयोजन है नहीं तथा जो अठाईस मूलगुणों को ग्रहण किया है उनमें अतिचार लगाते नहीं हैं। इसके उपरान्त भी जो क्रिया सहन (पालन) करते हैं वह उपयोग लगाने के अनुसार (जैसे ज्ञान में उपयोग अधिक लगे वैसे) ही करते हैं।

उसी का कथन करते हैं – यदि भोजन से शरीर को प्रबल होता जानते हैं तो ऐसा विचार करते हैं कि यह शरीर प्रबल होगा तो प्रमाद को उत्पन्न करेगा, इसलिये एक-दो दिन भोजन का त्याग करना ही उचित है। यदि भोजन का त्याग करने से शरीर को क्षीण होता जानते हैं तो ऐसा विचार करते हैं कि यह शरीर क्षीण होगा तो परिणामों को शिथिल करेगा तथा परिणाम शिथिल होंगे तो ध्यानाध्ययन नहीं सधेगा, शरीर से हमें बैर तो है नहीं, अत: (ऐसा नहीं विचारते कि) जो हो सो हो इसे क्षीण ही करूंगा, इस शरीर से हमें राग भी नहीं है जिसके कारण इसका पोषण करते रहें। क्योंकि मुनिराजों को शरीर से राग-द्वेष का अभाव है अत: जिससे मुनिराज का ध्यानाध्ययन सधे वह ही करते हैं।

इस ही कारण मुनि महाराज पवन, गर्मी, कोलाहल, शब्द एवं मनुष्यों आदि के गमन के स्थानों में प्रयत्न करके बैठते नहीं। वहां बसते हैं जहां ध्यानाध्ययन से परिणाम च्युत न हों। इसमें अन्तराय (विघ्न) पड़ने के जो भी कारण हों उन कारणों को दूर से ही त्यागते हैं। वे स्वयं ध्यान में बैठे हों तथा कोई ध्यान का अकारण (विघ्न डालने वाला कारण) आ प्राप्त हो तो ध्यान को छोड़कर उठ कर नहीं जाते हैं। शीतकाल में जल के किनारे ध्यान करते हैं अथवा ग्रीष्म काल में शिला के ऊपर अथवा पर्वत के शिखर पर ध्यान करते हैं अथवा वर्षाकाल में वृक्षों के नीचे ध्यान करते हैं वह अपने परिणामों की शुद्धता के अनुसार ही करते हैं। परिणाम अत्यन्त विरक्त हों तो ऐसे (उपरोक्त) स्थान पर जाकर ध्यान करते हैं, अन्यथा अन्य स्थान पर जहां मन (ध्यान में) लगे वहां ध्यान धारण करते हैं। सन्मुख आए उपसर्ग को छोडकर नहीं जाते हैं।

मुनियों की वृत्ति सिंह के समान है तथा मुनियों के परिणाम ध्यान में स्थिर रहते हैं तब तक ध्यान छोडकर अन्य कार्य का विचार नहीं करते । जब ध्यान से परिणाम उतरते हैं तब शास्त्राभ्यास करते हैं अथवा औरों (शिष्य आदि) को (शास्त्राभ्यास) कराते हैं । जिनवाणी के अनुसार ही जो ग्रन्थ हों उनका अवलोकन करते (उपलक्षण से लिखते बनाते) हैं । यदि शास्त्राभ्यास करते-करते भी परिणाम (ध्यान में) लग जावें तो शास्त्राभ्यास छोडकर भी ध्यान में लग जाते हैं क्योंकि शास्त्राभ्यास से भी ध्यान का फल बहुत अधिक है । नीचे के छोटे कार्यों को छोडकर ऊंचे कार्य में लगना उचित ही है । फिर भी ध्यान में उपयोग की स्थिरता थोड़ी होती है तथा शास्त्राभ्यास में उपयोग की स्थिरता बहुत रहती है, अत: मुनि महाराज ध्यान भी धरते हैं और शास्त्र भी पढ़ते हैं तथा उपदेश भी देते हैं । स्वयं गुरु से पढ़ते हैं, औरों को पढ़ाते हैं अथवा चर्चा करते हैं । मूल ग्रन्थ के अनुसार अपूर्व (नया) ग्रन्थ बनाते हैं ।

मुनि का आहार विहार :- नगर से नगरान्तर (दूसरे नगर) को विहार (गमन) करते हैं, अथवा देश से देशान्तर को गमन करते हैं । भोजन के लिये नगर आदि में भी जाते हैं, वहां पडगाहे (शास्त्राक्त विधि पूर्वक ग्रहस्थ द्वारा अपने घर में प्रवेश करने की प्रार्थना किये) जाने पर उच्च क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मण कुल में नवधा भक्ति सहित छियालीस दोषों, बत्तीस अन्तरायों को टाल कर खडे-खडे एक बार कर-पात्र (हाथ) ही में आहार लेते हैं । इत्यादि शुभ कार्यों में प्रवर्तन करते हैं । मुनि उत्सर्ग मार्ग को छोडकर परिणामों की निर्मलता के लिये अपवाद मार्ग को भी आदरते हैं तथा अपवाद मार्ग को छोडकर उत्सर्ग मार्ग को भी ग्रहण करते हैं । उत्सर्ग मार्ग तो कठिन होता है तथा अपवाद मार्ग सुगम होता है तो मुनियों को ऐसा हट नहीं होता कि हमें तो कठिन का ही आचरण आचरना (ग्रहण करना) है, अथवा सुगम आचरण को ही आचरना है ।

भावार्थ :- मुनियों के तो परिणामों का ही महत्व है, बाह्य क्रिया से प्रयोजन नहीं है । जिस प्रवृत्ति से परिणामों में विशुद्धि की वृद्धि हो तथा ज्ञान का क्षयोपशम बढ़े वही आचरण करते हैं । ज्ञान वैराग्य आत्मा का निज लक्षण है उसी को चाहते हैं ।

अब मुनिराज कैसे (कहां) ध्यान में स्थित होते हैं और कैसे विहार करते हैं तथा कैसे राजा आदि आकर कैसे (उनकी) वंदना करते हैं, वह कहते हैं । मुनि तो वन में अथवा श्मशान में अथवा पर्वत की गुफा में अथवा पर्वत के शिखर पर अथवा शिला पर ध्यान करते हैं तथा नगर आदि से राजा अथवा विद्याधर अथवा देव वंदना के लिये आते हैं, मुनि को ध्यान अवस्था में देखकर दूर से ही नमस्कार कर वहां ही खडे रह जाते हैं ।

कुछ पुरुषों को ऐसी इच्छा होती है कि कब मुनिराज का ध्यान खुले और कब मैं निकट जाकर प्रश्न करूं अथवा (उनका) उपदेश सुनकर प्रश्न (मन की शंका) का उत्तर (समाधान) पाऊं तथा अतीत अनागत की पर्यायों को जानूं, इत्यादि अनेक प्रकार के स्वरूप को गुरु के मुख से जानना चाहते हैं तथा कई पुरुष खडे-खडे विचार करते हैं । कुछ पुरुष नमस्कार करके वापस लौट जाते हैं । कुछ ऐसा विचार करते हैं कि मैं मुनिराज का उपदेश सुने बिना घर जाकर क्या करूँगा? मैं तो मुनि के उपदेश के बिना अतृप्त हूँ तथा मुझे तो नाना प्रकार के संदेह हैं, एवं नाना प्रकार के प्रश्न हैं जिनका दयालु गुरु बिना अन्य कौन निवारण करेगा, इसलिये हे भाई ! मैं तो जब मुनिराज का ध्यान खुलेगा तब तक खडा ही हूँ ।

मुनिराज हैं वे तो परम दयालु हैं फिर भी वे अपने हित को छोडकर हमें उपदेश कैसे देंगे ? इसलिये मुनिराज को अपना आगमन मत जनाओ, वे कदाचित हमारे आगमन से ध्यान से विचलित हो जावेंगे तो हमें अपराध लगेगा, इसलिये चुपचाप ही रहो तथा कोई परस्पर ऐसा कहते हैं – हे भाई ! मुनिराजों की क्या दशा है ? काष्ट, पाषाण की मूर्ति की

तरह अचल हैं, नासाग्र दृष्टि धरे हैं, संसार से अत्यन्त उदासीन हैं, स्वयं के स्वरूप में अत्यन्त लीन हैं । इस आत्मिक सुख के लिये राज्य लक्ष्मी को सडे नि:सार तृण की तरह छोड दी है, तब इनके लिये अपनी क्या गिनती है ? तथा कोई ऐसा कहते हैं – हे भाई ! अपनी तो इन्हें क्या परवाह है यह सत्य है, परन्तु ये परम दयालु हैं महा उपकारी हैं, तारण-तरण में समर्थ हैं, इसलिये ध्यान खुलने पर अपना भी कार्य सिद्ध करेंगे ।

कुछ इसप्रकार कहते हैं – देखो भाई ! मुनिराज की कांति और देखो भाई ! मुनिराज का अतिशय तथा मुनिराज का साहस जो कांति के द्वारा दसों दिशाओं में उद्योत (प्रकाश) किया है , तथा (उनके) अतिशय के प्रभाव से मार्ग के सिंह, हाथी, व्याघ्र, रीछ, चीता, मृग इत्यादि बैरभाव छोडकर मुनिराज को नमस्कार कर पास-पास बैठे हैं । मुनिराज का साहस ऐसा है कि ऐसे क्रूर जानवरों की प्राप्ति (मिल जाने) का भय होते हुये भी इस उद्यान में बिराजमान हैं तथा ध्यान से क्षण मात्र भी चलायमान नहीं हैं, उल्टा क्रूर जानवरों को भी ऐसा मोह लिया है ।

यह बात न्याय की ही है कि जैसा निमित्त मिलता है, वैसा ही कार्य उत्पन्न होता है, इस ही से मुनिराजों की शान्ति को देखकर क्रूर जानवर भी शान्ति को प्राप्त हुये हैं तथा कुछ (लोग) ऐसा कहते हैं कि हे भाई ! मुनियों का साहस अद्भुत है कौन जाने ध्यान खुले न खुले , इसलिये यहां से नमस्कार कर घर चलो फिर आवेंगे । कोई उसका ऐसा उत्तर देते हैं, हे भाई ! अभी क्या जल्दी लग रही है । श्री गुरु की वाणी रूपी अमृत को पीये बिना ही घर जाने में क्या सिद्धि है । तुम्हें तो घर अच्छा लगता है, हमें तो लगता नहीं । हमें तो मुनिराजों के दर्शन उत्कृष्ट प्रिय लगते हैं । मुनिराज का ध्यान अब खुलेगा, बहुत देर हो चुकी है , इसलिये कोई विकल्प मत करो । अन्य कोई ऐसा कहता है, हे भाई ! आपने यह अच्छा कहा, आपको अत्यन्त अनुराग है । (ऐसे) श्रावक धन्य हैं ।

इसप्रकार परस्पर वार्तालाप हुये तथा (शिष्यजन) मन में विचार

करते रहे । इतने में ही मुनिराज का ध्यान खुला तथा उपयोग के बाहर आ जाने से शिष्यजनों को देखने लगे । तब शिष्यजन कहने लगे, रे भाई ! परमदयालु मुनिराज हमारे पर दया करके सन्मुख अवलोकन कर रहे हैं, मानों हम लोगों को बुला ही रहे हैं, इसलिये अब सावधान होकर शीघ्र ही चलो, तथा चल कर अपना कार्य सिद्ध करो । अत: वे शिष्य मुनिराज के निकट जाकर श्री गुरु की तीन प्रदक्षिणा देकर युगल हाथों को मस्तक से लगाकर नमस्कार करते हुये मनिराज के चरण-कमल में मस्तक झुका कर नमस्कार कर चरणों की रज मस्तक पर लगा अपने को धन्य मानते हैं तथा न बहुत दूर, न बहुत नजदीक ऐसे विनय सहित खडे होकर हाथ जोडकर स्तुति करने लगते हैं ।

क्या स्तुति करते हैं ? हे प्रभो ! हे दयालु ! हे करुणानिधि ! हे परम उपकारी ! संसार समुद्र से तारने वाले, भोगों से परान्मुख, संसार से उदासीन, शरीर से निष्पृह तथा स्व-पर कार्य में लीन ऐसे ज्ञानामृत में लिप्त आप सदा जयवंत वर्ते । हमारे ऊपर प्रसन्न होवें । हे भगवान ! आपके अतिरिक्त हमारा और कोई रक्षक नहीं है, आप हमें संसार समुद्र से निकालें । संसार में पडे जीवों को आप ही आधार हैं, आप ही शरण हैं, अत: जिससे हमारा कल्याण हो वही करें । हमें आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, हम निर्बुद्धि हैं, विवेक रहित हैं, अत: विनय अविनय में समझते नहीं हैं । एक मात्र अपना हित चाहते हैं । जैसे बालक अपनी माता से प्रीति करके चाहे जैसे बोले, लड्डू आदि मांगे, फिर भी माता-पिता उसे बालक जान कर उससे प्रीति ही करते हैं तथा खाने के लिये मिष्ठ आदि उत्तम वस्तु निकाल कर देते हैं, वैसे ही हे प्रभो ! हम बालक हैं , आप माता-पिता हैं, अत: बालक जानकर हमें क्षमा करें, हमारी शंकाओं का समाधान करें, संदेहों का निराकरण करें जिससे हमारा अज्ञान अंधकार विलीन हो जावे, तत्व का स्वरूप भाषित हो, स्व-पर की पहचान हो, ऐसा उपदेश हमें दें ।

इसप्रकार वचनालाप करके शिष्यगण वापस चुपचाप होकर खडे ही रहते हैं । तब मुनिराज मिष्ट, मधुर, आत्महितकारी, कोमल अमृतमयी वचनों की पंक्ति से शिष्यजनों को उनके अभिप्राय के अनुसार पोषित करने लगते हैं।

कैसे वचन कहते हैं ? राजा को हे राजन ! देव को हे देव ! सामान्य पुरुष को हे भव्य ! हे वत्स ! तुम निकट भव्य हो, अब तुम्हारा संसार अल्प ही बाकी है, अत: अब तुम्हें यह धर्म रुचि उत्पन्न हुई है । अब तुम हमारे वचन ग्रहण करो, जो मैं तुम्हें जिनवाणी के अनुसार कहता हूं उसे चित्त देकर सुनो । यह संसार महा भयानक है । धर्म के अतिरिक्त इस संसार में कोई बन्धु या सहाय नहीं है , अत: एक धर्म ही का सेवन करो।

मुनिराज का ऐसा उपदेश पाकर यथायोग्य जिनधर्म ग्रहण करते हुये, मुनि के अथवा श्रावक के व्रत ग्रहण करते हुये अथवा कोई यथायोग्य कोई नियम प्रतिज्ञा लेते हुये, कोई अपने प्रश्नों का उत्तर सुनते हुये, कोई अपने संदेहों का निवारण करते हुये एवं नाना प्रकार के पुण्य का उपार्जन करते हुये ज्ञान की वृद्धि कर मुनिराज को फिर नमस्कार कर मुनिराज के गुणों का स्मरण करते हुये अपने-अपने स्थान को वापस जाते हैं ।

मुनियों के विहार का स्वरूप

यहां से आगे मुनियों के विहार के स्वरूप का कथन करते हैं । जैसे बन्धन हीन, स्वेच्छा से गमन करने वाला हाथी वन में गमन करता है, उसीप्रकार मुनि महाराज गमन करते हैं । हाथी भी धीरे धीरे सूंड को हिलाता हुआ, सूंड को भूमि से स्पर्श करता हुआ, सूंड को इधर-उधर फैलाता हुआ तथा धरती को सूंड से सूंघता हुआ निशंक निर्भय गमन करता है, उसीप्रकार मुनि महाराज भी धीरे धीरे ज्ञान दृष्टि से भूमि का शोधन करते हुये निर्भय, निशंक स्वेच्छा पूर्वक विहार कर्म करते हैं ।

मुनियों के भी नेत्रद्वार से ज्ञान दृष्टि धरती पर्यन्त फैली होती है । इनके यही (ज्ञान दृष्टि) सूंड (के समान) है, इसलिये हाथी की उपमा संभव हो

जाती है । (मुनिराज) गमन करते हुये जीवों की विराधना करना नहीं चाहते अथवा (आवश्यक न होने पर) गमन ही नहीं करते । भूली हुई (अपनी) निधि को ढूंढते जाते हैं (जैसे किसी व्यक्ति की कोई निधि भूल से कहीं गिर गयी हो तो वह उसे खोजने के लिये भूमि पर दृष्टि गडाये इधर-उधर देखता गमन करता है, उसीप्रकार मुनिराज भी उनके गमन करने में जीवों की विराधना न हो इसके लिये भूमि पर दृष्टि गडाये गमन करते हैं, ताकि कोई जीव उनके पांव के नीचे आकर कष्ट न पावे)।

यदि गमन करते-करते ही स्वरूप में लग जावें तो खडे रह जाते हैं, फिर उपयोग वापस नीचे आता है तब फिर गमन करते हैं । कभी एकांत में बैठकर आत्मध्यान करते हैं तथा आत्मिक रस पीते हैं।

मुनि का स्वरूप गुप्ति :– जैसे कोई क्षुधा से पीडित (अर्थात) प्यासा पुरुष ग्रीष्म समय में मिश्री की डली घुला शीतल जल (मिष्ट शीतल जल) अत्यन्त रुचि से अत्यन्त शीघ्र-शीघ्र पीता है और अत्यन्त तृप्त होता है, उसीप्रकार शुद्धोपयोगी महामुनि स्वरूपाचरण से अत्यन्त तृप्त हैं बार-बार उसी रस को चाहते हैं । उसे छोडकर किसी काल में पूर्व की वासना के कारण शुभोपयोग में लगते हैं तब ऐसा महसूस करते हैं कि मेरे ऊपर आफत आ गयी है, यह हलाहल विष जैसी आकुलता मुझसे कैसे भोगी जावेगी। अभी मेरा आनन्द रस चला गया है, मुझे फिर ज्ञानरस की प्राप्ति होगी या नहीं । हाय -हाय ! अब मैं क्या करूं, मेरा स्वभाव तो एक निराकुल बाधा रहित, अतीन्द्रिय, अनुपम सुरस पीने का है, वही हमें प्राप्त हो।

निज स्वरूप कैसे प्राप्त हो ? जैसे समुद्र में मग्न हुआ मच्छ बाहर नहीं निकलना चाहता तथा बाहर निकलने में असमर्थता महसूस करता है, उसीप्रकार मैं ज्ञान समुद्र में डूबकर फिर निकलना नहीं चाहता । एक ज्ञान रस को ही पिया करूं । आत्मिक रस के बिना अन्य किसी में रस नहीं।

सारे जगत की सामग्री चेतन रस के अभाव में जडत्व स्वभाव को लिये फीकी है, जैसे नमक के बिना की अलूनी रोटी फीकी लगती है। ऐसे ज्ञानी पुरुष कौन हैं जो ज्ञानामृत को छोडकर उपाधिरूप आकुलता सहित दु:ख को चाहे; कभी न चाहे। इसीप्रकार शुद्धोपयोगी महामुनि ज्ञानरस के लोभी, आत्मिक रस के आस्वादी निज स्वभाव से हटते हैं तब इस (उपरोक्त) प्रकार विलाप करते हैं।

आगे मुनियों के स्वरूप का और भी कथन करते हैं। वे महामुनि ध्यान क्या धरते हैं मानो केवली से या प्रतिमाजी से होड करते हैं। कैसी होड करते हैं ? भगवानजी आपके प्रसाद से मैने भी निज स्वरूप को प्राप्त कर लिया है, इसलिये अब मैंने निज स्वरूप का ही ध्यान किया है आपका ध्यान नहीं किया। आपका ध्यान करने की अपेक्षा मुझे निज स्वरूप का ध्यान करने में विशेष आनन्द आता है। मुझे अनुभव पूर्वक प्रतीति है तथा आगम में आपने भी ऐसा ही उपदेश दिया है।

हे भव्य जीवो ! कुदेवों को पूजोगे तो अनन्त संसार में भ्रमण करोगे, नरक आदि के दु:ख सहोगे तथा यदि हमें पूजोगे तो स्वर्ग आदि के मंद क्लेश सहोगे तथा यदि निज स्वभाव का ध्यान करोगे तो नियम से मोक्ष का सुख पाओगे। अत: भगवानजी ! हमने आपके ऐसे उपदेश के कारण ही आपको सर्वज्ञ, वीतराग जाना है तथा जो सर्वज्ञ वीतराग हैं वे ही सर्व प्रकार से जगत में पूज्य हैं - ऐसा आपका सर्वज्ञ वीतराग स्वरूप जानकर ही मैं आपको नमस्कार करता हूं।

सर्वज्ञ के बिना तो सर्व पदार्थो का स्वरूप नहीं जाना जा सकता तथा वीतरागता के बिना राग-द्वेष के वश यथार्थ उपदेश दिया नहीं जा सकता। (अन्य स्थानों पर) या तो अपनी सर्व प्रकार से निंदा का ही उपदेश है, या सर्व प्रकार अपनी बडाई महन्तता का उपदेश है। ये लक्षण तो भली प्रकार कुदेव आदि में ही संभव हैं। भगवानजी ! मैं भी (स्वभाव अपेक्षा अथवा उन कुदेवों की अपेक्षा) वीतराग हूं, अत: मैं अपने स्वरूप की

बडाई करता हूं, तो मुझे दोष नही हैं । एक राग-द्वेष ही से दोष होता है, आपके प्रसाद से मेरे राग-द्वेष विलय को प्राप्त हो गये हैं।

शुद्धोपयोगी महामुनि और कैसे हैं ? उनके लिये राग और द्वेष समान हैं, असत्कार और सत्कार समान हैं, उनके लिये रत्न और कोडी समान हैं तथा उनके लिये उपसर्ग और उपसर्ग रहित अवस्थायें समान हैं, उनके लिये शत्रु और मित्र समान हैं । किसप्रकार समान हैं ? वह बताते हैं।

पहले तो तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभ्रद, कामदेव, विद्याधर या बडे मंडलेश्वर मुकुटबद्ध राजा इत्यादि बडे महापुरुष मोक्ष-लक्ष्मी के लिये संसार, देह, भोग से विरक्त हो राज्यलक्ष्मी को अनुपयोगी सडे तिनके के समान छोडकर, संसार बंधन को हाथी के बंधन तोडने के समान तोडकर, वन में जाकर दीक्षा ग्रहण करते हैं, निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा स्वीकार करते हैं । फिर परिणामों के माहात्म्य से नाना प्रकार की ऋद्धियाँ (उन्हें) प्रकट होती हैं ।

मुनियों की ऋद्धि शक्ति :- कैसी है ऋद्धि कायबल ऋद्धि के बल से चाहे जितना छोटा या बडा शरीर बना लेते हैं, ऐसी सामर्थता होती है। वचनबल ऋद्धि के बल से द्वादशांग शास्त्रों का अन्तर्मुहूर्त मात्र में चिन्तवन कर लेते हैं । आकाश में गमन करते हैं । जल की सतह पर गमन करते हैं फिर भी जल के जीवों को जरा भी कष्ट नहीं होता । धरती में डूब जाते हैं पर पृथ्वीकाय के जीवों को कष्ट नहीं होता । कहीं विष बहता हो और वे शुभ दृष्टि से देखलें तो (वह विष) अमृत हो जाता है, पर मुनि महाराज ऐसा करते नहीं हैं ।

इसीप्रकार कहीं अमृत फैल रहा हो तथा मुनि महाराज क्रूर दृष्टि से देख लें तो (वह अमृत) विष हो जावे, पर ऐसा भी वे करते नहीं हैं । दया और शान्त दृष्टि से देखें तो कई योजन पर्यन्त के सब जीव सुखी हो जावें तथा दुर्भिक्ष आदि ईति-भीति के दु:ख मिट जावें। पर ऐसी शुभ ऋद्धि दया बुद्धि से फैले तो दोष नहीं है । यदि क्रूर दृष्टि से देखें तो कितने ही योजन के जीव भस्म होजावें, पर ऐसा करते नहीं ।

उनके शरीर का गंधोदक, नव द्वारों से निकलने वाला मल, चरणों की नीचे की धूल, शरीर का स्पर्श की हुई हवा (अन्य जीवों के) शरीरों को लगे तो लगते ही कोढ आदि सर्व प्रकार के रोग नियम से नष्ट हो जावें। महामुनिराज ने किसी गृहस्थ के घर में आहार किया हो तो उसके (घर बने) भोजन में नाना प्रकार की अटूट रसोई (भोजन सामग्री) हो जावे, उस दिन चक्रवर्ती की सारी सेना भी वहां भोजन करले तो भी भोजन सामग्री खत्म न हो, तथा चार हाथ की (अर्थात छोटी सी) रसोई के क्षेत्र में भी ऐसी अवगाहना शक्ति (स्थान देने की शक्ति) हो जावे कि चक्रवर्ती की सारी सेना उसमें स्थान प्राप्त करले तथा अलग-अलग बैठकर भोजन करले, तब भी स्थान की कमी न हो। जहां महामुनि आहार करलें उसके (गृहस्थ के) द्वार पर पंच आश्चर्य हों। इन पांच आश्चर्यों के नाम इस प्रकार हैं – (1) रत्नवृष्टि (2) पुष्प वर्षा (3) गंधोदक वृष्टि (4) जय जयकार (5) दुंदुभिवादन, ये पांच आश्चर्य जानना।

आहारदान का फल :– सम्यग्दृष्टि श्रावक मुनिराज को एक बार आहार दे तो वह (अगले भव में) कल्पवासी देव ही बने। मिथ्यादृष्टि एक बार मुनिराज को आहार दे तो उत्तम भोग भूमिया मनुष्य होकर बाद में परंपरा से मुक्ति प्राप्त करे। शुद्धोपयोगी मुनिराज को एक बार आहार देने का ऐसा फल होता है। मुनि मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ज्ञान के धारी होते हैं, इत्यादि अनेक प्रकार के गुणों से संयुक्त होने पर भी कोई नीच पुरुष आकर मुनिराज को गाली दे या उपसर्ग करे तो भी उस पर किंचित मात्र भी क्रोध नहीं करते, परम दयालु बुद्धि से उसका भला ही चाहते हैं, तथा ऐसा विचार करते हैं कि यह भोला जीव है, इसे अपने हित अहित का विवेक नहीं है। यह जीव इन परिणामों से बहुत दुःख पावेगा। हमारा तो कुछ बिगाड है नहीं, परन्तु यह मनुष्य संसार समुद्र में डूबेगा। इसलिये यदि हो सके तो समझा देना चाहिये – ऐसा विचार कर

हित, मित, दया अमृत से झरते ऐसे वचन, जो भव्य जीवों को आनन्दकारी हैं, से इसप्रकार (उसे) सम्बोधित करते हैं :–

हे पुत्र ! हे भव्य ! तू स्वयं के संसार समुद्र में मत डूबो । तुझे इन परिणामों का बुरा फल मिलेगा। तू निकट भव्य है तथा तेरी आयु भी तुच्छ शेष रही है, अत: अब सावधान होकर जिनप्रणीत धर्म को स्वीकार कर । इस धर्म के बिना तू अनादि काल से संसार में रुला है तथा नरक निगोद आदि नाना प्रकार के दु:ख सहे हैं, उन्हें तू भूल गया है।

श्री गुरु के ऐसे दयालु वचन सुनकर वह पुरुष संसार के भय से कंपायमान होता हुआ शीघ्र ही गुरु के चरणों में नमस्कार करता हुआ तथा अपने किये अपराध की निन्दा करता हुआ हाथ जोड कर ऐसे वचन कहता है – हे प्रभु ! हे दयासागर ! मुझ पर दया करो, क्षमा करो । हाय हाय ! अब मैं क्या करूं, मेरी इस पाप से कैसे निर्वृत्ति होगी । मेरे कौनसे पाप का उदय आया है कि मुझे यह खोटी बुद्धि उत्पन्न हुई । बिना अपराध ही मैने मुनिराज पर उपसर्ग किया । जिनके चरणों की सेवा इन्द्र आदि को भी दुर्लभ है, उन परम उपकारी, त्रैलोक्य द्वारा पूज्य पर मुझ रंक ने क्या जानकर उपसर्ग किया । हाय-हाय ! अब मेरा क्या होगा, मैं किस गति में जाऊंगा ? इत्यादि वह पुरुष बहुत विलाप करते हुये हाथ रगडते हुये बारम्बार मुनिराज के चरणों में नमस्कार करता है ।

जैसे कोई नदी में डूबता पुरुष जहाज का अवलम्बन प्राप्त कर ले वैसे ही (वह पुरुष) गुरु के चरणों का अवलम्बन करता हुआ यह निश्चय जानता है कि अब तो मुझे एक इन्हीं की शरण है, अन्य की शरण नहीं, इस अपराध से बचना तो इन्हीं के चरणों की सेवा से है अन्य कोई उपाय नहीं, मेरे दु:ख दूर करने में ये ही समर्थ हैं । इस पुरुष की धर्म बुद्धि देख कर श्री गुरु फिर कहते हैं – हे पुत्र ! हे वत्स ! तू डर मत, तेरे संसार का अन्त निकट आ गया है, इसलिये अब तू धर्मामृत रसायन का पान कर तथा जन्म-मरण के दु:ख का नाश कर ।

इसप्रकार के अमृतमय वचनों से उस पुरुष को धैर्य देते हैं, जैसे गर्मी के समय में मुरझाई वनस्पति को मेघ पोषित करते हैं, उसीप्रकार पोषित करते हैं। महापुरुषों का तो यह स्वभाव ही है कि अगुण (दुष्टों) पर भी दया ही करते हैं तथा दुर्जन पुरुषों का यह स्वभाव ही है कि गुणी पर भी दुष्टता ही करें। ऐसे (ऊपर वर्णित गुणों वाले) मुनिगण तारने में समर्थ क्यों न हों ? हों ही हों।

मुनिराज की आहार क्रिया

मुनिराज की आहार क्रिया में पांच प्रयोजन (अथवा विशेषतायें) होते हैं –

गोचरी :– पहली तो गोचरी है। जैसे गाय को रंक या पुण्यवान कोई भी पुरुष घास आदि डाले तो उसे तो चरने (खाने मात्र) से ही प्रयोजन है, डालने वाले पुरुष से कोई प्रयोजन नहीं होता, उसीप्रकार मुनिराज को चाहे तो रंक (दरिद्र) पडगाह कर आहार दे अथवा राजा आदि पडगाह कर आहार दें, उन्हें तो आहार लेने मात्र से ही प्रयोजन है, (दाता) पुरुष रंक है या पुण्यवान है इससे उन्हें कोई प्रयोजन नहीं होता।

भ्रामरी :– दूसरी (विशेषता) भ्रामरी है। जैसे भंवरा उडता हुआ फूल की गंध लेता है पर फूल को कोई हानी नहीं पहुंचाता, उसीप्रकार मुनिराज गृहस्थ से आहार लेते हैं, पर गृहस्थ को रंच मात्र भी खेद उत्पन्न नहीं होता।

दाहशमन :– तीसरी (विशेषता) दाहशमन है। जैसे आग लगी हो उसे जिस तिस (किसी भी) प्रकार बुझा देना होता है, उसीप्रकार मुनिराज को उदराग्नि (भूख) रूपी आग लगी हो, तो उसे जैसा तैसा (सरस - नीरस) आहार मिले उसी से उसे बुझा लेते हैं, अच्छे-बुरे स्वाद से प्रयोजन नहीं है।

अक्षमृक्षण :– चौथी (विशेषता) अक्षमृक्षण कही जाती है। जैसे गाडी (धुरी में) चिकनाई बिना चलती नहीं है, उसीप्रकार मुनिराज यह

जानते हैं कि यह शरीर आहार के बिना चलता नहीं, शिथिल होगा। परन्तु हमें इससे मोक्ष स्थान पर पहुंचने का काम लेना है, इसलिये इसे आहार दे कर इसके सहयोग से संयम आदि गुणों को एकत्रित कर मोक्ष स्थान पहुंचना है।

गर्तपूर्ण :– पांचवीं (विशेषता) गर्तपूर्ण कही जाती हैं। जैसे किसी पुरुष के खाई–खाद आदि गड्ढा खाली हो गया हो तो वह पुरुष उसे पत्थर, मिट्टी, ईंट आदि डाल कर भरना चाहता है, उसीप्रकार मुनिराज के निहार आदि के कारण उदर रूपी गड्ढा खाली हो जाने पर जिस तिस (परन्तु उनके भक्ष्ण योग्य) आहार द्वारा उसे भरते हैं।

इसप्रकार पांच प्रकार अभिप्राय जानकर वीतरागी मुनिराज शरीर की स्थिरता के लिये आहार लेते हैं। शरीर की स्थिरता से परिणामों की स्थिरता होती है। मुनिराजों को तो परिणाम बिगडने सुधरने का ही निरन्तर उपाय रहता है। जिसप्रकार राग–द्वेष उत्पन्न न हों, उसी क्रिया रूप प्रवर्तते हैं, अन्य प्रयोजन नहीं है।

नवधा भक्ति

ऐसे शुद्धोपयोगी मुनिराजों को गृहस्थ दातार सात गुणों से संयुक्त होकर नवधा (नव प्रकार की) भक्ति करके आहार देते हैं, वह कहते हैं –

(1) प्रतिग्रहण :– पहले तो मुनिराज को पडगाहना (का आवाहन करना)। (2) उच्च आसन :– फिर उच्च स्थान पर मुनिराज को स्थापित करना (बैठाना)। (3) पादोदक :– फिर पादोदक अर्थात मुनिराज के चरण कमलों का प्रक्षालन करना, वही (प्रक्षालन का जल) हुआ गंदोदक, उसे अपने मस्तक आदि उत्तम अंगों पर कर्मों के नाश के लिये लगाना तथा अपने का धन्य मानना अथवा कृतकृत्य मानना। (4) अर्चना :– फिर अर्चना अर्थात मुनिराज की पूजा करना। (5) प्रणमन :– फिर प्रणमन अर्थात मुनिराज के चरणों को नमस्कार करना। (6) मनशुद्धि :–

फिर मनशुद्धि अर्थात प्रफुल्लित मन होना, महा हर्षायमान होना । (7) वचनशुद्धि :– फिर वचनशुद्धि अर्थात मिष्ट–मिष्ट वचन बोलना। (8) कायशुद्धि :– अर्थात विनयवान होकर शरीर के अंगोपांग को नम्रीभूत करना। (9) ऐषणा शुद्धि :– अर्थात दोष –रहित शुद्ध भोजन देना ।

नवधा भक्ति का ऐसा स्वरूप जानना ।

दातार के सात गुण

अब दातार के सात गुण बताते हैं (1) श्रद्धान होना, भक्तिवान होना, शक्तिवान होना, शांतियुक्त होना (2) मुनिराजों को आहार देकर लौकिक सुख की इच्छा नहीं करना (3) क्षमावान होना (4) कपट रहित होना (5) अधिक सयाना नहीं होना (अपने सयानेपन का प्रदर्शन करने वाला न हो) (6) विषाद रहित होना , हर्ष संयुक्त होना (7) अहंकार रहित होना। दातार के ये सात गुण जानना । ऐसा दातार ही स्वर्ग आदि का सुख भोग कर परम्परा से मोक्षस्थान तक पहुंचता है, तथा ऐसे शुद्धोपयोगी मुनि ही तरण–तारण हैं । (ऐसे) आचार्य, उपाध्याय, साधुओं के चरण–कमलों को मेरा नमस्कार हो, मुझे कल्याण के कर्त्ता होवें । भवसागर में गिरते को बचावें। इसप्रकार मुनियों के स्वरूप का वर्णन किया।

अतः हे भव्य ! यदि तू स्वयं के हित की वांछा रखता है तो ऐसे गुरुओं के चरणारविंद की सेवा कर तथा अन्य (कुगुरुओं) के सेवन को दूर से ही छोड। इसप्रकार गुरु के स्वरूप का कथन पूर्ण हुआ।

इसप्रकार आचार्य, उपाध्याय, साधु इन तीन प्रकार के गुरुओं का वर्णन किया, तीनों ही शुद्धोपयोगी हैं, इसलिये उनमें समानता है, विशेषता नहीं है । ऐसे गुरुओं की स्तुति की, नमस्कार किया तथा उनके गुणों का कथन किया।

आगे ज्ञानानन्द पूरित निर्भर–निजरस–श्रावकाचार नाम के शास्त्र को जिनवाणी के अनुसार तथा मेरी बुद्धि अनुसार निरूपण करूंगा ।

शास्त्र की महिमा

यह शास्त्र कैसा है ? क्षीर समुद्र की शोभा को धारण करता है। (क्षीर) समुद्र कैसा है ? अत्यन्त गंभीर है, निर्मल जल से भरा है, तथा अनेक तरंगों के समूह से व्याप्त है। उसके जल को श्री तीर्थंकर देव भी अंगीकार करते हैं। उसीप्रकार यह शास्त्र भी अर्थ में गंभीर है तथा स्वरूप के रस से पूर्ण भरा है वही इसका जल है। सर्व दोष रहित अत्यन्त निर्मल है, ज्ञान लहरों से व्याप्त है, इसका भी तीर्थंकर देव सेवन करते हैं। ऐसे शास्त्र को मेरा नमस्कार हो। किसलिये नमस्कार हो ? ज्ञानानन्द की प्राप्ति के लिये नमस्कार हो, अन्य कुछ प्रयोजन नहीं है।

आगे (ग्रन्थ) कर्त्ता स्वयं के स्वरूप को प्रकट करते हैं और अपना अभिप्राय बताते हैं। मैं कैसा हूं ? ज्ञान ज्योति से प्रकट हुआ हूँ, अत: ज्ञान को ही चाहता हूं। ज्ञान ही मेरा निज स्वरूप है, अत: ज्ञान अनुभवन से मुझे ज्ञान की प्राप्ति हो। मैं तो एक चैतन्य स्वरूप से उत्पन्न हुये शान्त रस को ही पीने का उद्यम करता हूँ, ग्रन्थ बनाने का अभिप्राय नहीं है। ग्रन्थ तो बडे-बडे पंडितों ने बहुत बनाये हैं, मेरी क्या बुद्धि है ?

पुन: इस विषय में बुद्धि की मंदता से अर्थ विशेष भासित नहीं होता, अर्थ विशेष भासित हुये बिना चित्त एकाग्र नहीं होता और चित्त की एकाग्रता के बिना कषाय गलती (नष्ट होती) नहीं, कषाय गले बिना आत्मिक रस उत्पन्न नहीं होता। आत्मिक रस उत्पन्न हुये बिना निराकुल सुख का भोग कैसे हो ? अत: ग्रन्थ के माध्यम से चित्त एकाग्र करने का उद्यम किया है। यह (ग्रन्थ बनाने का) कार्य तो बडा है तथा मैं योग्य नहीं हूँ, ऐसा मैं भी जानता हूँ। परन्तु ''अर्थी दोष न पश्यति'' अर्थात अर्थी पुरुष हैं वे शुभाशुभ कार्य का विचार नहीं करते, अपने हित को ही चाहते हैं।

मैं भी निज स्वरूपानुभवन का अत्यन्त लोभी हूँ, अत: मुझे भी अन्य

कुछ दिखाई नहीं देता है । मुझे तो एक ज्ञान ही ज्ञान सूझता है । ज्ञान के भोग बिना अन्य कुछ नहीं, अत: मैं अन्य सारे कार्यों को छोडकर ज्ञान की ही आराधना करता हूँ, ज्ञान की ही सेवा करता हूँ, ज्ञान की ही अर्चना करता हूँ तथा ज्ञान ही की शरण में रहना चाहता हूँ ।

मैं और कैसा हूँ? शुद्ध परिणति को प्राप्त हुआ हूँ, ज्ञानानुभूति से संयुक्त हूँ तथा ज्ञायक स्वभाव को लिये हुये हूँ । ज्ञानानन्द सहज रस का अभिलाषी तथा भोक्ता हूँ, ऐसा मेरा निज स्वभाव है । इसके अनुभवन का मुझे कुछ भय नहीं है, अपनी निज लक्ष्मी को भोगने वाले पुरुष को भय नहीं होता, उसी प्रकार मुझे अपने स्वभाव में गमन करने में भय नहीं है ।

यह बात न्याय पूर्ण ही है । अपने भाव को ग्रहण करने वाले को कोई दंड देने में समर्थ नहीं है । पर-द्रव्य का ग्रहण करने पर दाह प्राप्त होता है, इस कारण मैंने भी पर-द्रव्य का ग्रहण छोड दिया है, अत: मैं नि:शंक स्वच्छंद हुआ प्रवर्तन करता हूँ , मुझे कुछ भय नहीं है । जैसे शार्दुल सिंह को किसी जीव-जन्तु आदि बैरी (शत्रु) का भय नहीं होता, उसीप्रकार मुझे भी कर्म रूपी बैरी का भय नहीं है । ऐसा जानकर अपने इष्ट देवता को विनय पूर्वक नमस्कार करके आगे ज्ञानानन्द पूरित निर्भर-निजरस-श्रावकाचार नाम के ग्रन्थ का प्रारम्भ करता हूं ।

इति श्री स्वरूप-अनुभूति-लक्ष्मी से आभूषित मैं, जो सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी-आत्मा रूपी ज्ञायक परम पुरुष हूँ, के द्वारा रचित्त ज्ञानानन्द पूरित निर्भर-निजरस नामके शास्त्र में ''वंदन'' नामक अधिकार का अनुभवन पूर्वक वर्णन पूर्ण हुआ ।

—●—

द्वितीय अधिकार : श्रावक-वर्णनाधिकार

वंदित श्री जिनदेव पद कहूं श्रावकाचार ।
पापारंभ सबै मिटैं, कटे कर्म अघ-छार ।।

अपने इष्ट देव को नमस्कार करके सामान्यरूप से श्रावकाचार का कथन करता हूँ। सो हे भव्य, तू सुन ! श्रावक तीन प्रकार के होते हैं – (1) पाक्षिक (2) नैष्टिक (3) साधक । पाक्षिक श्रावक को देव-गुरु-धर्म की प्रतीति तो यथार्थ होती है, पर आठ मूलगुणों और सात व्यसनों में अतिचार लगते (हो सकते) हैं । नैष्टिक श्रावक के मूलगुणों तथा सात व्यसनों में अतिचार नहीं लगते हैं । उसके ग्यारह भेद होते हैं, जिनका वर्णन आगे करूंगा। साधक श्रावक अन्तिम समय में सन्यास मरण करता है ।

इसप्रकार ये तीनों श्रावक देव-गुरु-धर्म की प्रतीति सहित तथा सम्यक्त्व के आठ अंगों सहित हैं। उसके (सम्यक्त्व के आठ अंगों के) नाम कहता हूं – (1) निःशंकित (2) निःकांक्षित (3) निर्विचिकित्सा (4) अमूढदृष्टि (5) उपगूहन (6) स्थितिकरण (7) वात्सल्य (8) प्रभावना। ये आठ अंग हैं । इसके साथ ही सम्यक्त्व के आठ गुण भी होते हैं । उन (आठ गुणों) के नाम हैं – (1) करुणा (2) वात्सल्य (3) सज्जनता (4) आपनिंदा (5) समता (6) भक्ति (7) विरागता (8) धर्मानुराग ।

अब (सम्यक्त्व को) पच्चीस दोष लगते हैं उनके नाम कहता हूं – (1) जाति (2) लाभ (3) कुल (4) रूप (5) तप (6) बल (7) विद्या (8) अधिकार, इन आठ के गर्व से आठ तो मद जानना । (9) शंका (10) कांक्षा (11) जुगुप्सा (12) मूढदृष्टि (13) परदोष-भाषण (14) अस्थिरता (15) वात्सल्य रहित (16) प्रभावना रहित – ये आठ मल हैं,

जिन्हें सम्यक्त्व के आठ गुणों से विपरीत (उल्टे) जानना । (17) कुदेव (18) कुगुरु (19) कुधर्म (20 से 22) इन तीन के धारक (पूजकों) की सराहना करनेवाले – ये छह अनायतन तथा (23 से 25) देव- गुरु-धर्म, इन तीन में मूढता – इसप्रकार इन पच्चीस दोषों से रहित ऐसे निर्मल दर्शन (श्रद्धा) से युक्त तीन प्रकार के अर्थात जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट संयमी जानना ।

पाक्षिकों और साधकों में भेद (स्तर) नहीं हैं । नैष्टिकों में ही ग्यारह भेद हैं । **पाक्षिक श्रावक** के तो पांच उदम्बर अर्थात पीपल, बड, ऊमर, कठुम्बर, पाकर – इन पांचों के फल तथा मद्य, मधु, मांस सहित इन तीन मकार का प्रत्यक्ष में त्याग होता है । किन्तु आठ मूलगुणों में अतिचार होता है उनका कथन करते हैं – मांस में तो चमडे के संयोग (के सम्पर्क) में आये घी, तेल, हींग, जल आदि तथा रात्रि में भोजन, द्विदल (धान्य आदि दुफाड दालों को दही छाछ के साथ मिलाकर खाना), दो घडी से अधिक पहले छाना गया जल, बीधा (घुना हुआ) अन्न, इत्यादि मर्यादा से रहित वस्तुयें जिनमें त्रस जीवों की या निगोद की उत्पत्ति हो चुकी हो उनके भक्षण का दोष लगता है, पर प्रत्यक्ष पांच उदम्बर तथा तीन मकार का भक्षण नहीं करते हैं।

सचित्त सात व्यसनों का भी सेवन नहीं करते । अनेक प्रकार की प्रतिज्ञाओं पूर्वक संयम का पालन करते हैं तथा धर्म का उनको विशेष पक्ष (रुचि) है, ऐसा पाक्षिक जघन्य संयमी जानना । ये प्रथम प्रतिमा का धारक भी नहीं है पर प्रथम प्रतिमा आदि के संयम का उद्यमी हुआ है, इसलिये इसका दूसरा नाम प्रारब्ध है।

नैष्ठिक श्रावक के भेद

नैष्ठिक (श्रावक) के ग्यारह भेद हैं – (1) दर्शन (2) व्रत (3) सामायिक (4) प्रोषध (5) सचित त्याग (6) रात्रि भोजन तथा दिन में

कुशील का त्याग (7) ब्रह्मचर्य (8) आरंभ त्याग (9) परिग्रह त्याग (10) अनुमति त्याग (11) उद्दिष्ट त्याग – इन ग्यारह भेदों में (आगे आगे) असंयम का हीनपना जानना। इसलिये इनका दूसरा नाम घटमान है। तीसरे अर्थात साधक (श्रावक) का दूसरा नाम निपुण है।

भावार्थ :– पाक्षिक (श्रावक) तो संयम में (के लिये) उद्यमी हुआ है, करने नहीं लगा है तथा साधक (श्रावक) सम्पूर्ण कर चुका है, ऐसा प्रयोजन जानना।

ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन

अब पाक्षिक और साधक को छोडकर नैष्ठिक (श्रावक) का सामान्य रूप से वर्णन करते हैं –

(1) दर्शन प्रतिमा का धारक सात व्यसनों को तो अतिचार सहित छोडता है तथा आठ मूल गुणों को अतिचार रहित ग्रहण करता है।

(2) वृत प्रतिमा का धारक पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत, इसप्रकार बारह व्रतों को ग्रहण करता है।

(3) सामायिक व्रत (प्रतिमा) धारक सुबह, मध्यान्ह, संध्या काल में सामायिक करता है।

(4) प्रोषध व्रत प्रतिमा का धारक (श्रावक) अष्टमी और चतुर्दशी पर्वो (पर्व के दिनों) में आरंभ छोडकर धर्म स्थान में वास करता है।

(5) सचित्त त्याग व्रत प्रतिमा का धारक (श्रावक) सचित्त (वस्तुओं के उपयोग) का त्याग करता है।

(6) रात्रि भुक्ति प्रतिमा व्रत का धारक (श्रावक) रात्रि में भोजन करने को तथा दिन में कुशील सेवन को छोडता है।

(7) ब्रह्मचर्य व्रत प्रतिमा का धारक (श्रावक) रात्रि तथा दिन (दोनों) में मैथुन का त्याग करता है।

(8) आरम्भ त्याग व्रत प्रतिमा का धारक (श्रावक) आरंभ का त्याग करता है।

(9) परिग्रह त्याग व्रत प्रतिमा का धारक (श्रावक) परिग्रह का त्याग करता है ।

(10) अनुमति त्याग व्रत प्रतिमा का धारक (श्रावक) पाप कार्यों का उपदेश देने एवं अनुमोदना करने का त्याग करता है ।

(11) उद्दिष्ट त्याग व्रत प्रतिमा का धारक (श्रावक) उद्देश्य से (उसके अपने लिये बनाये गये) भोजन का त्याग करता है ।

इसप्रकार सामान्य लक्षण जानना । आगे इनका विशेष वर्णन करते हैं ।

(1) दर्शन प्रतिमा

दर्शन प्रतिमा का धारक (श्रावक) पहले कहे हुये आठ मूलगुणों को ग्रहण करता हुआ, सात व्यसनों का त्याग करके इनके अतिचारों को भी छोडता है । कुछ आचार्य आठ मूलगुण इस प्रकार भी बताते हैं :- (1) पांच उदम्बर का त्याग (2 से 4) तीन मकार का त्याग, इसप्रकार पहले इन चार को अलग गिनाकर आठ कहते हैं । चार तो ये हुये तथा (इन आचार्यों की अपेक्षा) शेष चार इस प्रकार जानना, (1) णमोकार मंत्र का धारण (2) दया-चित्त (3) रात्रि भोजन का त्याग (4) दो घडी से अधिक समय पूर्व छाने गये जल का त्याग – इसप्रकार आठ मूलगुण जानना ।

आगे सात व्यसनों के नाम बताते हैं – (1) जुआ (2) मांस (3) दारू (शराब) (4) वेश्या- (इन चार का) सेवन (5) परस्त्री सेवन (6) शिकार करना (7) चोरी करना – ये सात व्यसन हैं, इनका सेवन करने पर राजा दण्ड देता है, तथा लोक में महानिन्दा होती है, ऐसा जानना । आठ मूलगुणों तथा सात व्यसनों के अतिचारों का वर्णन ।

पहले दारू (शराब) के अतिचार – आठ पहर से अधिक का अथाणा (आचार) तथा चलित रस (जिन वस्तुओं का स्वाद बदल/बिगड गया है) एवं वस्तुयें निज पर फफूंद आ गयी हो, उन वस्तुओं का भक्षण करना,

आदि । मांस के अतिचार – चमडे के सम्पर्क में आये हींग, तेल, घी, जल इत्यादि (का सेवन) करना । शहद के अतिचार :– फूलों का भक्षण एवं शहद से बनी औषध, अंजन आदि का उपयोग करना इत्यादि । पांच उदम्बर के अतिचार – अनजाने फल का भक्षण करना, बिना शुद्ध किये फल का भक्षण करना, ऐसा जानना ।

[नोट :– यहां दि. जैन मुमुक्षु मंडल भोपाल से सन 1987 में प्रकाशित ज्ञानानन्द श्रावकाचार में अतिचारों में "अनजाने फल का भक्षण न करना" आदि शब्द लिखे हैं, पर इनका भक्षण करना आदि अतिचार लगाना है, न कि न करना अतिचार है । अत: ऐसी चीजों के भक्षण को अतिचार लिखा है, न करने को नहीं ।]

आगे सात व्यसनों के अतिचार कहते हैं – **प्रथम जुआ का अतिचार** – हार जीत करना (शर्त लगाना) । **मांस – मदिरा के अतिचार** पहले कह ही चुके हैं । **परस्त्री के अतिचार** – कुमारी लडकी के संग क्रीडा करना तथा अकेली स्त्री से एकान्त में बात करना इत्यादि । **वेश्या गमन के अतिचार** – नृत्य आदि, वाध्य यंत्र गान आदि को आसक्ति पूर्वक देखना, सुनना तथा वेश्या रमण, नपुंसक पुरुषों से मेल रखना, वेश्या के घर जाना आदि । **शिकार के अतिचार** – काष्ट, पाषाण, मिट्टी, धातु एवं चित्रों में बने हुये घोडे, हाथी, मनुष्य आदि जीवों के आकारों का घात करना, आदि ।

चोरी के अतिचार – पराये (दूसरे का) धन ले लेना, जबरदस्ती छीन लेना, कम मूल्य देकर अधिक मूल्य की वस्तु खरीदना, तौल में कम वस्तु देना, अधिक लेना, (किसी की) धरोहर को रख लेना (वापस न करना), भोले मनुष्य का माल ठग लेना इत्यादि । इसप्रकार सातों व्यसनों के अतिचार जानना । इन अतिचारों को छोडे वह प्रथम प्रतिमा का धारक श्रावक होता है, तथा अतिचारों को न पाले (छोडे) उसे पाक्षिक श्रावक जानना ।

आगे अन्य भी कितनी ही बातों का प्रथम प्रतिमा का धारक (श्रावक) नीति पूर्वक पालन करता है, वह कहते हैं – अनारंभ में जीव का घात नहीं करता।

भावार्थ :– मकान, महल (उपलक्षण से मंदिर, धर्मशाला, कुआँ आदि) बनवाने में हिंसा होती है, वह तो होती है, परन्तु बिना आरंभ (संकल्प पूर्वक) जीवों को मारता नहीं है तथा उत्कृष्ट (अर्थात जिसमें बहुत जीवों का घात हो ऐसे) आरंभ नहीं करता है । कहने का भाव यह है कि खोटे व्यापार जिनमें बहुत हिंसा होती हो, बहुत झूंठ बोलना पडता हो अथवा जिससे जगत में बहुत निंदा होती हो, जैसे हड्डी, चमडा आदि का, अथवा जिनमें तृष्णा बहुत बडे इत्यादि को उत्कृष्ट (आरंभ) का स्वरूप जानना ।

स्वयं की पत्नी को जैसे-तैसे धर्म में लगाता है, क्योंकि स्त्री की धर्म-बुद्धि हो तो धर्म साधन भली प्रकार सधता है । अपना धर्म का अनुराग बहुत बड़ाता है एवं धर्माचरण करते हुये लोकाचार का उल्लंघन नहीं करता है ।

भावार्थ :– जिस कार्य के करने से लोक निन्दा करे ऐसे कार्यों को नहीं करता है । परन्तु जिस कार्य के करने में अपना धर्म तो जावे पर लोक भला कहे तो ऐसा नहीं है कि अपना धर्म छोडकर भी लोक का कहा कार्य करे । अत: अपने धर्म को रखते हुये लोकाचार का उल्लंघन नहीं करता ।

स्त्री को पुरुष की आज्ञा के अनुसार रहना उचित है, पतिव्रता स्त्री की यही रीति है ।

यह धर्मात्मा पुरुष है अत: षट आवश्यक करके भोजन करता है, वह कहते हैं – सुबह पहले तो श्री अरिहन्त देव की पूजा करता है, फिर निर्ग्रन्थ गुरु की सेवा करता है , शक्ति अनुसार संयम व तप करता है, फिर शास्त्र श्रवण, पठन-पाठन करता है, फिर पात्र जीवों के लिये अथवा

दु:खित जीवों को लिये चार प्रकार का (आहार, औषध, शास्त्र, अभय) दान देता है । चार भावनाओं को निरन्तर भाता है ।

(1) मैत्री भावना :– सर्व जीवों से मैत्री रखता है अर्थात सर्व जीवों को अपना मित्र मानता है, उनका स्वरूप अपने जैसा ही जानता है, अत: किसी (भी जीव) की विराधना नहीं करता है । सर्व जीवों की रक्षा पालता है ।

(2) प्रमोद भावना :– अर्थात अपने से अधिक गुणवान पुरुषों से विनयवान होकर प्रवर्तता है ।

(3) करुणा भावना :– अर्थात दु:खित जीवों को देखकर उन पर करुणा करता है तथा जिसप्रकार का (उसे/उन्हें) दु:ख हो उसे मिटाने का प्रयत्न करता है । अपनी सामर्थ्य न हो तो दयारूप परिणाम ही रखता है । कठोर परिणाम तो महाकषाय हैं, कोमल परिणाम हैं वे नि:कषाय हैं, वही धर्म है ।

(4) माध्यस्थ भावना :– अर्थात विपरीत पुरुषों से मध्यस्थ रूप रहता है । न उनसे राग करता है न द्वेष करता है ।

कोई हिंसक पुरुष हों अथवा मिथ्यादृष्टि पुरुष हों अथवा सप्त व्यसनी पुरुष हों, उन्हें, यदि वे धर्मोपदेश समझें (समझ सकने के पात्र हों) तो समझाकर कमाये हुये पापों से छुडा देता है, नहीं समझें तो आप रूप रहता है । इसप्रकार चार भावना का स्वरूप जानना ।

आगे अन्य भी कितनी ही वस्तुओं का त्याग करता है, वह कहते हैं। बीधा (कीडे लगा हुआ) अन्न अभक्ष्य कहा गया है । मक्खन तथा द्विदल अथवा दुफाडा अनाज (जिनकी दो फाड हो जाती हैं जैसे चना, मूंग आदि) के संयोग सहित अथवा काष्ट, चिरोंजी आदि (उपलक्षण से दो फाड हो जाने वाले सूखे मेवे आदि), वृक्षों के फल एवं दही, छाछ का एक समय में भोजन नहीं करता।

चातुर्मास (वर्षा के मौसम) में तीन दिन, सर्दियों में सात दिन तथा गर्मियों में पांच दिन से अधिक समय पूर्व का आटा (उपलक्षण से मसाले आदि पिसी हुई चीजें) आदि भक्षण नहीं करता । दो दिन से अधिक पहले का दही नहीं खाता अर्थात आज का जमाया दही कल तक ही खाता है, जामन देने के बाद आठ पहर (चौबीस घंटे) की मर्यादा है (अर्थात इसके बाद में नहीं खाता)। बीधी (कीडा लगी हुई) वस्तुओं का भक्षण करने, दही और गुड मिलाकर खाने, जलेबी इत्यादि का एवं मक्खन में त्रस जीव एवं निगोद उत्पन्न होते हैं, का त्याग करता है तथा नैनू (दूध या दही को बिलो कर निकाला गया घी, गर्म करने से पहले) की मर्यादा दो घडी (अडतालीस मिनिट) की होती है, कुछ आचार्यो ने (अपने) शास्त्रों में (यह मर्यादा) चार घडी की भी लिखी है, इसलिये दो घडी अथवा चार घडी बाद इसमें जीव उत्पन्न होने लगने से ये अभक्ष्य हैं। अत: तुरन्त बिलोया भी खाना उचित नहीं है । इसके खाने में मांस के खाने जितना दोष लगता है। इनमें राग भाव बहुत होता है ।

बैंगन एवं साधारण वनस्पति तथा दही बडा, कांजीबडा, बर्फ, ओले, मिट्टी, विष तथा रात्रि में भोजन करने का त्याग करता है । सूखे पांच उदम्बर फल एवं बैंगन का भी भक्षण नहीं करता है, इनके खाने से रोग भी बहुत होते हैं । चलित रस (जिन वस्तुओं का स्वाद बिगड/बदल गया हो) वाली तथा बासी (पिछले दिनों में बनाई गयी) रसोई, मर्यादा के बाहर का आटा आदि तथा घी, तेल, मिठाई का भक्षण छोडता है, तथा आम आदि फल एवं मेवे जिनका स्वाद बदल गया हो, का भक्षण नहीं करता है ।

बडे–बडे झाडी बेर बहुत कोमल होते हैं, हाथ से तोडने पर भी उनकी (उनमें रहे जीवों की) दया नहीं पलती, लटें मरती हैं, अत: त्याग ही देता है । इनमें काने (जीव सहित) बहुत होते हैं, उनमें लटें होती हैं । सहज के से दाग लगे (स्वाभाविक) आमों में भी डोरे जैसी बारीक लटें होती हैं, इसलिये बिना देखे इन्हें भी नहीं चूंसता है । इस ही प्रकार काना

गन्ना, कानी ककडी इत्यादि काने फलों में भी लटें उत्पन्न हो चुकी होती हैं, उनका भक्षण छोडता है ।

सियालै (बरसात में पैदा होने वाली) सब्जियां अर्थात हरित काय में बादलों के निमित्त से बहुत लटें पैदा हो जाती हैं, उनका भक्षण त्यागता है।

कद्दू (काशीफल), तरबूज आदि बडे फलों को लाने तथा खाने में निर्दयपना बहुत उत्पन्न होता है, चित्त मलिन होता है, हाथ में छुरी, चाकू लेकर इन्हें काटने में बडे त्रस जीवों की सी हिंसा के परिणाम प्रतिभासित होते हैं, इसलिये बडे फलों में (के खाने में) विशेष दोष है ।

केले का भक्षण तजता है, इसके खाने में राग बहुत उत्पन्न होता है । फूल की जाति वाले एवं नरम हरित काय अथवा जिसका छिलका मोटा हो तथा तुरन्त दो टुकडे हो जाने वाले एवं गन्ने आदि की पेली (गांठ), ककडी आदि जिनकी लकीर एवं नींबू तथा इमली के बीज आदि जिनकी जाली गूढ (छिपी)हो, जिसका व्यक्तपना भासित न होता हो, का त्याग करता है ।

भावार्थ :– इसप्रकार की वनस्पति में निगोदिया जीव होते हैं । हरितकाय में भी निगोदिया जीव होते हैं तथा जिनमें त्रस होवें वे सभी वनस्पतियाँ छोडने योग्य हैं।

इसप्रकार के, जिनका कथन आगे करेंगे, उनका व्यापार आदि नहीं करता है –लोहा, लकडी, हड्डी, चमडा – केश (बाल), हींग, चमडे के पात्र में रखे घी, तेल, नमक, हल्दी, साजी, लोंद, रंग, फिटकडी, कुसुंभी, नील, साबुन, लाख, जहर, शहद इत्यादि पंसारीपने का सर्व ही व्यापार निषिद्ध है ।

हरितकाय का व्यापार, बीधा अन्न आदि जिनमें त्रस जीवों का घात बहुत होता हो, इसप्रकार के सारे ही व्यापार तजता है । चांडाल, कसाई, धोबी, लुहार, निकृष्ट कार्य करने वाले ढेढ, डोम, भील, थोरी, वागरी, साठया, कूंजडा, नीलगर (रंगरेज), ठग, चोर, पासीगर (उठाईगीरा) इत्यादि के द्वारा किये जाने वाले कार्य तथा उनसे व्यापार अर्थात उन्हें

वस्तुयें बेचना, उनकी वस्तुयें खरीदना आदि का भी त्याग करता है। हलवाई की बनाई वस्तुओं का त्याग करता है। धोबी से धुलाकर, छींपे से अथवा नीलगर से रंगा कर कपडे बेचने का त्याग करता है।

खेती नहीं कराता, भाड में वस्तुयें नहीं भुनाता, भडभूजे एवं लुहार को धन उधार नहीं देता, कोयले की भट्टी नहीं बनवाता, शराब की भट्टी नहीं बनवाता अथवा कोयला, मदिरा व सुरा के बनाने वालों से व्यापार नहीं करता, नदी नाले का काम नहीं कराता। ऊंट, घोडा, भैंसा, बैल, गधा, गाडी, रथ, हल तथा हल के साथ लगने वाली लोहे की कुली, चरस (कुयें से पानी निकालने का चमडे का पात्र), लाव (कुयें से पानी निकालने का मोटा रस्सा) किराये पर नहीं देता तथा न किराये पर किसी को दिलवाता है, अथवा इन कार्यो के बहाने किसी को उधार देता नहीं। इस (कार्यो) में बहुत पाप है।

जिन कार्यो से प्राणी दु:खी हों अथवा उनकी विराधना हो, ऐसे कार्यो को धर्मात्मा पुरुष कैसे करें ? जीव हिंसा से बढकर संसार में और कोई पाप है नहीं, अत: जीव हिंसा सर्व प्रकार छोडने योग्य है। उन्हें धन भी उधार नहीं देता। शस्त्रों (हथियारों) का व्यापार नहीं करता, न शस्त्रों का व्यापार करने वालों को उधार देता। इत्यादि जितने खोटे कार्य हैं उन सबको तजता है एवं खोटे कार्य करने वालों से लेन देन का भी त्याग करता।

पाप कार्यो में काम आने वाली वस्तुयें खरीदता नहीं। अन्य के द्वारा पहना हुआ कपडा खरीद कर भी स्वयं नहीं पहनता, न ही शरीर का (अर्थात खुद का पहना) वस्त्र किसी को बेचता है। भिखमंगे आदि दु:खित भीख मांगने वाले जीव जो अनाज आदि वस्तुयें भीख में मांग कर लाये हों उन्हें भी खरीदता बेचता नहीं।

देव अरिहंत, गुरु निर्ग्रन्थ, धर्म जिनधर्म के लिये चढाये गये द्रव्य को निर्माल्य कहते हैं, उसका अंश मात्र भी ग्रहण नहीं करता। इसका फल नरक, निगोद है।

यहां प्रश्न :– ऐसे निर्माल्य को दोष कैसे कहा ? भगवान को चढाया हुआ द्रव्य ऐसा निंद्य कैसे हुआ ?

उसका समाधान :– हे भाई ! ये (अरिहन्त) सर्वोत्कृष्ट देव हैं । उनकी पूजा करने में इन्द्र आदि देव भी समर्थ नहीं । उनके लिये कोई भक्त पुरुष अनुराग से द्रव्य चढाने के बाद वापस उस स्थान से उस चढाये हुये द्रव्य को बिना दिये ग्रहण करे तो उस पुरुष ने देव, गुरु, धर्म का महा अविनय किया। बिना दिये का अर्थ यह है कि अरिहन्त देव तो वीतराग हैं, वे स्वयं तो किसी को देते नहीं, अत: बिना दिया ही कहा जावेगा । जैसे राजा आदि बडे पुरुष को कोई वस्तु भेंट करके उसके बिना दिये ही ले तो उसे राजा महादंड देता है – इसीप्रकार निर्माल्य का दोष जानना।

भगवान के अर्थ चढाया गया सारा द्रव्य परम पवित्र है, महा विनय करने योग्य है, परन्तु (उसे बिना दिये) ले लेना महा अयोग्य है, इसके समान अन्य अयोग्य कुछ नहीं। अत: निर्माल्य वस्तुओं की खरीद बिक्री भी नहीं करनी चाहिये । निर्माल्य वस्तु लेने वाले को उधार भी नहीं देना चाहिये।

बहन, पुत्री, सुहागन स्त्री को धन उधार नहीं देता, इत्यादि अन्याय पूर्वक होने वाले सब ही कार्यो को धर्मात्मा छोडते हैं । जिन कार्यों से अपयश हो, अपने परिणाम संक्लेश रूप रहें अथवा शोक भय रूप रहें उन कार्यो को छोडे तब सहज ही धर्मात्मा हो ऐसा भावार्थ जानना । इसप्रकार प्रथम प्रतिमा का धारक संयमी नीति मार्ग से चलता है ।

व्रत प्रतिमा

(1) अहिंसा व्रत

आगे (श्रावक अपने) घर का भार पुत्र को सौंपकर दूसरी प्रतिमा ग्रहण करता है, वह कहते हैं – पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, इन बारह व्रतों को अतिचार रहित पालन करता है, उसे दूसरी प्रतिमा का धारक कहते हैं ।

प्रतिमा प्रतिज्ञा को कहते हैं, इसका विशेष स्वरूप कहते हैं । दोष बुद्धि करके चार प्रकार के त्रस जीवों का घात और बिना प्रयोजन स्थावर जीवों का घात भी नहीं करता, उनका रक्षक होता है ।

भावार्थ :– कोई ये कहे कि तुझे पृथ्वी का राज्य देता हूं, तू अपने हाथ से इस चींटी को मार दे, और यदि नहीं मारेगा तो तेरे प्राणों का नाश कर दूंगा अथवा तेरा घर लूट लूंगा, ऐसा राजा आदि का हट जाने तब यदि मैं इसका कहा न करूंगा तो इसने जो विचार किया है, वही करेगा, ऐसा जानकर धर्मात्मा पुरुष ऐसा विचार करते हैं कि सुमेरुवत (इन्द्रियों की अपेक्षा एक से अधिक इन्द्रियों वाला होने से बहुत ऊंचा) इस त्रस जीव पर शस्त्र कैसे चलाया जा सकता है? अत: शरीर धन आदि जाता है तो जाओ, इनकी इतनी ही स्थिरता थी (मेरे साथ संयोग था)। इसमें मेरा क्या वश है, मेरे रखे कैसे रहेंगे? तथा यदि स्थिरता (आयु) अधिक है, तो राजा अथवा देव के द्वारा भी कैसे मारा, छीना जावेगा ? यह नि:संदेह है। अत: मुझे जरा भी भय आदि कर जीव का घात करना उचित नहीं है ।

यदि कोई ऐसा कहता (समझाता) है कि अभी तो ये कहता है वैसा करलो, फिर तुम कुछ प्रायश्चित रूप अपनी रक्षा कर लेना (प्रायश्चित कर पुन: प्रतिज्ञा ले लेना), तो धर्मात्मा पुरुष उसे इसप्रकार कहता है – हे मूढ ! जिन धर्म की प्रतिज्ञाऐं ऐसी नहीं होतीं कि शरीर या धन आदि के लिये उनका उल्लंघन किया जावे । बाद में इन प्रतिज्ञाओं को पुन: ग्रहण कर लेना, तो यह उपदेश तो अन्य मतों का है, जैन मत में नहीं । ऐसा जानकर वह धर्मात्मा पुरुष जीव को मारना तो दूर ही रहे , अपने परिणामों को अंश मात्र भी चलायमान नहीं करता । कायरता के वचन भी नहीं बोलता।

हलन-चलन आदि क्रियाओं में तथा भोग संयोग आदि क्रियाओं में संख्यात-असंख्यात त्रस जीव और अनन्त निगोद जीवों की हिंसा होती है, परन्तु इसे जीव मारने का अभिप्राय नहीं है, केवल हलन-चलन

आदि क्रिया का ही अभिप्राय है, परन्तु (जीवन के लिये आवश्यक) वह क्रिया त्रस जीव की हिंसा के बिना बन नहीं सकती, अत: (अभिप्राय न होने के कारण) इसे त्रस जीव का रक्षक ही कहा जाता है। पांच प्रकार के स्थावर जीवों की हिंसा का इसको त्याग नहीं है, तो भी अभिप्राय स्थावर जीवों की भी रक्षा का ही है। अत: इसको अहिंसा व्रत का धारी कहते हैं, ऐसा जानना।

(2) सत्य व्रत

आगे सत्य व्रत का विशेष वर्णन करते हैं। (इस व्रत का धारी) झूंठ बोलने पर राजा दण्ड दे अथवा जगत में अपयश हो, ऐसी स्थूल झूंठ नहीं बोलता है, तथा ऐसे सत्य वचन भी नहीं बोलता है जिन सत्य वचनों के बोलने से अन्य जीव का बुरा हो। जो सत्य कठोरता सहित हो, ऐसा सत्य वचन भी नहीं बोलता। कठोर वचनों से दूसरे के प्राण (तो) पीडित होते (ही) हैं, स्वयं के भी प्राण पीडित होते हैं। सत्य का ऐसा स्वरूप जानना।

(3) अचौर्य व्रत

आगे अचौर्य व्रत का स्वरूप कहते हैं। (इस व्रत का धारी) प्रत्यक्ष की चोरी तो सर्व प्रकार ही तजता है। चोरी की वस्तुयें खरीदता नहीं, मार्ग में पडी पाई जाने वाली वस्तु को भी ग्रहण नहीं करता। डंडी नहीं मारता (कम नहीं तोलता), वस्तु की अदला-बदली नहीं करता, धन नहीं चुराता, राज्य का टैक्स/कर चुराता नहीं। चोरों से व्यापार नहीं करता। तोल में (वस्तु) कम नहीं देता, न अधिक लेता है। वस्तुओं में मिलावट नहीं करता। मुनिमात (किसी अन्य के व्यापार का हिसाब आदि रखने) का काम करते एवं घर का व्यापार भी करते किसी किस्म की चोरी नहीं करता है। इत्यादि सर्व प्रकार की चोरी का त्याग करता है।

भावार्थ :- मार्ग की मिट्टी का अथवा नदी, कुये आदि के जल आदि का इसे बिना दिये ग्रहण होता है (अर्थात ये दो वस्तुयें तो किसी की

बिना दी भी लेता है), यह माल राजा आदि का है, इसका है नहीं, इतनी चोरी इसको लगती है, पर विशेष चोरी नहीं करता है । इसी कारण इसे स्थूल रूप से अचौर्य व्रत का धारक कहा जाता है ।

(4) ब्रह्मचर्य व्रत

आगे ब्रह्मचर्य व्रत का वर्णन करते हैं । (इस व्रत का धारी) परस्त्री का तो सर्व प्रकार त्याग करता है, पर स्वस्त्री का भी अष्टमी, चतुर्दशी, दोज, पंचमी, अष्टान्हिका, सोलहकारण, दशलक्षण, रत्नत्रय आदि जो धर्म-पर्व हैं उन दिनों भी शील का पालन करता है, तथा काम विकार को घटाता है । शील की नव प्रकार बाढ पालता है, जिसका वर्णन – काम के उत्पादक भोजन नहीं करता, पेट भर कर भोजन नहीं करता, श्रृंगार नहीं करता, परस्त्री की सेज पर नहीं बैठता, अकेली (पर-स्त्री) के संग नहीं रहता, राग-भाव से स्त्री के वचन नहीं सुनता, राग-भाव से स्त्री का रूप-लावण्य नहीं देखता, काम कथा नहीं करता (उपलक्षण से सुनता नहीं) । ऐसा ब्रह्मचर्य व्रत जानना ।

(5) परिग्रह त्याग व्रत

अब परिग्रह त्याग व्रत का कथन करते हैं । (इस व्रत का धारी) अपने पुण्य के अनुसार दस प्रकार के सचित्त-अचित्त बाह्य परिग्रह का प्रमाण (निश्चित) करता है । ऐसा नहीं है कि पुण्य तो थोडा हो और प्रमाण बहुत रखे (निश्चित करले) तथा उसे भी परिग्रह त्याग व्रत (ग्रहण किया) कहे, पर इसके ऐसा नहीं है । ऐसा करने में तो उल्टा तीव्र लोभ है तथा यहां तो लोभ ही का त्याग करना है, ऐसा जानना ।

अब दस प्रकार के (बाह्य) परिग्रहों के नाम बताते हैं – (1) धरती (जमीन) (2) यान (पालकी , गाडी आदि सवारी का उपकरण) (3) धन (इसमें स्वर्ण, रूपा अर्थात चांदी, वस्त्र आदि भी गर्भित जानना) (4) धान्य अर्थात अनाज (5) हवेली (रहने के मकान) (6) हंडवाही

(सजावट का सामान) (7) बर्तन (8) सेज्यासन (सेज-आसन आदि) (9) चौपाये जानवर (10) दो पाये (पांव वाले) जीव - दास-दासी आदि । इसप्रकार इन दस प्रकार के परिग्रह का प्रमाण निश्चित करके उससे अधिक का त्याग करे, उसे परिग्रह त्याग व्रत का धारी कहते हैं ।

इसप्रकार पांच अणुव्रतों का स्वरूप जानना ।

(6) दिग्व्रत

आगे दिग्व्रत का स्वरूप कहते हैं । दिग् दिशा को कहते हैं । वह (इस व्रत का धारी) दसों दिशाओं में सावद्य योग के प्रयोजन से गमन करने का जीवन भर के लिये प्रमाण निश्चित कर लेता है । उसके बाहर के क्षेत्र से वस्तुयें मंगाता नहीं, भेजता नहीं । पत्र आदि भी नहीं भेजता एवं वहां (निश्चित किये प्रमाण के बाहर) से आये पत्र आदि भी नहीं पढता है, ऐसा जानना ।

(7) देशव्रत

आगे देशव्रत का कथन करते हैं । देश नाम एकदेश का है । वह (इस व्रत का धारी) प्रत्येक दिन के लिये (दिशाओं में आने-जाने का) प्रमाण कर लेता है । जैसे आज मुझे दो कोस (एक कोस लगभग तीन किलोमीटर से कुछ अधिक होता है), चार कोस अथवा बीस कोस इतनी ही सीमा में जाना है । इससे दूर के क्षेत्र में जाने आदि कार्य का त्याग करता है, उससे आगे गमन नहीं करता, सही (प्रमाण में रखे गये) क्षेत्र में ही गमन करता है ।

भावार्थ :- दिग्व्रत में यहां इतना विशेष है कि दिग्व्रत में तो दिशाओं का प्रमाण जीवन भर के लिये किया जाता है, पर देशव्रत में उस (जीवन भर के लिये की गयी) मर्यादा में ही मर्यादा को (निश्चित किये गये एक दो दिन आदि के लिये) और घटाकर बाहर का त्याग करता है, जैसे (कुछ काल) वर्ष भर, छहमास, एक मास, एक पक्ष, एक दिन अथवा एक

पहर, दो घडी पर्यन्त के लिये क्षेत्र का प्रमाण सावद्य योग के लिये करता है। धर्म के अर्थ (प्रयोजन के लिये प्रमाण) करता नहीं है, धर्म के कार्य के लिये किसी प्रकार का त्याग (सीमा का बंधन) है ही नहीं।

(8) अनर्थदण्ड त्याग व्रत

आगे अनर्थदण्ड त्याग व्रत का कथन करते हैं। बिना प्रयोजन पाप लगने (का बंध करने) वाले अथवा प्रयोजन वश भी महापाप लगे (का बंध करने वाले कार्यों) का नाम अनर्थदण्ड है। उसके पांच भेद हैं – (1) अपध्यान (2) हिंसा दान (3) प्रमाद चर्या (4) पापोपदेश (5) दुःश्रुत–श्रवण। इनका विशेष कथन करते हैं –

अपध्यान :– अर्थात जिससे अन्य जीव का बुरा हो अथवा राग–द्वेष उत्पन्न हों, कलह उत्पन्न हो, अविश्वास उत्पन्न हो, मार दिया जावे, लूट लिया जावे, शोक भय उत्पन्न हो, ऐसे उपायों का चिन्तवन करना। जैसे मृत मनुष्य का समाचार उसके इष्ट को सुना देना, परस्पर बैर याद दिला देना, राजा आदि का भय उत्पन्न करा देना, अवगुण प्रकट कर देना, मर्म छेदन वाले वचन कहना जो भविष्य में भी उसे याद रहें, इत्यादि अपध्यान का स्वरूप है।

हिंसादान :– अर्थात छुरी, कटारी, तलवार, बरछी (उपलक्षण से पिस्तोल, बन्दूक आदि समस्त हिंसा के उपकरण) आदि शस्त्र मांगने पर (अन्य को) दे देना। अथवा कडाहा, कडाही, चरी – चरखा आदि मांगे जाने पर दे देना। ईंधन, अग्नि, दीपक आदि मांगे जाने पर दे देना। सब्बल, कुदाल, फावडे (आदि जमीन खोदने के उपकरण), चूल्हा (उपलक्षण से अंगीठी, स्टोव, रसोई गैस आदि) मूसल (कूटने के उपकरण) आदि मांगे जाने पर दे देना, इत्यादि। जो हिंसा के लिये कारण हों उन वस्तुओं का व्यापार करना। बैठे–बैठे बिना प्रयोजन भूमि को खोदना, पानी ढोलना, अग्नि जलाना, पंखे से हवा करना तथा वनस्पति

को शस्त्र आदि से छेदना, हाथ से तोडना । ऐसा हिंसादान का स्वरूप जानना ।

प्रमादचर्या :– आगे प्रमादचर्या का स्वरूप कहते हैं । प्रमाद लिये धरती पर बिना प्रयोजन इधर–उधर फिरते रहना अथवा हिलते रहना, बिना देखे ही बैठ जाना, बिना देखे वस्तु को उठा अथवा रख देना, इत्यादि प्रमाद चर्या का स्वरूप है ।

पापोपदेश :– पश्चात् पापोपदेश स्वरूप कहते हैं । ऐसा उपदेश देना (यहां भी ऐसे उपदेश देना पापोपदेश है न कि न देना) – जैसे अमुक व्यक्ति तू मकान बनवाले, कुआं, बावडी, तालाब बनवाले, अथवा खेत बाग लगाले, खेत में निदानी (खेत में से खर–पतवार आदि निरर्थक छोटे पौधों को उखाड फैंकना) का समय आ गया है, उसकी निदानी करा । अथवा तेरा खेत सूख रहा है, इसे जल से सींच, अथवा तेरी पुत्री कुंआरी है उसका विवाह कर, तेरा पुत्र कुंआरा है उसकी शादी कर। अथवा बाजार में नींबू, आम, ककडी, खरबूजा आदि फल बिक रहे हैं उन्हें खरीद ला । तुरई, करेला, टींडा आदि हरित काय खरीदने मंगाने का उपदेश देना । अथवा चूल्हा जलाने, आंगन लिपवाने, गोबर (एकत्रित) करने का उपदेश देना ।

कपडे धुलाने का, स्नान करने का, स्त्रियों को मस्तक के केश संवारने का, खाट (पलंग) को धूप में डालने का, कपडों में से जूंयें निकालने का, दीपक जलाने आदि का उपदेश देना, बीधा गला अनाज मंगाने का, अथवा घी, तेल, गुड, खांड, अनाज आदि वस्तुओं का भंडार रखने का उपदेश देना । बैल, भैंसा, ऊंट (के उपर सामान) लादने का, देशान्तर से वस्तुयें मंगाने का, भेजने का उपदेश देना ।

दान, तप, शील, संयम के पालन में, प्रोषध, प्रतिज्ञा आदि धर्म कार्य में कोई पुरुष लगा हो तो, उसे इन्कार करना (रोकना), ऐसे उपदेश

देना । अथवा पूर्व में कही गयी वस्तुओं (उनमें से किसी भी वस्तु) का व्यापार करा देना । नाना प्रकार की खोटी चतुराई अथवा अक्ल दूसरों को सिखाना। अथवा राजकथा, चोरकथा, स्त्रीकथा, देशकथा इत्यादि नाना प्रकार की विकथाओं का उपदेश देना, ऐसा पापोपदेश का स्वरूप जानना।

दुःश्रुत अब दुःश्रुत का स्वरूप कहते हैं । दुःश्रुत अर्थात खोटी कथाओं का सुनना, कामोत्पादक कथा, भोजन कथा, चोर कथा, देश कथा, राज्य कथा, स्त्री-वेश्या-नृत्यकी की कथा, अथवा युद्ध, कलह, झगडे, संग्राम, भोग की कथा, स्त्री के रूप-हावभाव-कटाक्ष की कथा, ज्योतिष, वैद्यक, मंत्र-तंत्र-यंत्र, स्वरोदय की कथा, खेल-तमाशा इत्यादि पाप (बंध) के कारणों की कथाओं के सुनने को दुःश्रुत श्रवण कहते हैं ।

इसप्रकार बिना प्रयोजन के होने वाले महापाप को अनर्थदण्ड कहते हैं । इसके त्याग को अनर्थदण्ड त्याग व्रत कहते हैं । इसप्रकार तीन गुणव्रतों का स्वरूप जानना चाहिए।

(9) सामायिक व्रत

अब सामायिक व्रत का स्वरूप कहते हैं । सांझ , सुबह और मध्यान्ह के समय, इन तीनों समय तीन बार सामायिक करे । (सामायिक का विशेष कथन आगे करेंगे)

(10) प्रोषध व्रत

अष्टमी, चतुर्दशी को प्रोषध उपवास करे, उसका स्वरूप आगे (तीसरी प्रोषध प्रतिमा के कथन में) कहेंगे ।

(11) भोगोपभोग व्रत

आगे भोगोपभोग व्रत का स्वरूप कहते हैं । जो वस्तु एक बार ही भोगने में आवे, उसे भोग कहते हैं, जैसे भोजन आदि । एक ही वस्तु को बार-बार भोगा जा सके, जैसे स्त्री, कपडे, जेवर आदि को उपभोग कहते हैं । इनका नित्य चार-चार पहर (बारह बारह घंटे) के लिये प्रमाण कर

लेना। सुबह तो शाम तक के लिये प्रमाण कर लेना, तथा सांझ को सुबह तक के लिये प्रमाण कर लेना। इसी के विशेष भेद का नाम नियम है। उसका विवरण – भोजन, षटरस, जलपान, कंकुम आदि (श्रंगार की वस्तुयें), पुष्प, तांबूल, गीत, नृत्य, ब्रह्मचर्य, स्नान, भूषण वस्त्र आदि, वाहन, शैय्या, आसन, सचित्त आदि वस्तुओं की संख्या का प्रमाण कर लेना (लेने एवं उसका पालन करने को भोगोपभोग व्रत कहते हैं)।

(12) अतिथि संविभाग व्रत

आगे अतिथि संविभाग व्रत का स्वरूप कहते हैं । बिना बुलाये तीन (उत्तम –मध्यम–जघन्य) प्रकार के पात्र अथवा दुःखी प्राणी अपने द्वार पर आवे तो उन्हें अनुराग पूर्वक दान देना । सुपात्र को तो भक्ति पूर्वक देना, तथा दु:खित जीवों को अनुकम्पा (करुणा) करके देना।

दातार को यह (दान) सात गुणों पूर्वक देना एवं मुनियों को नवधा भक्ति करके देना चाहिये। इनका विवरण – (1) प्रतिग्रहण (2) उच्चासन (3) पादोदक (4) अर्चना (5) प्रणाम (6) मन:शुद्धि (7) वचन शुद्धि (8) काय शुद्धि (9) ऐषणा शुद्धि – ऐसे जानना (इनका स्वरूप पहले कहा जा चुका है)।

अन्य भी वस्तुओं का दान देना चाहिये। मुनियों को कमंडल–पीछी, पुस्तक, औषध, वस्तिका (स्थान) देना एवं अर्जिका, श्रावकों को उपरोक्त पांच वस्तुयें तथा वस्त्र देना तथा दुखि:त जीवों को वस्त्र, औषध, भोजन, अभय दान भी देना ।

मंदिरों में नाना प्रकार के उपकरण चढाना, पूजा कराना, (मंदिरजी की एवं उपकरणों की) मरम्मत कराना, प्रतिष्ठा कराना, शास्त्र लिखा कर धर्मात्मा ज्ञानी पुरुषों को देना। वन्दना–पूजन कराना, तीर्थयात्रा में द्रव्य (धन) खर्च करना ।

न्याय पूर्वक धन कमाकर उसके तीन भाग करना । एक भाग को धर्म कार्यो के निमित्त खर्च करना, एक भाग भोजन (उपलक्षण से गृहत्थी के

खर्चों) के लिये कुटुम्ब परिवार को देना, एक भाग का संचय (भविष्य के लिये एकत्रित) करना। ऐसा करने वाले को तो उत्कृष्ट श्रावक जानना। यदि (छह भाग करके) एक भाग दान में दे, तीन भाग भोजन के लिये एवं दो भाग संचय करे तो वह मध्यम दातार है। (दस भाग करके उनमें से) एक भाग दान में दे, छह भाग भोजन के लिये एवं तीन भाग का संचय करे वह जघन्य दातार है।

यदि दसवां भाग भी दान में खर्च न करे तो उसका घर श्मशान के समान है। श्मशान में भी अनेक प्रकार के जीव जलते हैं तथा गृहस्थ के चूल्हे (रसोई घर) में भी नाना प्रकार के जीव जलते हैं।

अथवा यह (दसवां भाग भी दान में न देने वाला) पुरुष कैसा है ? सबसे हल्की तो रुई है, तथा उससे भी हल्का आकडे का फूल है, उससे भी हल्का परमाणु है, और उससे भी हल्का याचक है, पर उससे भी हल्का दान रहित कृपण है। उसने (याचक ने) तो अपना सर्वस्व खो कर हाथ फैलाया है तथा याचना के लिये दीन वचन मुख से कहे हैं, चल कर आपके (दातार के) घर आया है, फिर भी उसे दान नहीं दिया, अत: दान रहित पुरुष याचक से भी हीन है।

धर्मात्मा पुरुष के मुख्य धर्म तो देव पूजा तथा दान ही हैं, बाकी के चार (छह आवश्यकों में से शेष चार) गुरु भक्ति, तप, संयम, स्वाध्याय तो गौण हैं। इसलिये सात स्थानों में धन खर्च करना उचित है – (1) मुनि (2) आर्यिका (3) श्रावक (4) श्राविका (5) जिन-मंदिर प्रतिष्ठा (6) तीर्थ यात्रा (7) शास्त्र लिखवाना (छपवाना) - ये सात स्थान जानना।

दान देने के चार भेद हैं (आगे केवल तीन का ही कथन किया है, चौथा कौनसा है यह नहीं बताया)। प्रथम तो दु:खित-भूखे जीव के समाचार पाकर उसके घर देने योग्य वस्तु पहुंचा देना, यह तो उत्कृष्ट है। उसे अपने घर बुलाकर दान देना, यह मध्यम दान है। अपना काम, सेवा कराकर देना, वह अधम दान है।

किसी भी प्रकार धर्म में द्रव्य (धन) खर्च न करे, तृष्णा के वश हुआ धन कमा-कमा कर संचित ही करना चाहे तो वह पुरुष मर कर सर्प होता है , बाद में परम्परा से नरक जाता है, निगोद जाता है । जहां नाना प्रकार के छेदन, भेदन, मारन, ताडन, शूल रोपण आदि तो नरक के दु:ख हैं तथा मन, कान, आंख, नाक, जिह्वा का तो अभाव होता है, तथा केवल स्पर्श इन्द्रिय के द्वारा एक अक्षर के अनन्तवें भाग ही ज्ञान शेष रह जाता है, उसमें भी आकुलता पावे, ऐसी एकेंन्द्रिय पर्याय है । (एकेन्द्रिय पर्याय में) नरक से भी विशेष दु:ख जानना । वह लोभी पुरुष ऐसी नरक निगोद पर्याय में अनन्त काल तक भ्रमण करता है । वहां से दो इन्द्रिय आदि पर्याय पाना महादुर्लभ है । अत: लोभ परिणति को अवश्य त्यागना योग्य है ।

जो जीव नरक, तिर्यंच गति में ही वापस जाने योग्य है, उसका तो यह स्वभाव होता है कि उसे धन बहुत प्रिय लगता है । वह धन के लिये अपने प्राणों का भी त्याग करता है, परन्तु धन का ममत्व छोडता नहीं, तो वह बेचारा रंक, गरीब, कृपण, हीनबुद्धि, महामोही परमार्थ के लिये दान कैसे करेगा ? उसके द्वारा चांदी का रुपया कैसे दिया जावेगा ? वह कृपण और कैसा है ? मोह रूपी मक्खी के समान उसका स्वभाव है अथवा उसकी परिणति चींटी के समान है ।

दातार की महिमा :– जो दातार पुरुष हैं वे देव गति से आये हैं अथवा देवगति या मोक्षगति में जाने योग्य हैं, यह न्याय ही है । तिर्यंच गति से आये जीव का उदार चित्त कैसे होगा ? जहां बेचारे ने असंख्यात, अनन्त काल पर्यंत कोई भी भोग सामग्री देखी नहीं तथा अब मिलने की आशा नहीं, तो उसकी तृष्णा रूपी अग्नि किंचित विषय सुख से कैसे बुझेगी ? तथा असंख्यात वर्ष पर्यन्त अहमिंद्र आदि देव-पुनीत आनन्द सुख भोगने वाले ऐसे जीव मनुष्य पर्याय जो हड्डियों, मांस, चमडे का पिंड, मल मूत्र से पूरित ऐसे शरीर का पोषण करने में कैसे आसक्त होंगे ? कंकर, पत्थर आदि द्रव्यों में अनुरागी कैसे हों ?

जिसको भेद-विज्ञान के द्वारा स्व-पर का विचार हुआ है तथा अपने को पर द्रव्य से भिन्न, शाश्वत, अविनाशी, सिद्ध के समान लोक को देखने वाला, आनन्दमय जाना है, उसके प्रसाद से सर्व प्रकार द्रव्यों से निवृत्त होना चाहता है, उसको सहज ही त्याग वैराग्य रूप भाव होते हैं। (वह) एक मोक्ष का ही इच्छुक है, उसे पर-द्रव्य से ममत्व कैसे हो ?

यह धन महापाप क्लेश के द्वारा तों उत्पन्न होता है तथा अनेक उपाय कष्ट करके उसे अपने पास रखना पडता है, उसमें भी महापाप उत्पन्न होता है। उस (धन) को मान-बडाई के लिये अथवा विषय भोग सेवन के लिये अपने हाथ से खर्च करता है, जिसमें विवाह आदि की हिंसा के द्वारा एवं धन के नाश होने से महापाप व कष्ट उत्पन्न होता है। बिना दिये भी राजा अथवा चोर आदि छीन, लूट लेते हैं अथवा अग्नि से जल जाता है अथवा व्यन्तर आदि छीन लेते हैं अथवा स्वयमेव ही गुम हो जाता है अथवा विनश जाता है, उसके (उससे होने वाले) दु:ख अथवा पाप बंध का क्या पूछना ?

अत: सत्पुरुषों ने इस पर-द्रव्य का ममत्व करना हेय कहा है, किसी भी प्रकार उपादेय नहीं है। परन्तु स्वयं की इच्छा पूर्वक परमार्थ के लिये दान में दे, खर्च करे तो इस लोक में तथा परलोक में महासुख भोगे तथा देव आदि के द्वारा पूज्य हो। उसके दान के प्रभाव से त्रिलोक पूज्य जिनके चरण-कमल हैं ऐसे मुनिराजों का समूह भी दान के प्रभाव से प्रेरित हुआ, बिना बुलाये दातार के घर चला आता है।

दान के समय वे दातार कैसे सुख को प्राप्त होते हैं तथा कैसे शोभित होते हैं ? वह बताते हैं :- मानों आज मेरे (दातार के) घर आंगन में कल्पतरु आया है अथवा कामधेनु आयी है अथवा चिन्तामणी पाई अथवा घर में नव निधियाँ मिली इत्यादि रूप सुख के फल उत्पन्न होते हैं। एवं त्रिलोक द्वारा पूज्य हैं चरण-कमल जिनके, ऐसे महामुनि के हस्तकमल

(हाथ) तो नीचे तथा दातार के हाथ ऊपर, ऐसी शोभा उत्कृष्ट पात्र को दान के अतिरिक्त अन्य कौन से कार्य से हो सकती है ।

यदि वे मुनिराज ऋद्धिधारी हों तो पांच आश्चर्य होते हैं उनका वर्णन – (1) रत्न वृष्टि (2) पुष्पवृष्टि (3) गंदोदक वृष्टि (4) देव दुंदुभी अर्थात (देव पुनीत) वाध्यों का बजना (5) देवों के द्वारा जय-जयकार । ये पांच आश्चर्यकारी बातें होती हैं, अत: इन्हें पंचाश्चर्य कहा जाता है ।

उस दिन उस चार हाथ की रसोई में बने नाना प्रकार के पकवान एवं सब्जियां अमृतमय तथा अटूट हो जाते हैं, उस दिन उस रसोई-शाला में चक्रवर्ती की सेना भी एक साथ अलग-अलग बैठकर भोजन करे तो भी स्थान कम नहीं पडता तथा न ही भोजन कम पडता है, ऐसा आश्चर्य होता है । (वह दातार) नगर के लोगों के साथ बडे-बडे राजाओं तथा इन्द्र आदि देवों द्वारा पूज्य, एवं प्रशंसा के योग्य होता है तथा उसके द्वारा दिये गये दान की अनुमोदना कर बहुत से जीव महापुण्य उपार्जित कर परम्परा से मोक्ष को प्राप्त करते हैं ।

इस ही प्रकार सम्यग्दृष्टि दातार तीन प्रकार के पात्रों को दान देने पर स्वर्ग में ही जाते हैं । यदि मिथ्यादृष्टि दान देते हैं तो जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भोगभूमि जाकर फिर मोक्ष प्राप्त करते हैं । पात्र-दान लोक में तथा परलोक में इसप्रकार के फल देने वाला है ।

दु:खित भूखे जीवों को करुणा करके दान दिया जाने पर भी महापुण्य होता है । सबसे बडा सुमेरु (पर्वत) है, उससे भी बडा जम्बूद्वीप है, उससे भी बडा तीन लोक है, तथा उससे भी बडा लोकालोक प्रमाण आकाश द्रव्य है । पर वे तो कुछ देते नहीं हैं, अत: इनकी तो शोभा नहीं है । उससे भी बडा दातार है, उससे भी बडा अयाची (याचना न करने वाला) त्यागी पुरुष है । फिर भी कोई अज्ञानी, मूर्ख, कुबुद्धि , अपघाती (दान का) ऐसा फल जानकर भी दान नहीं करे तो उसके लोभ का अथवा अज्ञान का क्या पूछना (कहना) ?

कदाचित्त (कोई पुरुष) दान करके कुपात्र का पोषण करता है तथा (उसके फल में) पुण्य चाहता है तो वह पुरुष किस के समान है ? जैसे कोई पुरुष सर्प को दूध पिला कर उसके मुँह से अमृत प्राप्त करना चाहे, अथवा जल को बिलोकर घी निकालना चाहे, पत्थर की नाव पर बैठकर स्वयंभूरमण समुद्र तैरना चाहे, अथवा बज्राग्नि में कमल का बीज बोकर उस कमलिनि के पत्ते की छाया में आराम करने की उमंग रखे, अथवा कल्पवृक्ष को काट कर धतूरा उगावे, अथवा अमृत को छोडकर हलाहल विष का प्याला पीकर अमर होना चाहे, तो क्या उस पुरुष का मनवांछित कार्य सिद्ध होगा ?

कार्यसिद्धि (कार्य का फल) तो कार्य के अनुसार ही होगी (होगा), यदि झूंठ ही भ्रम बुद्धि से माने (अन्य प्रकार के वांछित फल चाहे) तो क्या होने वाला है ? जैसे कोई कांच के टुकडे को चिन्तामणी रत्न जानकर बहुत अनुराग पूर्वक पल्ले से बाँधे रखे, तो क्या वह चिन्तामणी रत्न हो जावेगा (इच्छित वस्तु दे पावेगा) ? अथवा जैसे बालक मिट्टी, काष्ट, पत्थर के आकार को ही हाथी, घोडा मानकर संतुष्ट हो, वैसे ही कुपात्र-दान (का फल) जानना । बहुत क्या कहें ?

जिनवाणी में तो ऐसा उपदेश है – हे भाई ! धन-धान्य आदि सामग्री अनिष्ट लगती है तो उसे अंध कुये में डाल दे । तेरा द्रव्य ही जावेगा, अपराध तो नहीं होगा । कुपात्र को दान देने पर धन भी जाता है तथा परलोक में नरक आदि भवों के दु:ख सहने पड़ते हैं । अत: प्राण जावें तो जाओ, पर कुपात्र को दान देना उचित नहीं है, यह न्याय की ही बात है । पात्र तो आहार आदि लेकर मोक्ष का साधन करते हैं, तथा कुपात्र आहार आदि लेकर अनन्त संसार बढाने वाले कार्य करते हैं । कार्य के अनुसार ही कारण के कर्त्ता दातार को फल लगता है । यदि पात्र को दान दिया तो मानो मोक्ष का ही दान दिया तथा कुपात्र को दान दिया तो वह (दान) अनन्त संसार में उसे डुबोवेगा तथा अन्य जीवों को भी

डुबोवेगा । ऐसा जानकर बुद्धिमान पुरुषों को सर्व प्रकार से कुपात्र को दान देने का त्याग ही करना चाहिये । सुपात्र को दान देना उचित है ।

गृहस्थ के घर की शोभा धन से है तथा घर की शोभा दान से है । धन प्राप्त होता है वह धर्म से ही प्राप्त होता है, धर्म के बिना एक कौडी भी पाना दुर्लभ है । यदि अपने किये पुरुषार्थ से ही धन की प्राप्ति होती हो तो पुरुषार्थ तो सभी जीव कर रहे हैं । एक-एक जीव का तृष्णा रूपी गड्डा इतना विशाल गहरा है कि उसमें डाली गयी तीन लोक की सम्पदा भी परमाणु मात्र ही दिखाई देती है । ऐसे तृष्णा रूपी गड्डे को सभी जीव भरना चाहते हैं परन्तु आज तक किसी भी जीव के द्वारा भरा नहीं जा सका (किसी भी जीव की तृष्णा पूर्ण नहीं हो सकी)।

इसलिये सत्पुरुष तो तृष्णा को छोडकर संतोष को प्राप्त हुये हैं, तथा त्याग वैराग्य की उपासना करते हैं, एवं उसी के प्रसाद से ज्ञानानन्द मय निराकुल शांत रस से पूर्ण सूक्ष्म, निर्मल केवलज्ञान लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं, तथा अविनाशी, अविकार, सर्व दोषों से रहित, परमसुख को सदैव प्रति समय अनन्तकाल पर्यन्त भोगते हैं । निर्लोभता का ऐसा फल है । अत: सभी जीव निर्लोभता को सर्व प्रकार उपादेय जानकर उसकी उपासना करो, कृपणता को दूर ही से तजो ।

आगे दु:खित भूखों को दान देने का विशेष कथन करते हैं – अंधे, बहरे, गूंगे, लूले, लंगडे बालक, वृद्ध, स्त्री, रोगी, घायल, भूखे, सर्दी से पीडित, बंधे हुये अथवा क्षुधा-तृषा – शीत से पीडित तिर्यन्च, प्रसूती स्त्री, कुत्ती, बिल्ली, गाय, भैंस, घोडी आदि जिसका कोई रक्षक, सहायक न हो अथवा पति न हो (विधवा हो) तथा पहले कहे हुये मनुष्य, तिर्यन्च हैं वे सब अनाथ, पराधीन, गरीब, तथा दु:खी हैं । दु:ख से महाकष्ट सहते हैं, तथा विलाप करते, एवं दीन वचन कहते हैं । दु:ख सहने में असमर्थ हैं, उनके अपने दु:ख के कारण उनका चहरा रुआंसा हो गया है, शरीर से

क्षीण हैं, बल रहित हैं। ऐसे दु:खी प्राणियों को देखकर दयालु पुरुष भयभीत होते हैं एवं वे उनका जैसा दु:ख स्वयं भी अनुभव करते हैं। तथा घबराये चित्त वाले होते हुये वे दयालु पुरुष जिस-तिस प्रकार (जैसे हो सके वैसे) अपनी शक्ति के अनुसार उनका दु:ख दूर करने का प्रयत्न करते हैं।

कोई प्राणी किसी जीव को मारता हो अथवा बंदी बनाता हो तो उसको जिस-तिस प्रकार छुडाते हैं। दु:खी जीवों को देखने के बाद निर्दय होते हुये आगे नहीं चले जाते। जिनका हृदय बज्र के समान है ऐसे निर्दयी पुरुषों को ऐसे (दुखित) प्राणियों को भी देखकर दया नहीं उत्पन्न होती तथा वे ऐसा विचार करते हैं कि ये पापी हैं, पूर्व में किये पापों का फल तो भोगेंगे ही। वे ऐसा विचार नहीं करते कि मैने भी पूर्व में ऐसे ही दु:ख पाये होंगे तथा फिर पाऊंगा। अत: आचार्य कहते हैं कि ऐसी निर्दय परिणति को धिक्कार हो। जिनधर्म का मूल तो एक दया ही है, जिनके हृदय में दया नहीं है, वे जैन नहीं हैं। बिना दया के जैन नहीं होता, ऐसा नियम है।

दान का स्वरूप

आगे दान का स्वरूप बताते हैं :-

(1) औषध दान :- रोगी पुरुषों को औषध दान दो। भिन्न-भिन्न प्रकार की औषधियाँ तैयार करा कर रखो, तथा रोगी द्वारा आकर मांगे जाने पर दो। अथवा वैद्य, नौकर (बीमार की सेवा कर सकने वाला) रख कर उसका इलाज कराओ। इसके फल में देव आदि का निरोग शरीर मिलता है। उसको आयु पर्यन्त रोग की उत्पत्ति नहीं होती। (यदि अगले भव में) मनुष्य शरीर प्राप्त करे तो उसके अपने शरीर में किसी प्रकार के रोग की उत्पत्ति नहीं होती एवं उसके शरीर के स्पर्श से अथवा नहाने के जल से अन्य जीवों के अनेक प्रकार के रोग क्षण मात्र में दूर हो जाते हैं।

(2) आहार दान :- क्षुधा-तृषा से पीडित प्राणी को शुद्ध अन्न तथा जल दो।

भावार्थ :– अन्न तो ऐसा दो जो त्रस जीवों तथा हरितकाय से रहित हो । यथायोग्य अन्न, रोटी, छने जल सहित दो । इसका फल क्षुधा से रहित देव पद की प्राप्ति है । (यदि अगले भव में) मनुष्य हो तो युगलिया (भोग भूमि में मनुष्य तथा तिर्यन्च जोडे सहित ही उत्पन्न होते हैं), तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि पद का धारक महाभोग सामग्री वाला होता है ।

(3) अभय दान :– मारते जीव को छुडावे अथवा स्वयं न मारे तो उसका फल महापराक्रमी वीर्य (शक्ति) का धारक देव, मनुष्य होना है, जिसे किसी प्रकार की शंका (भय) न हो ऐसा पद पाता है ।

(4) ज्ञान दान :– यदि स्वयं पढा हुआ हो तो औरों को सिखावे एवं तत्वोपदेश देकर जिनमार्ग में लगावे । स्वयं शास्त्र लिखे अथवा उनका शोधन करे अथवा गूढ काव्य ग्रन्थों का अर्थ प्रकट करने वाली टीकायें बनावे, धन आदि खर्च कर नाना प्रकार के नये शास्त्र लिखवावे एवं धर्मात्मा पुरुषों को पढने (स्वाध्याय) के लिये दे । यह ज्ञान दान सर्वात्कृष्ट है । इसका फल भी ज्ञान है। ज्ञान दान के प्रभाव से बिना अभ्यास किये ही मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान प्रकट हो जाते हैं तथा फिर शीघ्र ही केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

पर (अन्य) को सुखी करने पर जगत भी उसके लिये सुखदाता (अनुकूल) के रूप में परिणमित होता है ।

गुरु आदि का विनय करने पर स्वयं भी जगत द्वारा विनय किये जाने योग्य होता है ।

भगवान के चमर, छत्र, सिहासन, वाध्य यंत्र, चंदोवा, झारी, रकाबी आदि उपकरण चढाने पर भी ऐसा पद प्राप्त करता है कि उसके ऊपर छत्र फिरे, चमर ढुरें अथवा सिंहासन पर बैठकर देव, विद्याधरों का अधिपति होता है ।

जिन-मंदिर बनवाने से अथवा भगवान की पूजा करने से स्वयं भी त्रैलोक्य पूज्य पद को प्राप्त करता है ।

भावार्थः- तीर्थंकर पद अथवा सिद्ध पद पाता है, यह न्याय ही है। जैसा बीज बोया जाता है वैसा ही फल लगता है। ऐसा नहीं है कि बीज तो अन्य वस्तु का बोया हो तथा फल कुछ अन्य ही लगे, ऐसा त्रिकाल, त्रिलोक में कहीं होता नहीं यह नियम है। जगत की प्रवृत्ति भी इस ही प्रकार की देखी जाती है, जैसा-जैसा ही अनाज बोया जाता है, वैसा-वैसा ही अन्न उत्पन्न होता है। जैसा-जैसा ही वृक्ष का बीज बोया जाता है वृक्ष से वैसे-वैसे ही फल उत्पन्न होते हैं। जैसा-जैसा ही पुरुष स्त्री का अथवा तिर्यन्चों का संयोग होता है, उनके वैसी ही सन्तान की उत्पत्ति होती है। इसप्रकार ही बीज के अनुसार फल की उत्पत्ति जानना।

इस ही लिये श्री गुरु कहते हैं, हे पुत्र ! हे भव्य ! तू अपात्र को छोडकर सुपात्र के लिये दान दे अथवा अनुकम्पा (करुणा) करके दुःखित भूखे जीवों का पोषण कर जिससे उनके कष्ट दूर हों। हट्टे-कट्टे, सुन्दर-पुष्ट अथवा अपने गुरुपने का मान जताने वालों को अत्यअल्प मात्र भी दान देना उचित नहीं है।

अपात्र-दान और कैसा है ? जैसे मुर्दे की शव-यात्रा निकाली जाती है, (उस पर) रुपये-पैसे उछाले जाते हैं जिन्हें चांडाल आदि चुन-चुन कर उठा लेते हैं एवं मुख से धन्य-धन्य कहते जाते हैं, परन्तु दान करने वाला घर का मालिक तो ज्यों-ज्यों देखता है त्यों-त्यों छाती (सीना) ही कूटता है, उसीप्रकार **कुपात्र को दान देने पर लोभी पुरुष यश तो गाते हैं पर ऐसे दान के कारण तो दाता को नरक आदि ही जाना पडता है।**

सम्यक्त्व सहित हो उसे तो पात्र जानना, सम्यक्त्व नहीं हो पर चारित्र हो उसे कुपात्र जानना तथा सम्यक्त्व एवं चारित्र दोनों ही न हो वे अपात्र (हैं उनको दान देने का) फल नरक आदि अनन्त संसार है।

सर्व प्रकार ही दान न दे, वह कैसा है ? श्मशान में पडे मुर्दे के समान है। धन है वह इसका मांस है, इसका कुटुम्ब-परिवार है वह (इसके लिये) गिद्ध पक्षी हैं जो इसके धन रूपी मांस को खा रहे हैं। विषय-कषाय रूपी

चिता में वह जला जा रहा है । इसप्रकार श्मशान में पडे मुर्दे की उपमा इस पर भली प्रकार घटित होती है ।

अत: ऐसी सर्व प्रकार से निंदित अवस्था जानकर कृपणता को छोडकर परलोक का भय ठान (भली प्रकार विश्वास कर) पर-द्रव्य का ममत्व नहीं करना चाहिये । ममत्व ही संसार का बीज है । ऐसी हेय-उपादेय बुद्धि विचार कर शीघ्र ही दान देना तथा परलोक का फल प्राप्त कर लेना चाहिये, अन्यथा यह सर्व धन सामग्री काल रूपी दावाग्नि में भस्म हो जावेगी (या तो यह तुझे छोड जावेगी अथवा तू उसे छोड कर मृत्यु को प्राप्त हो जावेगा), बाद में तुम बहुत पछताओगे ।

यह पछतावा कैसा है ? जैसे कोई आकर समुद्र के किनारे बैठ कर कौआ उडाने के लिये चिन्तामणी रत्न समुद्र में फैंक दे, फिर रत्न के लिये विलाप करे, किन्तु स्वप्न मात्र में भी चिन्तामणी रत्न समुद्र से वापस प्राप्त होता नहीं, ऐसा जानना । बहुत क्या कहें ? उदार पुरुष ही सराहने योग्य हैं, वे पुरुष देव के समान हैं, देव उनकी कीर्ति गाते हैं ।

इसप्रकार अतिथि-विभाग व्रत का कथन पूर्ण हुआ । (दूसरी प्रतिमा के) बारह व्रतों का ऐसा स्वरूप जानना ।

अब आगे श्रावक के (उपरोक्त) बारह व्रतों का तथा सम्यक्त्व के एवं अन्त में समाधिमरण के (प्रत्येक के पांच-पांच अर्थात 14 गुणा 5 = 70) सत्तर अतिचारों का स्वरूप कहते हैं :-

(**नोट :-** जिन कार्यों से व्रत में दोष तो लगे पर व्रत का खंडन न हो, उनको अतिचार कहते हैं, एवं जिन कार्यों से व्रत ही भंग हो जावे उन्हें अनाचार कहते हैं)

सम्यक्त्व के अतिचार

पहले सम्यक्त्व के पांच अतिचार कहते हैं । (1) उसमें *शंका* अर्थात जिनवचनों में संदेह करना (2) *कांक्षा* अर्थात भोगाभिलाषा (3)

विचिकित्सा अर्थात ग्लानि (4) *अन्यदृष्टिप्रशंसा* अर्थात मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा करना (5) *अन्यदृष्टिसंस्तव* अर्थात मिथ्यादृष्टि के समीप जाकर उसकी स्तुति करना।

अहिंसाणुव्रत के अतिचार

इसी प्रकार अहिंसाणुव्रत के पांच अतिचार हैं – (1) *बंध* अर्थात (जीव को) बांधना (2) *वध* अर्थात (जीव को) जान से मारना (3) *छेद* अर्थात छेदना (4) *अतिभारारोपण* अर्थात बहुत (शक्ति से अधिक) बोझ लादना (5) *निरोधन* अर्थात खान-पान आदि रोकना (अथवा समय पर) न देना।

सत्याणुव्रत के अतिचार

सत्याणुव्रत के पांच अतिचार इसप्रकार हैं :– (1) *मिथ्योपदेश* अर्थात झूंठा उपदेश देना (2) *रहोभ्याख्यान* अर्थात किसी की गुप्त बात प्रकट कर देना (3) *कूटलेखक्रिया* अर्थात झूंठे खाते (हिसाब) आदि लिखना (4) *न्यासापहार* अर्थात किसी की अमानत रखी वस्तु को अस्तव्यस्त कर देना (अथवा वापस न देना) (5) *साकार मंत्रभेद* अर्थात किसी पुरुष के चहरे आदि के चिन्ह देख कर उसका अभिप्राय प्रकट कर देना।

अचौर्याणुव्रत के अतिचार

अचौर्याणुव्रत के पांच अतिचार – (1) *स्तेन प्रयोग* अर्थात चोरी का उपाय बताना (2) *तदाहतादान* अर्थात चोरी से प्राप्त किया माल खरीदना (3) *विरुद्ध-राज्यातिक्रम* अर्थात (राज्य का) टैक्स चुराना (4) *हीनाधिक-मानोन्मान* अर्थात तौल में कम देना या अधिक लेना (5) *प्रतिरूपकव्यवहार* अर्थात अधिक मूल्य की वस्तु कम मूल्य में खरीदना।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार

ब्रह्मचर्याणुव्रत के पांच अतिचार – (1) *पर विवाहकरण* अर्थात दूसरों का विवाह कराना (2) *इत्वारिका परिगृहीतागमन* अर्थात

व्यभिचारिणी परायी स्त्री के घर जाना (3) *परिगृहीतागमन* अर्थात पति रहित स्त्री के घर जाना (4) *अनंगक्रीडा* अर्थात शरीर स्पर्श आदि (काम के अंगों के अतिरिक्त अन्य अंगों से) क्रीडा करना (5) *काम तीव्राभिनिवेश* अर्थात काम के तीव्र परिणाम रखना ।

परिग्रह परिमाणाणुव्रत के अतिचार

परिग्रह परिमाणाणुव्रत के पांच अतिचार – (1) *इन्द्रियों के मनोज्ञ* अथवा *अमनोज्ञ* विषयों में हर्ष विषाद करना तथा अन्य (अतिचार) भी कहते हैं – (2) *अतिवाहन* मनुष्य अथवा पशु को अधिक गमन कराना (3) *अतिसंग्रह* अर्थात वस्तुओं का बहुत संग्रह करना (4) *अतिभारारोपण* अर्थात लालच करके (पशुओं पर) अधिक बोझ लादना । (5) *अतिलोभ* अर्थात बहुत लोभ करना । अन्य प्रकार से भी कथन करते हैं – (1) *क्षेत्र वस्तु* अर्थात गांव, खेत, दुकान, हवेली (मकान) आदि (2) *हिरण्यस्वर्ण* अर्थात नकद धन तथा आभूषण (3) *धन-धान्य* अर्थात चौपाये जीव तथा अनाज आदि (4) *दास-दासी* (5) *कुप्य-भांड* अर्थात वस्त्र, बर्तन, सुगंध, भोजन आदि । इनका अतिक्रमण करना अर्थात जो परिमाण किया था उसका उल्लंघन करना ।

दिग्व्रत के अतिचार

दिग्व्रत के पांच अतिचार – (1) *उर्ध्वव्यतिक्रम* अर्थात ऊपर की दिशा में किये गये परिमाण का उल्लंघन करना (2) *अधोव्यतिक्रम* अर्थात नीचे की दिशा में किये गये परिमाण का उल्लंघन करना (3) *तिर्यग् व्यतिक्रम* अर्थात चार दिशा और चार विदिशाओं में किये गये परिमाण का उल्लंघन करना (4) *क्षेत्रवृद्धि* अर्थात क्षेत्र का जो परिमाण किया था उसको बढा लेना (5) *स्मृत्यंतराधान* अर्थात क्षेत्र का जो परिमाण किया था उसे भूल जाना (भूल से बाहर गमन कर लेना)

देशव्रत के अतिचार

देशव्रत के पांच अतिचार – (1) *आनयन* अर्थात मर्यादा किये गये क्षेत्र के बाहर से वस्तु मंगवा लेना (2) *प्रेष्यप्रयोग* अर्थात मर्यादा किये गये क्षेत्र के बाहर वस्तु भेजना (3) *शब्दानुपात* अर्थात मर्यादित क्षेत्र के बाहर से शब्द के द्वारा (आवाज आदि देकर) किसी को बुलाना (4) *रूपानुपात* अर्थात अपना रूप दिखाकर (अथवा इशारा करके) मर्यादित क्षेत्र के बाहर अपना अभिप्राय प्रकट कर देना (5) *पुद्गलक्षेप* अर्थात मर्यादित क्षेत्र के बाहर कंकर आदि कोई वस्तु फेंकना।

अनर्थदण्ड व्रत के अतिचार

अनर्थदण्ड के पांच अतिचार – (1) *कंदर्प* अर्थात काम को बढाने वाले भोजन आदि करना (2) *कौत्कुच्य* अर्थात मुख मोडना, आंख चलाना, भौंहें नचाना आदि (3) *मौखर्य* अर्थात व्यर्थ बकना (4) *असमीक्ष्याधिकरण* अर्थात बिना देखे वस्तु को उठाना रखना (5) *भोगानर्थक्य* अर्थात निषिद्ध भोगोपभोग का सेवन करना ।

सामायिक व्रत के अतिचार

सामायिक व्रत के पांच अतिचार – (1) *मनोयोगदु:प्राणिधान* अर्थात मन की कुटिलता (2) *वचनयोगदु:प्राणिधान* अर्थात वचन की दुष्टता (3) *काययोगदु:प्राणिधान* अर्थात शरीर की दुष्टता (4) *अनादर* अर्थात सामायिक का निरादर (5) *स्मृत्यनुपस्थान* अर्थात पाठ को भूल जाना ।

प्रोषधोपवास के अतिचार

प्रोषधोपवास के पांच अतिचार – (1) *अप्रत्यवेक्षिता–प्रमार्जितोत्सर्ग* अर्थात बिना देखे पोंछे वस्तु उठाना (2) *अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान* अर्थात बिना देखे शोधे उपकरण उठाना (3) *अप्रत्येक्षिताप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण* अर्थात बिना देखे पोंछे बिस्तर (बिछौना) बिछाना (4) *अनादर* अर्थात निरादर से प्रोषध करना (5) *स्मृत्यानुपस्थान* अर्थात प्रोषध के दिन की तिथियों (अर्थात अष्टमी चतुर्दशी) को भूल जाना ।

भोगोपभोग परिमाण शिक्षाव्रत के अतिचार

भोगोपभोग परिमाण व्रत के पांच अतिचार – (1) *सचित्ताहार* अर्थात (सचित्त) हरितकाय आदि का आहार करना (2) *सचित्त सबंधाहार* अर्थात सचित्त से संबंध हुई वस्तु जैसे पत्तल, दौने (पेड के पत्तों से बने खाना रखने की प्लेट व सब्जी रखने का पात्र) आदि में रखी अथवा रखकर आहार करना (3) *सचित्त मिश्राहार* उष्ण जल में शीतल जल मिला दिया गया हो तो उसको ग्रहण करना (4) *अभिषवाहार* अर्थात नमी प्राप्त अथवा द्विदल इत्यादि अयोग्य आहार करना (5) *दु:पक्वाहार* अर्थात जो आहार भले प्रकार पका न हो उसका आहार करना। इसप्रकार पांच भेद जानना।

अतिथि संविभाग व्रत के अतिचार

अतिथिसंविभाग व्रत के पांच अतिचार हैं – (1) *सचित्त निक्षेप* अर्थात सचित्त जो पत्तल दोने आदि में रखे आहार को देना (2) *सचित्तपिधान* अर्थात सचित्त से ढकी वस्तु का आहार पात्र को देना (3) *परव्यपदेश* अर्थात् पात्र जीव को दान देने के लिये अन्य को कह कर स्वयं अन्य कार्य के लिये चले जाना (4) *मात्सर्य* अर्थात अन्यों के द्वारा दिये गये दान को देख न सकना (बर्दाश्त न कर सकना) (5) *कालातिक्रम* अर्थात (समय पर दान न देना) हीन अधिक समय लगाना।

सल्लेखना के अतिचार

अन्त में सल्लेखना के पांच अतिचार कहते हैं – (1) *जीविताशंसा* अर्थात जीते रहने की अभिलाषा करना (2) *मरणाशंसा* अर्थात मरण की अभिलाषा करना (3) *मित्रानुराग* अर्थात मित्र (एवं परिवार जनों) में अनुराग रखना (4) *सुखानुबंध* अर्थात इस भव के अथवा पूर्व भव में प्राप्त किये सुखों का चिन्तन करना (5) *निदान* अर्थात पर (अगले) भव में भोगों की अभिलाषा करना।

सामायिक के दोष

आगे सामायिक के बत्तीस दोषों का कथन करते हैं – (1) *अनादर* अर्थात निरादर पूर्वक सामायिक करना (2) *प्रतिष्ठा* अर्थात मान बडाई के लिये सामायिक करना (3) *परपीडित* अर्थात अन्य जीवों को पीडा उत्पन्न करना (4) *दोलापति* अर्थात झूलना (कांपना), सामायिक काल में बालक की तरह झूलते (हिलते) रहना (5) *अंकुश* अर्थात अंकुश की तरह वक्रता लिये सामायिक करना (6) *कच्छप-परिग्रह* अर्थात कछुये की भांति शरीर संकोच कर सामायिक करना (7) *मत्स्योदकवर्तन* अर्थात मछली की तरह नीचे ऊपर होना (8) *मनोदुष्ट* अर्थात मन की दुष्टता रखना (9) *वेदिकाबंध* अर्थात आम्नाय से बाहर (सामायिक करना) (10) *भय* अर्थात भयभीत हुए सामायिक करना (11) *विभस्ति* अर्थात ग्लानि सहित सामायिक करना (12) *ऋद्धिगौरव* अर्थात ऋद्धि प्राप्ति की अभिलाषा मन में रखना (13) *गौरव* अर्थात जाति कुल का गर्व रखना (14) *स्तेन* अर्थात चोर की तरह सामायिक करना (15) *व्यतीत* अर्थात (सामायिक का) काल बीत जाने पर सामायिक करना (16) *प्रदुष्ट* अर्थात अत्यन्त दुष्टता से सामायिक करना (17) *तर्जित* अर्थात अन्य जीवों को भय उत्पन्न करना (18) *शब्द* अर्थात सामायिक के समय सावद्य कार्यों के लिये बोलना (19) *हीलनि* अर्थात पर (अन्य) की निंदा करना (20) *त्रिवलित* अर्थात मस्तक की भौंहें चढाये सामायिक करना (21) *संकुचित* अर्थात मन में संकुचित हुए सामायिक करना (22) *दिग्विलोकन* अर्थात दसों दिशा में इधर-उधर अवलोकन करते रहना (23) *आदिष्ट* अर्थात देखे बिना एवं पूछे बिना उस स्थान पर सामायिक करना (24) *संयम मोचन* अर्थात जैसे किसी की कोई देनदारी हो तो वह जिस-तिस प्रकार देकर पूरी करता है उसीप्रकार जिस-तिस प्रकार सामायिक का काल पूरा करना (25) *लब्ध* अर्थात सामायिक की सामग्री, लंगोट, पीछी अथवा स्थान का साधन बैठ

जावे तो सामायिक कर लेना अन्यथा टाल जाना (न करना) (26) *अलब्ध* अर्थात सामायिक की पूर्ण सामग्री न मिलने पर सामायिक न करना (27) *हीन* अर्थात सामायिक का पाठ पूरा न पढना अथवा सामायिक का काल पूरा होने से पहले ही उठ जाना (28) *उच्चूलिका* अर्थात खण्डित पाठ करना (29) *मूक* अर्थात गूंगे की तरह बोलना (30) *दादूर* अर्थात मेंढक की तरह अस्वर में (पाठ) बोलना (31) *चलुनित* अर्थात चित्त को भ्रमाना। इसप्रकार सामायिक के बत्तीस दोष जानना ।

(**नोट :–** मूल ग्रन्थ जिससे यह भाषारूपान्तर किया गया है उसमें बत्तीस दोषों के स्थान पर इक्तीस का ही कथन है, किसी एक का कथन छूट गया है । भोपाल से सन 1987 में प्रकाशित प्रति में संयम–मोचन को एकसाथ 24–25 नम्बर देकर 32 पूरे किये हैं ।)

सामायिक की शुद्धियाँ

आगे सामायिक में सात शुद्धियाँ रखकर सामायिक करना चाहिये, उनका वर्णन करते हैं । (1) *क्षेत्रशुद्धि* अर्थात जहां मनुष्यों का हो–हल्ला न हो, डांस मच्छर न हों तथा बहुत हवा अथवा बहुत गर्मी या सर्दी न हो। (2) *कालशुद्धि* अर्थात प्रात:, मध्यान्ह एवं संध्या जो सामायिक के काल हैं, उनका उल्लंघन नहीं करता । जघन्य दो घडी, मध्यम चार घडी और उत्कृष्ट छह घडी सामायिक का काल है ।

यदि दो घडी सामायिक करनी है तो प्रात: से एक घडी पहले से लेकर एक घडी दिन चढने तक, चार घडी सामायिक करना है तो दो घडी पहले से लेकर दो घडी दिन चढने तक, तथा छह घडी करना हो तो प्रात: से तीन घडी पहले से लेकर तीन घडी दिन चढने पर्यन्त तक (सामायिक करें)। इस काल के प्रारम्भ में सामायिक की प्रतिज्ञा करें, तथा प्रतिज्ञा के बाद अन्य कार्य में काल (समय) नहीं लगावें।

इसीप्रकार मध्यान्ह के समय एवं संध्या के समय के लिये भी जानना। (3) *आसनशुद्धि* अर्थात पद्मासन में अथवा खडगासन में सामायिक

करना चाहिये । (4) *विनयशुद्धि* अर्थात देव-गुरु-धर्म तथा दर्शन-ज्ञान-चारित्र के प्रति विनय लिये सामायिक करना। (5) *मनःशुद्धि* अर्थात मन को राग-द्वेष रहित रखना। (6) *वचनशुद्धि* अर्थात सावद्य वचन नहीं बोलना (7) *कायशुद्धि* अर्थात बिना देखे बिना शोधे पांव न उठाना न रखना । इसप्रकार सात शुद्धियों का स्वरूप जानना ।

कायोत्सर्ग के दोष

आगे कायोत्सर्ग के बाईस (22) दोषों का कथन करते हैं – (1) *कुड्याश्रित* अर्थात दीवार का आश्रय (सहारा) लेना (2) *लतावक्र* अर्थात बेल की भांति हिलते रहना (3) *स्तंभाश्रित* अर्थात स्तंभ का सहारा लेना (4) *कुंचित* अर्थात शरीर को संकोचना (5) *स्तनप्रेक्षा* अर्थात कुच को देखना (6) *काकदृष्टि* अर्थात कौये की तरह देखना (7) *शीर्षकंपित* अर्थात मस्तक को कंपाना (8) *धुराकंधर* अर्थात कंधों को नीचा करना (9) *उन्मत्त* अर्थात मतवाले की तरह चेष्ठा करना (10) *पिशाच* अर्थात भूत की तरह चेष्ठा करना (11) *अष्टदिशेक्षण* अर्थात आठों दिशाओं में (इधर-उधर) देखना।

(12) *ग्रीवा-गमन* अर्थात गर्दन को घुमाना (13) *मूक-संज्ञा* अर्थात गूंगे की तरह इशारा (संकेत) करना (14) *अंगुलि-चालन* अर्थात अंगुलियों को चलाना (15) *निष्ठीवन* अर्थात खखारना (खांसना) (16) *खलितन* अर्थात कफ निकालना (17) *सारीगुह्य गूहन* अर्थात गुह्य अंग निकालना (18) *कपित्थमुष्टि* अर्थात काथोडी (कैथ) की तरह मुट्ठी बांधना (19) *श्रंखलिताप* अर्थात पाद का सांकल की तरह होना (20) *मालिकोचलन* अर्थात कभी पीठ या मस्तक के ऊपर किसी का आश्रय लेना (21) *अंग-स्पर्श* अर्थात अपने अंगों का स्पर्श करना (22) *घोटक* अर्थात घोडे की भांति पांव रखना । कायोत्सर्ग के ये बाईस दोष जानना ।

श्रावक के अंतराय

आगे श्रावक के चार प्रकार के अंतरायों का कथन करते हैं – (1) मदिरा, मांस, हड्डि, कच्चा चमडा, चार अंगुल लम्बी खून की धारा, बडा पंचेन्द्रिय मरा जीव, विष्टा-मूत्र, चूहा इन आठों को तो प्रत्यक्ष आंख से देख लेने मात्र से ही भोजन में अंतराय हो जाता है ।

(2) उपरोक्त आठ तथा सूखा चमडा, नख, केश, ऊन, पंख, असंयमी स्त्री अथवा पुरुष (अथवा) बडा पंचन्द्रिय तिर्यन्च, रजस्वला स्त्री, प्रतिज्ञा का भंग, मल-मूत्र करने की शंका, मुर्दे का स्पर्श, कांख में से मरे हुये त्रस जीव का निकलना, अथवा बाल का निकलना, कांख में अथवा हाथ आदि स्वयं के अंग से किसी दो इन्द्रिय आदि बडे त्रस जीव का घात हो जाना इत्यादि का भोजन के समय स्पर्श होजाना भोजन में अंतराय हो जाता है ।

(3) मरण आदि के दु:ख के कारण उसके विरह में किसी के रुदन को सुनना, लगी आग के समाचार सुनना, नगर आदि में मरण (मारकाट) को, धर्मात्मा पुरुष पर उपसर्ग को, मृतक मनुष्य का (के समाचार को), किसी का नाक कान छेदन का, किसी चोर आदि को मारने के लिये ले जाने का, चंडाल के बोलने का, जिनबिम्ब अथवा जिनधर्म के अविनय का, धर्मात्मा पुरुष का अविनय हुआ हो उसका इत्यादि महापाप के वचन स्वयं को सत्य प्रतीत हुये हों तो ऐसे शब्द सुनने पर भोजन में अंतराय है ।

(4) भोजन करते हुये ऐसी शंका हो जाना कि यह सब्जी तो मांस जैसी है, अथवा लहू जैसी है, अथवा हड्डी जैसी है, अथवा चमडे जैसी है, अथवा बिष्टा या शहद इत्यादि निंद्य वस्तु जैसी है, तो भोजन में अन्तराय है । पर भोजन में निंद्य वस्तु की कल्पना तो हो जावे पर मन में उसका (उसकी वास्तविकता का) जानपना हो तो अन्तराय नहीं होता ।

इसप्रकार नेत्र से देखने के आठ, स्पर्श के बीस, सुनने के दस, मन के

छह सब मिलाकर चार प्रकार के चवालीस (44) अन्तराय जानना। कोई अज्ञानी जीव रागभाव घटाने के लिये तथा अन्य जीवों की दया के लिये तो इन अन्तरायों को पाले नहीं तथा झूंठे ही मृत, विष्टा आदि का नाम सुनने मात्र से अन्तराय माने तथा फिर झालर-घंटे बजाकर अंधे बहरे की भांति देखे को अनदेखा कर, सुने को अनसुना कर नाना प्रकार के गरिष्ट मेवे, पकवान, दही-दुग्ध, घी, सब्जी, खाद्य-अखाद्य पदार्थ विचार रहित हुआ तथा त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा-अहिंसा के विचार के बिना कामोत्पादक वस्तुयें अघोरी (अपनी इच्छा को किसी भी योग्य अयोग्य विधि से पूरा करके ही रहने वाले मनुष्य) की तरह (पेट भर जाने पर भी) अच्छा न लगने वाला होने पर भी ठसाठस पेट में भरता है, प्रसन्न होकर स्वाद लेता है, तथा भिखारी की तरह श्रावक जैनियों की खुशामद कर मांग-मांग कर खाता है, जैसे कोई पुरुष सूक्ष्म-स्थावर जीवों की तो रक्षा करे पर बडे-बडे त्रस जीवों को आंख बंद करके अखण्ड ही निगलता हो तथा फिर कहे कि मैं सूक्ष्म जीवों की भी दया पालता हूँ।

वह तो ऐसा काम करके वह बेचारे गरीब भोले जीवों के धर्म तथा लौकिक धन को ठगता है तथा (उन्हें) अपने साथ मोह-मंत्र से वश कर कुगति में ले जाता है। जैसे महाकालेश्वर देव तथा पर्वत नाम के ब्राह्मण ने मायामयी इन्द्रजाल के सदृश्य चमत्कार दिखाकर राजा सगर के वंश को यज्ञ में होम कर नरक में भेजा तथा मुंह से कहा कि यज्ञ में होमे प्राणी बैकुंठ में जाते हैं। ऐसे आचरण को कुलिंगियों का (आचरण) जानना।

आगे (श्रावक को) **सात स्थानों पर मौन रहना चाहिये,** उनके स्वरूप का कथन करते हैं – (1) देवपूजा में (2) सामायिक में (3) स्नान में (4) भोजन करते समय (5) कुशील में (6) लघु-दीर्घ शंका के समय अथवा मल-मूत्र क्षेपण में (7) वमन में। इन सात (समय) मौन के धारक पुरुष हाथ से अथवा मुख से संकेत भी नहीं करते न हुंकार करते हैं।

आगे श्रावक के (घर) पर **जीव दया के लिये ग्यारह स्थानों पर चंदोवा होना चाहिये,** उनका कथन करते हैं – (1) पूजा का स्थान (2) सामायिक का स्थान (3) चूल्हे पर (रसोई घर में) (4) परिंडा (अर्थात पानी रखने का स्थान) (5) ओखल पर, (6) चक्की पर (7) भोजन के स्थान पर (8) सेज पर (सोने के पलंग पर) (9) आटा छानने के स्थान पर (10) व्यापार आदि करने के स्थान पर (11) धर्म-चर्चा के स्थान पर – ऐसा जानना ।

सामायिक (तीसरी) प्रतिमा का स्वरूप

आगे सामायिक प्रतिमा का स्वरूप कहते हैं – दूसरी प्रतिमा में अष्टमी-चतुर्दशी तथा अन्य पर्व के दिनों में तो सामायिक अवश्य करता ही करता था, तथा अन्य दिनों में भी मुख्यपने तो करता था पर गौणपने नहीं भी करता हो, पर नियम नहीं था, करे अथवा न भी करे । परन्तु तीसरी प्रतिमा धारी के सर्व प्रकार से (नित्य) सामायिक का नियम होता है । ऐसा जानना ।

प्रोषध (चौथी) प्रतिमा का स्वरूप

आगे प्रोषध प्रतिमा का स्वरूप कहते हैं – उपरोक्त प्रकार ही दूसरी तथा तीसरी प्रतिमा धारी के प्रोषध उपवास का नियम नहीं है, मुख्यपने तो करता है पर गौणपने न भी करे । पर चौथी प्रतिमाधारी के नियम होता है कि जीवन भर (प्रोषध) करे ही करे ।

सचित्त त्याग (पांचवीं) प्रतिमा

आगे सचित्त त्याग प्रतिमा का स्वरूप कहते हैं – दो घडी से अधिक समय पहले का छना हुआ जल तथा हरितकाय की मुख से विराधना नहीं करता है तथा मुख्यपने हाथ से भी पांचों स्थावर जीवों की विराधना नहीं करता है । इसको सचित्त भक्षण का त्याग होता है । पांचों स्थावरों की काय आदि के द्वारा (विराधना का) त्याग नहीं है, (ऐसा त्याग) मुनि को होता है । हाथ आदि से हिंसा का पाप अल्प है तथा मुंह से खाने का

महापाप है । पांचवी प्रतिमा धारी को मुख से (भक्षण का) त्याग होता है, पर शरीर आदि से (विराधना का) त्याग मुनि को होता है । मुनि विशेष संयमी हुये हैं ।

रात्रि भोजन त्याग (छठी) प्रतिमा का स्वरूप

आगे रात्रि में भोजन तथा दिन में कुशील त्याग प्रतिमा का स्वरूप कहते हैं – रात्रि भोजन का त्याग तो मुख्यपने पहली दूसरी प्रतिमा से ही हो चुका है । परन्तु क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मण, शूद्र आदि नाना प्रकार के जीव हैं । स्पर्श शूद्र तक को श्रावक के व्रत होते है । अत: जिनके कुलक्रम से ही रात्रि भोजन का त्याग चला आ रहा है उन्हें तो रात्रि भोजन त्याग सुगम है, परन्तु अन्यमति कोई शूद्र आदि जैन बनकर श्रावक के व्रत ग्रहण करे उसके लिये यह कठिन होता है । इसलिये सर्व प्रकार इसका त्याग छठी प्रतिमा में ही संभव है अथवा अपने (स्वयं के) रात्रि में भोजन करने का त्याग तो पहले से ही था यहां अन्य को भोजन कराने (उपलक्षण से बनाने) का भी त्याग होता है ।

ब्रह्मचर्य प्रतिमा (सातवीं) का स्वरूप

आगे ब्रह्मचर्य प्रतिमा का स्वरूप कहते हैं – (इस प्रतिमा का धारी) यहां स्वयं की पत्नी से भोग का भी त्याग करता है तथा नव बाढ सहित ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार करता है ।

आरम्भ त्याग (आठवीं) प्रतिमा का स्वरूप

आगे आरम्भ त्याग का स्वरूप कहते हैं – यहां (श्रावक) व्यापार, रसोई आदि के आरम्भ करने का त्याग करता है । दूसरे के घर अथवा अपने घर में निमंत्रण मिलने पर अथवा बुलाये जाने पर भोजन करता है ।

परिग्रह त्याग (नवमी) प्रतिमा का स्वरूप

आगे परिग्रह त्याग प्रतिमा का स्वरूप कहते हैं – यहां वह (श्रावक) अपने पहनने के अल्प कपडे जैसे धोती, दुपट्टा, तौलिया आदि रखता है, शेष परिग्रह का त्याग करता है ।

अनुमति त्याग (दसवीं) प्रतिमा का स्वरूप

आगे अनुमति त्याग प्रतिमा का स्वरूप कहते हैं – यहां (श्रावक) सावद्य कार्य (लौकिक कार्यों) का उपदेश देने का भी त्याग कर देता है। (अन्य द्वारा) किये सावद्य कार्य की अनुमोदना भी नहीं करता है।

उद्दिष्ट त्याग (ग्यारहवीं) प्रतिमा का स्वरूप

आगे उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा का स्वरूप कहते हैं – यहां (वह श्रावक) बुलाने पर भी भोजन नहीं करता है। सहसा ही भोजन के लिये निकलता है। इस (प्रतिमा) के दो भेद हैं – (1) क्षुल्लक (2) ऐलक।

क्षुल्लक तो कमंडल-पीछी, आधा दुपट्टा तथा लंगोट रखता है, स्पर्श शूद्र लोहे का पात्र रखता है। उच्च कुलीन पीतल आदि का पात्र रखते हैं। (स्पर्श शूद्र श्रावक) पांच अर्थात कुछ ही घरों से भोजन लेकर अन्तिम घर से पानी लेकर वहीं बैठकर अपने लोहे के पात्र में भोजन कर लेता है, तथा उच्च कुलीन एक ही घर में भोजन करता है तथा एकातरा (एक दिन भोजन करना एक दिन उपवास करना) भी करता है।

ऐलक दुपट्टे को छोडकर एक कमंडल -पीछी तथा लंगोट ही रखता है, एवं अपने हाथ में ही आहार करता है। (केशलोंच) कराता है तथा लाल लंगोट रखता है, दूसरी लंगोट चाहिये तो ले लेता है। आहार के लिये (गृहस्थ) श्रावक के घर जाने पर उसके द्वार पर ऐसे शब्द कहता है – "अखै दान" (अक्षय)। नगर के बाहर मण्डप, मठ आदि में रहता है अथवा मुनियों के समीप वन में रहता है। मुनियों के चरणों की सेवा करता है तथा मुनियों के साथ ही विचरण करता है।

क्षुल्लक भी मुनियों के साथ ही विचरते हैं तथा संसार से उदासीन रहते हैं। ये अनेक शास्त्रों के पारगामी होते हैं तथा स्व-पर विचार के वेत्ता हैं, अत: स्वयं चिन्मूर्ति हुये शरीर से भिन्न स्वभाव में स्थित होते हैं।

ऐलक अथवा अर्जिका तो नियम से क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मण उच्च कुल

के ही होते हैं तथा उत्कृष्ट श्रावक के व्रत धारण करते हैं। क्षुल्लक के व्रत स्पर्श शूद्र भी ग्रहण करते हैं। अस्पर्श शूद्र को प्रथम प्रतिमा का धारण एवं जघन्य श्रावक के व्रत भी संभव नहीं होते हैं तथा नियम पूर्वक प्रतिज्ञा का पालन भी नहीं कर पाते है। बडे सैनी पंचेन्द्रिय तिर्यन्चों में ज्ञान के धारकों को भी मध्यम श्रावक के व्रत होते हैं, देखो श्रावक की तो यह वृत्ति है।

कुमार्गी ऐलक क्षुल्लकों की वृत्ति – तथा महापापी, महाकषायी, महा मिथ्यादृष्टि, महा परिग्रही, महाविषयी, देव-गुरु-धर्म के अविनयी, महातृष्णावान, महालोभी, स्त्री के रागी, महामानी, गृहस्थों जैसे वैभव वाले, महाविकल, सप्त व्यसनों से पूर्ण तथा मंत्र-तंत्र ज्योतिष, वैद्यक, कामना आदि के गंडे-तावीज करके बेचारे भोले जीवों को मोहित करते हैं, बहकाते हैं, उनके किसी भी प्रकार का संवर नहीं है।

तृष्णा अग्नि से जिनकी आत्मा दग्ध हो रही है, वे अपने लोभ के वश ग्रहस्थों से भला मनवाने के बहाने त्रैलोक्य द्वारा पूज्य श्री तीर्थकर देव की शान्त मूर्ति, जिन बिम्ब उसके (गृहस्थ के) घर ले जाकर उसे दर्शन कराते हैं, फिर अपना मतलव साधते हैं (स्वार्थ की सिद्धि करते हैं)। वे स्वयं तो घोर से घोर संसार में डूबे ही हैं, भोले जीवों को भी संसार में डुबाते हैं। दो-चार गांवों के ठाकुर भी सेवक के अपने स्वार्थवश सेवक द्वारा लेजाये जाने पर भी उसके घर जाते नहीं हैं, तो वे सर्वोत्कृष्ट देव हैं, इन्हें कैसे ले जाया जा सकता है ? इसके समान पाप न तो हुआ है न होगा। सो (ये) कैसी-कैसी विपर्यय की बातें (विपरीत बातें) करते हैं। आजीविका के लिये गृहस्थों के घर जाकर शास्त्र पढते हैं (सुनाते हैं) तथा शास्त्रों में (उपदेश का अभिप्राय) तो विषय-कषाय, राग-द्वेष, मोह छुडाने का है, पर वे पापी उल्टे विषय-कषाय, राग-द्वेष, मोह का पोषण करते हैं। ऐसा कहते हैं – अभी तो पंचम काल है, न ऐसे गुरु हैं और न ही ऐसे श्रावक हैं। स्वयं को गुरु मनवाने के लिये गृहस्थ को भी धर्म से विमुख करते हैं।

गृहस्थ को एक श्लोक भी प्रीति पूर्वक सिखाते नहीं हैं, मन में ऐसा विचार करते हैं कि कदाचित इसे ज्ञान हो जावेगा तो हमारे अवगुण इसे प्रतिभासित हो जावेंगे, तब फिर हमारी आजीविका नष्ट हो जावेगी। ऐसे निर्दय अपने स्वार्थ के लिये जगत को डुबोते हैं। धर्म तो पंचम काल के अंत तक रहना है (रहेगा)।

इसे "ला (मुझे भेंट) दे" यही वासना सदा बनी रहती है। जिन धर्म के आश्रय से आजीविका चलाता है। जैसे कोई पुरुष किसी प्रकार आजीविका चलाने में असमर्थ हो, तब अपनी माता को पीठे पर (मार्ग में अथवा बाजार में) बैठा कर आजीविका चलावे। जिनधर्म का सेवन कर सत्पुरुष तो मोक्ष की चाह रखते हैं, स्वर्गादि को भी नहीं चाहते हैं, तो फिर आजीविका चलाने की तो बात ही क्या? हाय, हाय! हुंडावसर्पिणी काल दोष से इस पंचम काल में कैसी विपरीतता फैली है? काल-दुष्काल में गरीब का लडका भूखा मरता हो, दो -चार रुपयों (अल्प सी राशि) के लिये चाकर, गुलाम की भांति मोल बिक जाने के बाद निर्माल्य (इसका वर्णन पहले आ चुका है) खा-खाकर बडा हो, जिन-मंदिरों को अपने रहने का घर बना कर शुद्ध देव-गुरु-धर्म की विनय का तो अभाव करे तथा कुगुरु आदि के सेवन का अधिकारी होकर औरों को ऐसा ही उपदेश देने लगे।

जिसप्रकार अमृत को छोडकर हलाहल विष का सेवन करे, चिन्तामणी रत्न को छोडकर कांच के टुकडों की चाह करे, अथवा कामदेव जैसे पति को छोडकर अंधे, बहरे, गूंगे, लूले, लंगडे, अस्पर्श शूद्र कोढी के साथ विषय सेवन कर अपने को धन्य माने तथा यह कहे कि मैं तो शीलवान पतिव्रता स्त्री हूं, पर ऐसी रीति तो कुत्सित वेश्याओं में ही पायी जाती है। ऐसी (विपरीतताओं) का आसरा लेकर भी अंध जीव धर्म-रसायन चाहते हैं तथा अपने को पुजाकर महन्त मानने लगे हैं।

अपने मुंह से (वह) ऐसा कहता है – मैं भट्टारक दिगम्बर गुरु हूं।

मुझे पूजो, अन्यों को पूजोगे तो मैं दंड दूंगा अथवा तुम्हारे कारण भूखा रहूंगा, अथवा (तुम्हारी) निंदा करूंगा तथा स्त्री को साथ लिये फिरता है। भट्टारक नाम तो तीर्थंकर केवली का है तथा दिगम्बर, दिग् का अर्थ दिशा है और अम्बर का अर्थ वस्त्र है। अत: दसों दिशा रूप वस्त्र ही जिसने पहन रखे हैं उसे दिगम्बर कहते हैं, निर्ग्रन्थ तो परिग्रह रहित होता है, अत: बाह्य में तो तिल-तुस मात्र भी परिग्रह न हो तथा अभ्यन्तर चौदह प्रकार के परिग्रह से रहित हो उसे निर्ग्रन्थ कहते हैं।

वस्तु का स्वभाव तो अनादिनिधन इसी प्रकार का है, तथा मानते अन्य प्रकार हैं। यह स्थिति ठीक इसी कहावत जैसी है कि (कोई कहे) मेरी मां बांझ है। जगत में तो परिग्रह से ही नरक जाते हैं तथा परिग्रह ही जगत में निंद्य है। ज्यों-ज्यों परिग्रह छोडा जाता (छूटता) है त्यों-त्यों संयम नाम प्राप्त करता (होता) है। पर इस तथ्य को तो छोड दिया है तथा हजारों लाखों रुपये की दौलत, घोडे, बैल, रथ, पालकी तो सवारी के लिये तथा चाकर (नौकर) कूकर (कुत्ता, उपलक्षण से पालतू जानवर) तथा कडे-मोती पहन कर, थुरमापावडी बौढे (?-संभवत: जरी वाली रेशमी चादर ओढता) है, जैसे नरक-लक्ष्मी से पाणिग्रहण करने को वर के सादृश्य है।

चेले-चांटी (शिष्य आदि) रूपी फौज तथा चेली (शिष्या) रूपी स्त्री, ऐसे राजा के सदृश्य वैभव सहित होते हुये भी अपने को दिगम्बर मानता है। इसको दिगम्बर कैसे माना जा सकता है ? यह वास्तव में दिगम्बर नहीं है। हुंडावसर्पिणी के पंचम काल की यह मूर्ति विधाता ने घडी (बनाई) है, मानों सप्त व्यसन की मूर्ति ही है अथवा मानों पापों का पहाड ही है अथवा मानों जगत को डुबाने के लिये पत्थर की नाव ही है।

कलिकाल का गुरु और कैसा होता है ? आहार के लिये प्रति दिन नग्न वृत्ति आदरता है तथा भक्तों को बुलाता है। स्त्रियों के लक्षण देखता है, तथा इस बहाने स्त्रियों का स्पर्श करता है। स्त्रियों के मुखकमल को

भ्रमर के समान होकर अवलोकन करता है तथा अत्यन्त मग्न होकर अपने को कृतकृत्य मानता है । यह न्याय ही है क्योंकि इसप्रकार तो नित्य नये नाना प्रकार के गरिष्ट भोजन मिलते हैं तथा नित्य नई युवती-स्त्रियाँ मिलती हैं । इसके सुख का क्या पूछना ? ऐसा सुख तो राजा को भी दुर्लभ है तब ऐसा सुख पाकर कौन पुरुष मग्न नहीं होगा ? होगा ही होगा । वे स्त्रियाँ कैसी हैं तथा कैसे हैं उनके पति ?

स्त्रियों के तो अन्त:करण के परिणाम कैसे बनते हैं तथा पुरुष मोह मदिरा से मूर्छित हुये हैं, अत: इस अन्याय को मिटाने में कौन समर्थ है ? इस ही लिये आचार्य कहते हैं – हम तो इस विपरीतता को देखकर मौन होकर बैठे हैं । इसका न्याय तो विधाता ही करने में समर्थ है, हम नहीं । ऐसे गुरु का सेवन कर (लोग) परलोक में अच्छे फल की कामना करते हैं । उनका ऐसा करना ऐसा ही है , जैसे कोई पुरुष वंध्या के पुत्र के लिये आकाश कुसुमों का सेहरा गूंथ कर स्वयं के मरने के बाद उसकी शादि देखना चाहे, अथवा यश कीर्ति सुनना चाहे, इस सदृश्य उनका स्वरूप जानना। फिर (भक्त तथा गुरु) एक दूसरे की प्रशंसा करते हैं – आप हमारे सतगुरु हैं तथा (गुरु) कहता है – तुम हमारे पुण्यात्मा श्रावक हो । यह ऐसा ही है जैसे ऊंट का तो विवाह हो तथा गधा गीत गाने वाला हो । वे (गधे) तो कहें – वर का रूप तो कामदेव के सदृश्य है तथा वह ऊंट कहे – कैसे किन्नर जाति के देवों के कण्ठ सदृश्य राग में गीत हो रहे हैं । इस सदृश्य (अज्ञानी भेषधारी) श्रावक गुरुओं की शोभा जानना।

यहां कोई कहे – घर के (अपने स्वयं के दिगम्बर भेषधारी) गुरुओं की दशा का तो वर्णन किया पर श्वेताम्बर आदि अन्य मतियों की दशा का वर्णन क्यों नहीं किया ? उनके बीच भी तो खोटे गुरु हैं । उन्हें कहते हैं – हे भाई ! यह न्याय तो तेरे मुख ही से हो चुका । जब ब्राह्मण के हाथ की बनी रसोई ही अशुद्ध ठहरी तो चांडाल आदि के हाथ की रसोई कैसे शुद्ध होगी ? इसप्रकार जानना ।

यहां कोई प्रश्न करे – इसप्रकार के नाना वेष कैसे हुये ?

उसे उत्तर देते हैं – जैसे राजा के सुभट शत्रु की सेना से लडने चले, फिर दुश्मनों के शस्त्र प्रहार से कायर होकर भागे, पर राजा इन्हें भगोडा जानकर नगर में घुसने से मना करदे (घुसने न दे) तथा नगर के बाहर ही किसी स्थान पर इनका सर मूंड कर गधे पर चढाकर नगर के चारों ओर घुमावे, किसी को लाल कपडे पहनावे, किसी को कत्थे के रंग के कपडे पहनावे, किसी को चूडियां पहनावे, किसी का विधवा का सा स्वांग बनावे, किसी को सुहागिन स्त्री का स्वांग बनावे, किसी से भीख मंगवावे, इत्यादि नाना प्रकार के स्वांग करके नगर के बाहर निकाल दे ।

यदि युद्ध में जीत कर आवें तो राजा उनका सम्मान करे, नाना प्रकार के पद दे तथा उनकी बहुत प्रशंसा करे। इस दृष्टान्त के अनुसार दृष्टान्त जानना। तीर्थंकर देव त्रिलोकीनाथ रूपी सर्वोत्कृष्ट राजा के भक्त पुरुष भगवान की आज्ञा मस्तक पर धारणकर मोह कर्म रूपी शत्रु से लडने के लिये गये, ज्ञान वैराग्य की सेना को लुटाकर आप कायर होकर भागे । उन्हें भगवान की आज्ञानुसार (नियमानुसार) विधाता कर्म ने गृहस्थपने रूपी नगर से निकाल कर बाहर ही रखा तथा रक्ताम्बर, टाटाम्बर (पहनने के टाट के वस्त्र), श्वेताम्बर, जटाधारी, कनफटा आदि नाना प्रकार के स्वांग बनाये। जो भक्त पुरुष मोह कर्म की फौज को जीत पाये, उन्हें अरिहन्त देव ने नगर का राज्य दिया, उनकी अपने मुख से बहुत बढ़ाई की तथा भविष्यकाल में तीर्थंकर होगें वे भी प्रशंसा करेंगे । ऐसा स्वरूप जानना ।

इसप्रकार ग्यारह प्रतिमाओं के स्वरूप का विशेष वर्णन किया।

तृतीय अधिकार : विभिन्न दोषों का स्वरूप

रात्रिभोजन का स्वरूप

आगे रात्रि भोजन का स्वरूप, दोष तथा फल का कथन करते हैं। सर्व प्रथम तो रात्रि में त्रस जीवों की उत्पत्ति बहुत होती है, बडे त्रस जीव जैसे डांस, मच्छर, पतंगे आदि तो आंखों से दिख जाते हैं, पर बहुत से छोटे त्रस जीव भी जो दिन में भी आंखों से नहीं दिखते, संख्यात-असंख्यात उत्पन्न होते हैं तथा उनका स्वभाव भी ऐसा होता है कि दूर से ही आ आकर अग्नि पर गिरते हैं, क्योंकि ऐसी ही कोई उनको नेत्र इन्द्रिय के विषय की पीडा है।

सर्दी की बाधा, सर्दी में तो बैठे-बैठे हुये ही चिपट जाते हैं। चींटी, मकोडी, कंथु, कंसारी, माकडा, छोटी छिपकलियाँ आदि त्रस जीवों के समूह क्षुधा से पीडित हुये अथवा घ्राण एवं नेत्र इन्द्रिय (के विषयों) से पीडित हुये भोजन सामग्री पर पहुंच जाते हैं। भोजन सामग्री को तैयार किये बहुत समय हो गया हो, उसकी मर्यादा का उल्लंघन हो चुका हो तो उसमें बहुत त्रस जीवों के समूह उत्पन्न हो जाते है तथा उसी भोजन को रात्रि के समय (खाने के लिये) थाली आदि में रखने पर ऊपर से मक्खियाँ, मच्छर, टांटे, कीडे, मकडी, जाले, छिपकली के बच्चे आदि आ गिरते हैं तथा कंसुरे एवं सांप के बच्चे आदि भी आकर भोजन पर नीचे से चढ जाते हैं अथवा इधर-उधर से ठंडे भोजन पर आ बैठते हैं।

इन निशाचर जीवों को रात्रि में विशेष दिखाई देता है, इसलिये रात्रि में ही विशेष गमन करते हैं। इसप्रकार गमन करते भोजन सामग्री में भी आ पहुंचते हैं। ऐसी भोजन सामग्री को कोई निर्दय पुरुष पशु के समान हुआ भक्षण करता है तो वह मनुष्यों में अघोरी के समान है तथा नाना

प्रकार के जीवों का भक्षण हो जाने के कारण उसे (रात्रि में भोजन करने वाले को) नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं अथवा इन्द्रियाँ क्षीण हो जाती हैं ।

जीवों के मांस का जैसा-जैसा विपाक (पकना एवं भक्षण) होता है, वैसे-वैसे ही रोग उत्पन्न हो जाते हैं, कोढ निकल आता है, फोडे हो जाते हैं, सूल रोग हो जाता है, सफोदर हो जाता है, अतिसार हो जाता है, पेट में कीडे पड जाते हैं, नारवे निकलने लगते हैं, वात-पित्त-कफ उत्पन्न होते हैं, इसप्रकार के अनेक रोगों की उत्पत्ति हो जाती है । अथवा अंधे हो जाते हैं, बहरे हो जाते हैं, पागल हो जाते हैं, बुद्धि रहित हो जाते हैं, ऐसे दु:ख तो इसी पर्याय में उत्पन्न होते हैं तथा इनके फल में सर्प आदि की अनन्त खोटी पर्यायों को प्राप्त होते हैं, एवं परम्परा से नरक आदि में जाते हैं । वहां से निकलकर सिंह, व्याघ्र आदि होकर पुन: नरक में चले जाते हैं ।

इसीप्रकार कितने ही काल पर्यन्त नरक से तिर्यन्च, तिर्यन्च से नरक ऐसी पर्यायों को प्राप्तकर वापस निगोद में जा पडते हैं , जहां से दीर्घ काल तक भी निकलना दुर्लभ है ।

अन्य भी दोष बताते हैं :– चींटी खा जाने से बुद्धि का नाश होता है तथा जलंधर रोग उत्पन्न हो जाता है । मक्खी के भक्षण से वमन होता है । मकडी (के भक्षण) से कोढ हो जाता है, बाल (के भक्षण) से स्वर भंग हो जाता है । अजानकारी में अभक्ष्य वस्तु का भक्षण हो जाने पर बर्र (को खा जाने) से तो शून्यपना हो जाता है, कसारी से कफ, बाय हो जाती है। ली गई प्रतिज्ञा भंग होती है।

त्रस जीवों के भक्षण से मांस भक्षण का दोष लगता है, महाहिंसा होती है, खाना न पच पाने से अजीर्ण हो जाता है, अजीर्ण हो जाने से रोग हो जाते हैं । प्यास लगती है तथा काम वासना बढती है । जहर से मरण हो जाता है। डाकिन, भूत-पिशाच-व्यंतर आदि भोजन को झूंठा

कर जाते हैं । ऐसे पापों से नरक में पतन होता है । ऐसे दोषों के कारण धर्मात्मा पुरुष सर्वप्रकार से जन्म पर्यन्त के लिये रात्रि भोजन का त्याग करो। एक महिने रात्रि-भोजन के त्याग का फल पन्द्रह उपवास के फल जितना होता है । रात्रि भोजन का ऐसा स्वरूप जानना तथा दिन के समय भी तहखान (अंधेरे स्थान), गुफा में अथवा बादल, आंधी, धूल (मिट्टी के चक्रवात) आदि के निमित्त से प्रत्यक्ष अंधकार हो, उस समय भी भोजन करने में रात्रि भोजन के समान ही दोष जानना ।

भावार्थ :– जीव-जन्तु दिखाई देते रहें ऐसे दिन के प्रकाश में ही भोजन करना उचित है, दिखाई न दें तो दिन के समय भी भोजन करना उचित नहीं है ।

(इति रात्रि भोजन दोष ।)

रात्रि में चूल्हा जलाने के दोष

अब रात्रि में चूल्हा (अंगीठी आदि) जलाने के दोषों का कथन करते हैं – प्रथम तो रात्रि के समय में कई जीव-जन्तु दिखाई ही नहीं देते तथा कंडों (गोबर की थापडी) में तो त्रस जीवों का समूह होता है तथा (कंडे के) गीले-सूखे होने का पता नहीं चलता है । सहज सा (बहुत अल्प-सा) गीला हो तो उसमें पैसे-पैसे भर के (बहुत छोटे छोटे) केंचुओं से लेकर बाल के अग्रभाग के संख्यातवें भाग तक के सैकडों, हजारों, लाखों संख्य, असंख्य जीवों का समूह पाया जाता है, जो सभी चूल्हे में भस्म हो जाते हैं । यदि लकडी जलाई जावे तो भी उसमें अनेक प्रकार की लटें अथवा कीडे, कनसुरे अथवा सपलेटे (छोटे सर्प के बच्चे) आदि बहुत त्रस जीवों का समूह होता है।

भावार्थ :– बहुत सी लकडियाँ तो बीधी (घुनी हुई) होती हैं । उनमें तो अनगिनत जीव होते ही हैं, कुछ लकडियाँ पोली (खोखली) भी होती हैं, जिनमें कीडे, मकोडे, कनसुरे, सपलेटे आदि जीव बैठ जाते (बैठे होते) हैं । चतुर्मास के निमित्त आदि से यदि ठंड हो तो कुंथिया तथा निगोद आदि

जीवों की उत्पत्ति हो जाती है, तब वैसे ईंधन (उन्हीं लकडी आदि) को जलाये जाने पर उनमें जो जीव थे, वे सब जल जाते हैं, जिससे होने वाले पाप का क्या कहना ? (जलाये जा चुकने के बाद के) चूल्हे में गर्मी का निमित्त पाकर चीटियां, मकोडे आदि जो छुपे थे, वे उस उष्ण स्थान में आ बैठते हैं, उनका भी चूल्हे में होम हो जाता है । मक्खियां, मकडियां आदि जीव तो रात्रि के समय ऊपर छत पर ही विश्राम करते हैं जो रात्रि के समय चूल्हे का धुंआ किये जाने पर, जिससे सारे घर में आताप फैल जाता है, वे सारे जीव बेहोश हो होकर चूल्हे में अथवा खाना पकाये जा रहे बर्तन में, अथवा आटे में, अथवा पानी में आ गिरते हैं, जिससे उन सब का प्राणांत हो जाता है तथा दूर से ही अग्नि की ज्वाला (चमक) देखकर पतंगे, डांस, मच्छर आ-आकर चूल्हे पर गिरकर भस्म हो जाते हैं ।

रात्रि में आटे आदि सामग्री में इल्ली, सुलसली, कुंथिया आदि होते हैं, छोटे जीव अथवा चींटी, मकोडी, इल्ली आदि चढ जाते हैं । घी, तेल, दूध, मीठे में भी जीव आ पडते हैं । उनमें से कुछ छोटे जीव तो दिन में भी दिखाई नहीं देते, तो रात्रि में वे जीव कैसे दिखाई देंगे ? अत: आचार्य कहते हैं – ऐसे दोषों वाला आहार कैसे किया जावे ?

रात्रि में चूल्हा जलाने को श्मशान की भूमि से भी (जहां बहुत जीव जलाये जाते हैं) अधिक पाप बंध का कारण कहा है । श्मशान में तो दिन में एक-दो ही मुर्दे जलाये जाते हैं, पर चूल्हे में तो अगणित जिन्दा जीव जलाये जाते हैं । अत: रात्रि में चूल्हा जलाने का महापाप है । जो रात्रि में चूल्हा जलाते हैं उनके पाप की मर्यादा हम नहीं जानते, केवली के ही ज्ञान गम्य है । कुछ धर्मात्मा पुरुष तो ऐसे हैं कि रात्रि में दीपक भी नहीं जलाते ।

इसप्रकार रात्रि में चूल्हा जलाने के दोषों का कथन किया ।

अनछने पानी के दोष

आगे अनछने पानी के दोष बताते हैं – तुरन्त छने पानी से भरे लाख करोड हंडों को गिराओ, उसमें भी एकेन्द्रिय जीवों को मारने का पाप

बहुत है । उससे भी असंख्यात गुणा पाप दो इन्द्रिय जीव को मारने का है । उससे असंख्यात गुणा तीन इन्द्रिय को, उससे असंख्यात गुणा चार इन्द्रिय को, उससे असंख्यात गुणा असैनी पंचेद्रिय को, उससे भी असंख्यात गुणा सैनी पंचेन्द्रिय जीव को मारने का पाप है ।

अनछने पानी के एक चुल्लु में लाखों करोडों पांच प्रकार के – दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पंचेन्द्रिय असैनी, सैनी – त्रस जीव तो आकाश के प्रकाश में इधर-उधर उडते धूल में कणों के सदृश्य पाये जाते हैं । यदि उजाले में भली प्रकार देखा जावे तो ज्यों के त्यों नजर आते हैं तथा उनसे भी छोटे पांच प्रकार के असंख्यात जीव, जो उनसे भी असंख्यातवें भाग अवगाहना (शरीर के आकार) के धारक हैं, और भी पाये जाते हैं । पानी छानने पर, छनने के एक-एक छिद्र में से युगपत असंख्यात त्रस जीव अलग निकल जाते हैं जो इन्द्रियों से दिखाई नहीं देते, अवधिज्ञान अथवा केवलज्ञान के द्वारा ही जाने जाते हैं ।

बहुत से मनुष्य पानी छानते भी हैं, पर जीवाणी (छनने के ऊपर रह जाने वाला पानी) जहां का तहां नहीं पहुंचाते हैं, तो वह पानी भी अनछना पानी पीने जैसा ही है । अत: उस अनछने पानी का एक चुल्लु अपने हाथ से बखेरने पर अथवा काम में लेने पर अथवा स्वयं पीने अथवा अन्य को पिलाने पर उसका पाप एक गांव को मारने के समान है।

इसप्रकार हे भव्य ! तू अनछना पानी पी अथवा खून पी, अनछने पानी से स्नान कर अथवा खून से स्नान कर, खून से भी अधिक पाप अनछने पानी में कहा गया है । खून तो निंद्य है ही, अनछने पानी को काम में लेने में असंख्यात त्रस जीवों का घात होता है, तथा जगत में निंद्य है । महानिर्दयी पुरुष इसके पाप के कारण भव-भव में रुलते हैं , नरक तिर्यंच गति के क्लेशों को प्राप्त करते हैं । उनका संसार समुद्र में से निकलना दुर्लभ है । ज्यादा क्या कहें, इसके समान पाप अन्य नहीं है ।

जैन की पहिचान

जैन पुरुषों के तीन चिन्ह हैं ।

(1) जिन प्रतिमा के दर्शन किये बिना भोजन नहीं करना ।

(2) रात्रि में भोजन नहीं करना ।

(3) अनछना जल नहीं पीना । इनमें से एक की भी कमी हो तो वह जैन नहीं है, अन्य मति शूद्र आदि के समान है । अत: अपने हित के वांछक पुरुष शीघ्र ही अनछने पानी को छोडो ।

अनछने पानी के दोषों का कथन समाप्त ।

जुआ के दोष

आगे सात व्यसनों में से छह को छोडकर मात्र एक जुआ के दोषों का वर्णन करते हैं । छह व्यसनों के दोष तो प्रकट दिखते हैं, जुआ के दोष अप्रकट हैं, अत: उन्हें छह व्यसनों से अधिक प्रकट दिखाते हैं । जुंआ में हार हो जाने पर चोरी करनी पडती है । चोरी का धन आने पर परस्त्री की चाह होती है । परस्त्री का संयोग न मिले तो वेश्या के जाता है । वेश्या के घर मदिरा पान करता है, जिसके पीने से मांस की चाह होती है । मांस की चाह होने पर शिकार खेलना चाहता है । इसप्रकार सात व्यसनों का मूल एक जुआ ही है ।

इसके सेवन से अन्य भी बहुत दोष उत्पन्न होते हैं । जुवारी पुरुष की जगह (संपत्ति) के स्थान पर आकाश रह जाता (खत्म हो जाती) है । इस लोक में अपयश होता है, इज्जत बिगडती है, विश्वास मिट जाता है, राज्य आदि से दंड पाता हैं । अनेक प्रकार के कलह क्लेश बढते हैं । क्रोध तथा लोभ भी अत्यन्त बढ जाते हैं । जन-जन के आगे दीनपना प्रकट दिखाई देता है । इत्यादि अनेक दोष जानना । बाद में (अगले भव में) इसके पाप में नरक जाता है, जहां सागरों पर्यन्त तीव्र वेदना सहता है । अत: जो भव्य जीव हैं वे द्युत कर्म (जुआ खेलना) शीघ्र छोडें। पाण्डव आदि ने इस द्युत कर्म के वश होकर ही सारी विभूति तथा राज्य खोया था।

खेती के दोष

आगे खेती के दोषों का कथन करते हैं – अषाढ के मास में प्रथम वर्षा हो जाने पर उसके निमित्त से सारी पृथ्वी जीवमय हो जाती है, एक अंगुल जमीन भी जीव रहित नहीं बचती । उस भूमि को हल से फाडते (जोतते) हैं, जिससे अर्थात भूमि खुदने से सर्वत्र त्रस तथा स्थावर जीव नाश को प्राप्त होते हैं । पुन: पूर्ववत नये जीव उत्पन्न हो जाते हैं । दूसरी वर्षा में वे भी सारे मरण को प्राप्त होते हैं । पुन: जीवों की उत्पत्ति होती है, पुन: हल के द्वारा मारे जाते हैं, ऐसी भूमि में बीज बोया जाता है, जिससे सब स्थानों पर अन्न के अंकुर अनन्त निगोद राशि सहित उत्पन्न होते हैं ।

पुन: वर्षा होने पर उससे अगणित त्रस-स्थावर जीव उत्पन्न हो जाते हैं, निदाई करने पर वे समस्त जीव मारे जाते हैं । पुन: वर्षा से ऐसे ही अन्य जीव उत्पन्न होते हैं तथा पुन: धूप अथवा निंदाई से मरण को प्राप्त होते हैं । इसीप्रकार चतुर्मास पूर्ण होता है । बाद में सारा खेत जो त्रस-स्थावर जीवों से भरा होता है, उसे हंसिया के द्वारा काटा जाता है, जिसे काटने से सारे जीव दल-मारे जाते हैं । इसप्रकार तो चतुर्मास की खेती का स्वरूप जानना ।

आगे गर्मी के मौसम की खेती का स्वरूप कहते हैं – पहले तो श्रावण के महिने से लेकर कार्तिक माह तक पांच सात बार हल, कुश, फावडे आदि से भूमि को आमने-सामने चूर्ण करते हैं । उसके बाद उसके लिये दो-चार वर्ष पहले से संचित किया खाद अथवा दो-चार वर्ष से एकत्रित की हुई गोबर आदि खेत में डालते हैं । इससे उस मिट्टी की स्थिति का क्या पूछना ?

जितना उस मिट्टी का वजन हो उतने ही लट आदि त्रस जीव जानना । एक दो दिन की विष्टा, गोबर आदि प्रकट पडा रह जाता है, तो उसमें

लाखों, करोडों आदि अनगिणत लट आदि कलबलाते त्रस जीव आंखों से देखे जा सकते हैं । तब दो चार वर्ष से संचित किये सैकडों मण (मण लगभग 37 किलो वजन के बराबर होता है) गोबर, विष्टा आदि अशुचि वस्तुयें एक पर एक एकत्रित हुई गर्मी, सर्दी सहित पडी रही हों उसमें *जीवों की उत्पत्ति का वर्णन कौन कर सकता है ।*

उस प्रकार के जीवों की राशि को फावडे से काट-काट कर महानिर्दयी हुआ खेत में बिखेरे (फैलाकर डाले) तथा उस पर लकडी का पाटा फिरावे, बाद में उसमें बीज बोये, मार्गशीर्ष के महिने से लेकर फाल्गुण मास पर्यन्त बावडी, तलाब के अनछने जल से प्रतिदिन सिंचाई करे । ऐसा करने से पहले जो जल में त्रस-स्थावर जीव हों, वे तो प्रलय को प्राप्त हों ही तथा सर्दी के निमित्त से त्रस-स्थावर जीव पुनः उत्पन्न हो जाते हैं । इसीप्रकार चार पांच माह तक पहले के उत्पन्न हुये जीव तो मरते जाते हैं तथा नये-नये उत्पन्न होते जाते हैं ।

ऐसा होने पर भी अनेक उपद्रवों के कारण खेती निर्विघ्न घर पर आ ही जावे अथवा न भी आवे । कदाचित आ भी जावे तो उसमें से सरकार का लगान चुक भी पावे, न भी चुक पावे । इसप्रकार इसका नफा तो ऐसा अल्प है तथा पाप ऊपर कहे अनुसार (बहुत अधिक) है । असंख्यात त्रसजीव, अनन्तानन्त निगोद राशि आदि त्रस-स्थावर जीवों का घात होने पर एक हिस्सा अनाज अपने हिस्से आता है ।

भावार्थ :- इतनी हिंसा होने पर अनाज का एक-एक कण पैदा होता है, फिर भी कोई यह जाने कि खेती करने पर सुख होगा तो उससे कहते हैं :- जहां तक (मनुष्य में) खेती करने के संस्कार रहते हैं, वहां तक उसका राक्षस, दैत्य,दरिद्र, कलंदर (सपेरा) जैसा स्वरूप जानना तथा अगले भवों में नरक आदि फल मिलता है । अतः ज्ञानी विचक्षण पुरुष खेती करना छोडें । खेती का सामान संग्रह करने के दोष भी इसी प्रकार का जानना, जो प्रत्यक्ष नजर आते हैं, उनका क्या लिखना? तथा कुआ,

बावडी, तलाब बनाने के पाप से खेती-मकान बनाने के पाप को असंख्यात, अनन्त गुणा पाप जानना ।

(इति खेती दोष ।)

रसोई बनाने की विधि

आगे खाना बनाने की विधि बताते हैं । खाना बनाने में तीन बातों के द्वारा विशेष पाप होता है। एक तो बिना शोधे (शुद्ध किये) अन्न का प्रयोग, दूसरा विवेक रहित अनछने जल का प्रयोग, तीसरा बिना देखा ईंधन का प्रयोग। इन तीन पापों पूर्वक बनी रसोई (भोजन) मांस के सदृश्य जानना तथा तीनों रहित जो भोजन तैयार हो उसे शुद्ध भोजन जानना। उस (भोजन) का स्वरूप कहते हैं ।

प्रथम तो अनाज का बहुत संग्रह न करे, दस दिन अथवा पांच दिन के योग्य अनाज दस पांच स्थानों (दुकानों) पर देखकर बिना घुना हुआ लावे । फिर दिन के समय ही अच्छी प्रकार शोध बीन कर दिन में ही चक्की को सूखे कपडे से पोंछकर पीसे । लोहे, पीतल, बांस आदि की चर्म रहित चलनी से छान ले । इसप्रकार तो आटे की क्रिया जानना ।

ईंधन :– छाने (गोबर की थापडी) को छोडकर, दरार रहित प्रासुक लकडी अथवा कोयला है वह शुद्ध ईंधन है, छाने, गोबर रसोई में अपवित्र हैं, उनमें जीवों की उत्पत्ति विशेष होती है । अन्तर्मुहूर्त से लेकर जहां पर्यन्त उनमें सर्दी (नमी) रहे, तब तक उनमें अनेक जीव उत्पन्न होते रहते हैं। फिर गोबर के सूखने से सारे जीवों का नाश होता है । सूखने के बाद उन (मृतक जीवों) के कलेवर जैसे बडे-बडे गिंडोले आदि के कलेवर, आदि आंखों से देखे जाते हैं । बाद में चतुर्मास में सर्दी (ठंडक नमी) के निमित्त से असंख्यात कुंथिया, लट आदि त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं । अत: छानों (कंडों) का जलाना तो हिंसा के दोष के कारण सर्वप्रकार छोडने योग्य है ।

लकडी व कोयला काम में लेने योग्य है । इनमें भी कोयला तो सर्व प्रकार से त्रस-स्थावर जीवों से रहित प्रासुक (शुद्ध) है, अत: मुख्य रूप से जलाना उचित है । लकडी अधिकतर तो बीधी (घुनी हुई) होती है, अत: बुद्धिमान पुरुष विशेष रूप से घुनी हुई, छिलके वाली, पोली, कानी, कपाडी लकडियों को छोडकर अघुनी, छेद रहित लकडी का प्रयोग करते हैं । इसमें आलस्य प्रमाद नहीं रखते । उनको जलाने में अगणित अपार पाप है, अत: (उन्हें) विवेक से काम लेने पर कम (पाप) लगता है । धर्मात्मा पुरुषों को ईंधन की विशेष सावधानी रखनी चाहिये। खोखली (पोली) लकडी में चींटियों, मकोडी, दीमक, कनखजूरा, सर्प आदि अनेक त्रस जीव बैठ जाते हैं, अत: बिना देखे जलाने पर सब के सब भस्म हो जाते हैं।

पार्श्वनाथ तीर्थंकर के समय कमठ निर्दय होता हुआ पंचाग्नि तप करता था, वहां पोली (खोखली) अधजली लकडी में पार्श्वनाथ ने अपने अवधिज्ञान से उसमें सर्प-सर्पणि को (जलते, मरते) देखकर उन्हें णमोकार मंत्र सुनाया, जिससे उन्हें देव लोक की प्राप्ति हुई । इसी प्रकार बिना देखे ईंधन में जीवों का भस्म हो जाना जानना । अधिक क्या कहें?

पानी की शुद्धता

तलाब, कुंड, तुच्छ जल वाली बहती नदी, जिसमें से पानी न निकाला जाता हो ऐसा कुआ, बावडी का पानी तो छना होने पर भी अयोग्य है, इनके जल में त्रस जीवों की मात्रा जो इन्द्रियों द्वारा दिखने में आती है, ऐसी होती है । जिस कुये का जल चरस (पानी निकालने का चमडे का पात्र) अथवा पणघट के द्वारा (स्त्रियों आदि के द्वारा पीने के लिये नित्य पानी) निकाला जाता रहता हो, उसमें (उनके जल में) जीव नजर नहीं आते। ऐसे जल को कुये पर स्वयं जाकर अथवा अपना विश्वस्थ पुरुष जाकर दोहरे, सपाट, गांठ आदि से रहित ऐसे कपडे से, जिसमें

पानी एक क्षण ठहरता हो, तुरन्त न निकल जाता हो, अनुक्रम से धीरे धीरे छनता हो, छानना चाहिये।

वह कपडा जिस बर्तन में पानी छाना जाना है उसके मुख से तीन गुणा लम्बा तथा इतना चौडा कि दोहरा करने पर चौकोर हो जावे ऐसा जानना (ऐसा होना चाहिये) अथवा बिना छना ही यत्नपूर्वक घर पर ले जाकर अच्छी तरह यत्नपूर्वक छानना चाहिये । छानते समय अनछने जल की कोई बूंद जमीन पर न गिरे एवं न ही अनछने जल की कोई बूंद छने पानी में अंश मात्र भी गिरनी चाहिये। पानी को इसप्रकार से छानना चाहिये। अनछने पानी के हाथों को छने जल से अनछने जल के पात्र में धोवे। हाथ धाने के बाद पानी छाने जाने वाले बर्तन को पकडे तथा तीन बार छने जल से धोने के बाद उसके मुंह पर (पानी छनने में काम लिया जाने वाला) छनना लगावे। बांये हाथ में डोल, बाल्टी, कटोरा अथवा तपेला (भगोना) रखे, दांये हाथ में गिलास आदि लेकर पानी भर कर डाले। बाल्टी को ऊपर लिये लिये ही पानी छाने जाने वाले बर्तन पर झुकावे, जिससे अनुक्रम से थोडा-थोडा पानी छने। अधिक पानी छानना हो तो बर्तन को ऊपर उठाकर छनने के ऊपर धीरे-धीरे तिरछा करें तथा अनछने पानी के हाथ धोकर आसपास के सूखे स्थान से छनने को पकडकर उल्टा करें। छने पानी से अवशेष बचे हुये अनछने पानी में जीवाणी करें अथवा उस बर्तन में जीवाणी करें। बीच में जीवाणी की तरफ से छनना चारों कोनों से ही पकड़ें नहीं तथा फिर चार पहर के भीतर ही जहां से जल लाया गया है वहां ही कुये पर उस (अनछने) जिवाणी वाले जल को पहुंचा दें। उस (जीवाणी के जल वाले बर्तन) को कडे से उल्टा बांध कर डोरी को वापस पांच-सात अंगुल की लकडी बांध कर लोटे के अन्दर इस तरह लगा दें कि लकडी *के सहारे से लोटा सीधा कुंये के अन्दर चला जावे तथा कुये के पैंदे जल के* ऊपर लोटा पहुंच जावे तब ऊपर से डोर को हिला दें। लोटे में से लकडी

निकल जाने पर लोटा उल्टा होकर ऊपर से खेंचने पर ऊपर चला आवेगा। इसप्रकार जीवाणी पहुंचाना चाहिये।

इसप्रकार न पहुंचाई जा सके तो समस्त छाने पानी की जिवाणी एकत्रित करके, पानी भरने (खींचने) के पात्र में जिवाणी डालकर पानी लाने वाली स्त्री को देदें। पानी भरने वाली उस स्त्री को बंधा मासिक वेतन से कुछ अधिक दें तथा उससे कह दें कि बर्तन को सीधा ही कुये के नीचे उतार देना, रास्ते में अथवा कुये में ऊपर से जिवाणी मत डाल देना। यदि इसप्रकार रास्ते में अथवा कुये के ऊपर से जिवाणी डालते पाऊंगा तो तुझे पानी भरने से अलग कर दिया जावेगा। इतना कहने के बाद भी गुप्त रूप से पीछे-पीछे कुये तक जाकर पता करें। इसप्रकार पूर्व कहे अनुसार जिवाणी को सीधे नीचे उतारे, तो उसकी विशेष प्रशंसा करें। कुछ राशि ज्यादा देनी पडे तो हिचकना नहीं (अधिक दे ही देना) अथवा उसे पाप का भय दिखावे। इसप्रकार जिवाणी पहुंचाई जावे उसी को छना पानी पीना कहते हैं।

उपरोक्त प्रकार जिवाणी न पहुंचाई गयी हो तो फिर अनछना पानी ही पीया कहा जावेगा, अथवा शूद्र के समान कहा जावेगा। जिनधर्म में तो दया का नाम ही क्रिया है, दया के बिना धर्म नहीं कहा जाता। जिनके हृदय में दया है वे ही पुरुष भव सागर तिरते हैं। इसप्रकार पानी की शुद्धता का स्वरूप जानना।

आटे की शुद्धता

मर्यादा से अधिक समय के आटे में कुंथिया, सूलसली आदि अनेक जीवों की राशि अथवा सर्दी (नमी) में निगोद राशि सहित जीव उत्पन्न हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों मर्यादा से रहित का आटा रहता है त्यों-त्यों अधिक बडे शरीर के धारक तथा आटे की कणिका के सदृश्य त्रस जीव

उत्पन्न हो जाते हैं जो प्रत्यक्ष ही आंखों से दिखाई देते हैं । अत: मर्यादा से बाहर का आटा तथा बाजार का तो तुरन्त पिसा आटा भी छोडने योग्य है । जितनी आटे की कणिकायें उतने ही त्रस जीव जानना । धर्मात्मा पुरुष ऐसा सदोष आटा कैसे ग्रहण कर सकते हैं ?

चमडे के संयोग में अन्तर्मुहूर्त से लेकर जब तक घी चमडे से निर्मित पात्र में रहता है, तब तक अधिक मात्रा में असंख्यात त्रस जीव उत्पन्न होते रहते हैं । उस चर्म के संयोग के कारण वह घी महानिंद्य अभक्ष हो जाता है। जैसे किसी एक श्रावक पुरुष ने खाना बनाने के समय किसी श्रद्धानी पुरुष को कुछ राशि देकर बाजार से घी मंगवाया, तब उसने चमडे के पात्र वाला घी खाना छुडाने के लिये एक बुद्धिमानी की । उसने बाजार से एक नया चमडे का जूता खरीदा तथा उसमें घी लाकर उसकी रसोई में जा कर रख दिया। तब वह श्रावक भोजन छोडकर उठ खडा होने लगा तो उस श्रद्धानी ने पूछा – भोजन क्यों छोड रहे हो ? आपने पहले कहा ही था कि मुझे चमडे के (से स्पर्शित) घी से परहेज नहीं है । बाजार में महाजन के पास तो कच्ची खाल में घी था, मैं परहेज न जानकर पक्की खाल के जूते में घी लाया तथा आपको दिया, मेरा क्या दोष है ? मैं यह नहीं जानता था कि आपकी भी क्रिया अन्य पुरुषों जैसी ही है।

जैसे कोई पुरुष बहुत अधिक तथा अनछने पानी से तो नहावे तथा कांच के सदृश्य उज्जवल बर्तन रखे, बडे-बडे चौके लगावे चौके को बहुत स्वच्छ रखे, कोई ब्राह्मण आदि उत्तम पुरुष का भी स्पर्श हो जावे तो रसोई (भोजन) को काम नहीं ले, किन्तु थाली में मांस लेकर बहुत प्रसन्न हो । उसीप्रकार चमडे से स्पर्शित घी महाअभक्ष्य जानना । ऐसा सुनकर उसे उचित मानकर उस पुरुष ने चमडे के (से स्पर्शित) घी, तेल, हींग, जल आदि दोषपूर्ण वस्तुओं का त्याग कर दिया। ऐसा ही जानकर अन्य भव्य पुरुष भी इनका त्याग करें ।

रसोई करने की विधि

आगे रसोई बनाने की विधि का कथन करते हैं – जहां जीवों की उत्पत्ति न हो ऐसे स्थान में छोटे-बडे गड्डे रहित पक्की अथवा कच्ची साफ जगह देखकर ऊपर चंदोवा बांधकर मिट्टी का अथवा लोहे का चूल्हा (अंगीठी) रखे । पक्के स्थान को तो जीव-जन्तु देखकर कोमल झाडू से बुहार कर अल्प पानी से उस स्थान को गीले कपडे से पोंछले अथवा धो डालें। यदि कच्चा (मिट्टी वाला) स्थान हो तो अल्प शुद्ध मिट्टी से दया पूर्वक लीपे । फिर उज्जवल कपडे पहन अल्प पानी से हाथ धोकर सर्व बरतनों को मांज कर रसोई में रखें । पहले कहे अनुसार आटा, चावल, दाल, घी, ईंधन को शुद्धकर रसोई में बैठे । रसोई बनाने के लिये जितना पानी चाहिये उतना छानकर लोंग, डोडा, मिरच, कायफल, कसेला, नमक, खटाई आदि में से एक दो वस्तु से प्रासुक करें। प्रासुक किये गये पानीं की मर्यादा दो पहर की है ।

खाना बनाने में दो चार घडी का समय लगता है तथा छने पानी की मर्यादा दो घडी की ही है, अत: प्रासुक पानी से ही खाना बनाना उचित है । प्रासुक पानी को दो पहर में ही काम में ले लें, अधिक समय रखने से इसमें जीव उत्पन्न हो जाते हैं, तथा इसकी जिवाणी भी नहीं हो पाती है । इसप्रकार दया पूर्वक क्रिया सहित रसोई बनावें।

रसोई बनाने वाले को उज्जवल कपडे पहन हाथ-पांव धोकर पात्र को अथवा दु:खित जीव को दान देकर, राग-भाव छोडकर, चौकी पाटा बिछाकर, पाटे पर बैठकर तथा चौकी के ऊपर थाली रखकर, थाली पर दृष्टि रखते हुये जीव-जन्तु देखते हुये मौनपूर्वक संयम सहित भोजन करे ।

ऐसा न हो कि दान दिये बिना अघोरी की भांति स्वयं तो खा ले तथा पात्र या दु:खी प्राणी दरवाजे पर आकर वापस (खाली ही) चला जावे । ऐसा कृपण महारागी, महाविषयी दंड देने योग्य है, अत: धर्मात्मा पुरुष

तो विधि पूर्वक दान देने के बाद ही भोजन करते हैं । इसप्रकार दया सहित राग भाव रहित भोजन की विधि कही ।

भोजन कर लेने के बाद उस रसोई में कुत्ते, बिल्ली, हड्डी-चमडा, मल-मूत्र से लिप्त वस्त्र वाला तथा शूद्र आ जावे अथवा विशेष झूंठन पडी रह गयी हो तो सुबह भोजन बनाने से पहले नित्य चूल्हे (अंगीठी) की सारी राख निकाल दे । निगाह से जीव-जन्तु देखकर कोमल झाडू से झाड कर चौका लगावे । पहले कहीं हड्डी-चमडे आदि का संसर्ग न हुआ हो तो नित्य चौका न लगावें । चौका लगाये बिना ही राख निकाल कर दूर करदें एवं यत्न पूर्वक झाडू लगाकर (दूसरे समय का) भोजन बनालें । बिना प्रयोजन चौका लगाना उचित नहीं है । चौका लगाने से जीव की हिंसा विशेष होती है ।

अशुद्ध स्थान पर रसोई करने (बनाने तथा खाने) पर चौका लगाने की हिंसा की अपेक्षा तो अक्रिया के निमित्त से राग-भाव का विशेष पाप होता है । इसलिये जिसमें थोडा पाप लगे वह कार्य करना । धर्म दयामय है यह जानना । धर्म के बिना क्रिया कार्यकारी नहीं है ।

कुछ दुर्बुद्धि पुरुष अनाज तथा लकडी तक को धोते हैं, वह तो लाचारी है । वे तवे, बर्तन, आदि का पेंदा (निचली तरफ का भाग) धोकर दर्पण के समान उज्जवल रखते हैं, तथा बहुत मात्रा में पानी से नहाते अथवा चौका देते हैं, स्त्री के हाथ की रसोई (भोजन) नहीं खाते हैं, बहुत प्रकार की सब्जियाँ, मेवे एवं मिष्ठान्न, दूध-दही, हरितकाय सहित संवार-संवार कर भोजन बनाते हैं । फिर प्रसन्न होकर दो चार बार ठूंस-ठूंस कर तिर्यंचों की भांति पेट भरते हैं, तथा यह कहते हैं कि हम बडे क्रियावान हैं, बडे संयमी हैं । ऐसा झूंठा दंभ करके धर्म का आश्रय लेकर भोले जीवों को ठगते हैं ।

जिनधर्म में तो जहां निश्चित रूप से एक रागादि भावों को छुडाया है तथा इसही के लिये हिंसा छुडाई है । अत: पाप रहित हो तथा जहां

रागादि भाव एवं हिंसा की उत्पत्ति टले वही रसोई पवित्र है । जिसमें ये दोनों बढें वही रसोई (भोजन) अपवित्र जानना ।

अज्ञानी लोग अपनी विषय वासना का पोषण करने के लिये धर्म का आश्रय लेकर अष्टान्हिका, सोलह कारण, दसलक्षण, रत्नत्रय आदि पर्व के दिनों में अच्छे-अच्छे मनमाने नाना प्रकार के महागरिष्ठ, जैसा अन्य दिनों में कभी नहीं मिले, ऐसा तो भोजन करते हैं तथा अच्छे अच्छे वस्त्र आभूषण पहनना, शरीर का श्रृंगार करना आदि करते हैं । पर सावन भादवा आदि एवं अन्य पर्व के दिनों में विषय-कषाय छोडना, संयम का आदर करना (धारण करना), जिन-पूजा, शास्त्राभ्यास करना, जागरण करना, दान देना, वैराग्य बढाना, संसार का स्वरूप अनित्य जानना आदि का नाम धर्म है । विषय-कषायों के पोषण का नाम धर्म नहीं है । झूंठ ही अपने को धर्मात्मा मानने से क्या होने वाला है, उसका फल तो खोटा ही लगने वाला है ।

बाजार के भोजन में दोष

आगे हलवाई (बने बनाये मिष्ठान्न आदि बेचने वाले) के हाथ बनी वस्तुयें खाने के दोष बताते हैं – प्रथम तो हलवाई का स्वभाव निर्दय होता है । फिर लोभ का प्रयोजन होता है जिससे विशेष रूप से दया रहित होता है । उनका व्यापार ही महाहिंसा का कारण है, उसका विशेष कथन करते हैं । अनाज सीधा ही खरीद कर लाता है, वह सीधा खरीदा गया अनाज तो बीधा, सूलसलियां पडा हुआ, पुराना ही होता है (शोधा हुआ नहीं होता) । अनाज को रात्रि में बिना शोधे ही पीस लेता है । वह आटा, बेसन, मैदा आदि महिने पन्द्रह दिन पर्यन्त पडा ही रहता है तो उसमें अगणित त्रस जीव पैदा हो जाते हैं । फिर उस (जीव पडे) आटा को अनछना मसक (चमडे का पात्र) के पानी से गूंद कर तथा बीधा, सूखा, आला, गीला ईंधन रात्रि में भट्टी में जलाकर चमडे के संपर्क वाले बहुत दिनों के बासी घी में उसे तलता है।

रात्रि में अग्नि के निमित्त से दूर-दूर से डांस-मच्छर, पतंगे, मक्खी, कसारी, चींटी, छिपकली, कनखजूरे कढाई में आ गिरते हैं तथा वह मिठाई पकवान तुरन्त ही तो बिक नहीं जाता है, बिकने के लिये भी पन्द्रह दिन, महिना, दो महिने पडा रह जाता है, उसमें अनेक लट आदि त्रस जीव पड कर चलने लगते हैं । अस्पर्श शूद्र को भी वह मिठाई बेचता है तब उसकी छुई झूंठी-चखी हुई मिठाई भी वह अपने बर्तन में डाल लेता है । बहुत से हलवाई तो कलाल, खत्री आदि अन्य जाति के भी होते हैं, उनके दया का पालन कहां से पाया जा सकता है ? कुछ वैश्य कुल के भी हलवाई होते हैं, उन्हें भी उनके सदृश्य ही जानना । जल, अन्न से मिलाकर घी में तला होने पर भी वह उस (कच्ची) रसोई के समान ही है ।

संसारी जीवों को थोडा-बहुत अटक में रखने के लिये सखरी-निखरी (सखरी अथवा कच्ची अर्थात जल्द खराब होजाने वाली जैसे चपाती, निखरी अथवा पक्की अर्थात अपेक्षाकृत देर से खराब होने वाली जैसे परांठा) का प्रमाण बांधा है, वस्तु का विचार करने पर दोनों एक ही समान हैं । जैसे किसी ने जैन कुलीन होते हुये भी रात्रि में अन्न के भक्षण का त्यागी होने पर भी दूध, पेडा आदि का भक्षण करना रखा (नहीं छोडा)। यदि इतनी भी आज्ञा नहीं देते तो वह अन्न आदि सभी वस्तुओं का भक्षण करता, उससे खाये बिना तो रहा जाता नहीं । अत: अन्न की वस्तुयें छुडाकर, इतनी छूट देकर उसे मर्यादा में रखा है । अन्न का निमित्त तो गरीब से गरीब को भी सदैव मिलता है, पर दूध, पेडे आदि का निमित्त तो किसी-किसी पुण्यवान को किसी-किसी काल में मिलता है । अत: रात्रि में बहुत बार तथा बहुत वस्तुओं के भोजन से बचाने के प्रयोजन से (ऐसी छूट रखी गई) जानना ।

अत: जो बुद्धिमान ज्ञानी पुरुष हैं वे असंख्यात त्रस जीवों की हिंसा से उत्पन्न, अनेक त्रस जीवों की राशि, महाअक्रिया सहित मांस भक्षण के

सदृश्य अभक्ष्य ऐसी हलवाई की बनाई वस्तुओं को कैसे खा सकते हैं ? तथा जिनकी बुद्धि ठगी गयी है, आचरण से रहित जिनका स्वभाव है, जिनको परलोक का भय नहीं है ऐसे पुरुष हलवाई की बनी वस्तुयें खाते हैं, जिसका फल परलोक में कडुआ है । इस ही लिये जिनको अपना हित चाहिये वे पुरुष हलवाई के यहां बनी वस्तुओं का सर्वथा त्याग करें।

कोई अज्ञानी रसना इन्द्रिय के लोलुपी ऐसा कहते हैं कि हलवाई की बनी वस्तुयें अथवा जिनके बर्तन मद्य-मांस आदि के लिये भी काम में लिये होते हैं, ऐसे जाट-गूजर, राजपूत, कलाल आदि शूद्रों के घर का दूध-दही रोटी आदि प्रासुक हैं, निर्दोष हैं , तो (उनसे प्रश्न है कि) इससे अधिक दोष युक्त वस्तु कौन सी होगी ? हड्डी-चमडे के दिखने का अथवा मृतक के (समाचार) सुनने का ही जहां भोजन में अन्तराय है तो प्रत्यक्ष खाने का दोष कैसे न गिना जावे ? अत: जो वस्तुयें हिंसा से उत्पन्न हुई हों अथवा अक्रिया से उत्पन्न हुई हों उनको धर्मात्मा पुरुष किसी भी प्रकार काम नहीं लेते ।

प्राण जावें तो जाओ, पर अभक्ष्य वस्तु का खाना तो उचित नहीं है तथा ना ही किसी प्रकार से दीनपने के वचन कहना उचित है । दीनपने जैसा अन्य कोई पाप नहीं है, अत: जिनधर्म में अयाचक वृत्ति कही गयी है ।

शहद (मधु) भक्षण का दोष

आगे शहद (मधु) भक्षण के दोष दिखाते हैं – (मधु) मक्खी, टांटिया (बर्र) वनस्पति का रस, जल तथा विष्टा आदि मुख में लेकर आ बैठते हैं, उसके मुख में वह वस्तु राल में परिवर्तित हो जाती है । लोभ के वश जैसे चींटियां अनाज लेजा-लेजाकर बिल में एकत्रित करती हैं तथा फिर भील आदि एकत्रित होकर पूरे परिवार सहित पहुंच उस अनाज को समेट ले जाते हैं, जिससे समस्त चींटियों का तो संहार होता है तथा अनाज को भील आदि खा जाते हैं, उसीप्रकार मधुमक्खियां तृष्णा के

वशीभूत हुई उस राल को एक स्थान पर उगल कर एकत्रित करती हैं। इसप्रकार एकत्रित होते-होते बहुत राल एकत्रित हो जाती है, तथा बहुत काल तक पडी रहने से मीठे स्वाद रूप परिणमित हो जाती है। उसमें समय-समय पर लाखों करोडों बडे-बडे जीव आंखों से दिखाई देते हैं।

उनको प्रारंभ कर असंख्य त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं तथा निगोद राशि भी उत्पन्न हो जाती है। उसी में ही मधुमक्खियां निहार करती हैं, जिनका विष्टा भी उसी में एकत्रित होता जाता है। महानिर्दय भील आदि उसे पत्थर आदि से पीडित करते हैं तथा उनके छोटे बच्चों एवं अन्तरंग अंडों को मसल-मसल कर निचोड कर रस निकाल लेते हैं तथा उस रस को अक्रियावान निर्दय पंसारी आदि को बेच देते हैं। उस शहद में मक्खी, चींटी, मकोडा आदि अनेक त्रस जीव आकर उलझ जाते हैं अथवा चिपक जाते हैं। लोभी पुरुष उसे दो चार वर्ष पर्यन्त संचित रखते हैं। उसमें ऊपर कहे अनुसार जिस समय से शहद की उत्पत्ति होती है, उस समय से लेकर जब तक शहद रखा रहता है तब तक असंख्यात त्रस जीव सदैव उत्पन्न होते रहते हैं। ऐसा शहद किसप्रकार पंचामृत हुआ ? पर अपने लोभ के वश यह मनुष्य क्या-क्या अनर्थ नहीं करता ? क्या-क्या अखाद्य वस्तुयें नहीं खाता ? इसप्रकार वह शहद मांस के सदृष्य है।

मद्य, मांस, मधु सब एक से है। इसलिये इनका खाना तो दूर ही रहे, औषध के रूप में भी इस (मद्य) का स्पर्श करना उचित नहीं है। जैसे मदिरा, मांस की बनी औषधि का उपयोग उचित नहीं है, वैसे ही जानना। इसको औषध के रूप में ग्रहण किया जाना दीर्घकाल के संचित पुण्य का नाश करता है।

कांजी भक्षण के दोष

आगे कांजी (भक्षण) के दोष कहते हैं – छाछ की मर्यादा बिलोने के बाद सूर्यास्त तक की है, इसके बाद रक्खी रहने पर उसमें अनेक त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों अधिक काल तक रखी रहती है, त्यों-त्यों

त्रस जीवों की उत्पत्ति होती रहती है । रात्रि काल का अनछना जल अभक्ष्य होता है, अत: वैसे ही एक तो यह अनछने जल का दोष है तथा कांजी बनाने में छाछ में राई डाली जाती है, राई के निमित्त से छाछ में तत्काल त्रस जीवों की उत्पत्ति होती है, अत: छाछ तथा राई से बना रायता अभक्ष्य है ।

एक यह दोष तो है ही, फिर छाछ में भुजिये डाले जाते हैं जो द्विदल है । कच्ची छाछ, दो फाड हो जानेवाले अनाज तथा मुख की राल, इन तीनों का संयोग होने पर मुख में तत्काल बहुत त्रस जीव उत्पन्न होते हैं, इसप्रकार द्विदल का दोष भी आ जाता है । छाछ में बहुत सा पानी एवं नमक डलता है जिनका निमित्त पाकर शीघ्र ही त्रस जीवों की उत्पत्ति होती है, अत: एक दोष यह भी है ।

जैसे धोबी, रंगरेज, छींपा (कपडे छापने वाले) के बर्तन में जीव रहते हैं वैसे ही कांजी के जीव जानना । ज्यों-ज्यों कांजी अधिक दिन रहती है त्यों-त्यों उसका स्वाद अधिक होता जाता है । अज्ञानी जीव इन्द्रियों के (विषयों के) लोलुपी प्रसन्न होकर उसको खाते हैं, वे यह जानते नहीं कि यह स्वाद तो बहुत त्रस जीवों के मांस-कलेवर (शरीर) का है । अत: धिक्कार है ऐसे रागभाव को जिसके कारण ऐसी अभक्ष्य वस्तु का प्रयोग करते हैं । इसीप्रकार का दोष डोहा की राब (राबडी) का जानना । इसमें भी त्रस जीव बहुत उत्पन्न होते हैं ।

आचार मुरब्बे के दोष

आगे अथाणा-संधाणा (आचार-मुरब्बे) लोंजी के दोष बताते हैं – नमक, घी, तेल का निमित्त पाकर नींबू, कैरी (कच्चा आम) आदि के आचार में दो चार वर्ष तक नमी मिटती नहीं है । उसमें नमक, घी, तेल का निमित्त पाकर अनेक त्रसजीव राशि उत्पन्न हो जाती है तथा उसी में वह त्रस राशि मरती भी है । ऐसा जन्म-मरण जब तक उसकी स्थिति रहती है, तब तक होता रहता है।

इसप्रकार लौंजी, आचार, मुरब्बे में जीवों की राशि का समूह होना जानना। अत: जिनकी बुद्धि नष्ट हुई है तथा आचरण नष्ट हुआ है वे ही इनका प्रयोग करते हैं। ऐसे दोषों को जानकर अवश्य इनका त्यागना योग्य है। तथा यदि सर्वथा न रहा जावे (त्याग न किया जा सके) तो आठ पहर तक इनका खाना निर्दोष है अथवा सूखी इमली अथवा आंवले की लौंजी बनालें, व्यर्थ ही स्वयं को संसार समुद्र में न डालें।

जलेबी के दोष

आगे जलेबी के दोष कहते हैं। पहले तो रात्रि भर मैदा को खटाते हैं। इस खटाने के निमित्त से, प्रत्यक्ष नजर आवें, ऐसे हजारों लाखों लटों का समूह उत्पन्न हो जाता है। उस खटाई हुई मैदा को बारीक कपडे में लेकर जल को तो अलग छान दिया जाता है, जिससे (बारीक) मैदा तो जल के साथ छन जाती है तथा लटों का समूह कपडे पर रह जाता है। ऐसी लटों वाली मैदा को स्वाद के वश घी के कडाहे में तलते हैं तथा उस पर शक्कर की चासनी लगाकर अघोरी निर्दयी हुये रात्रि में अथवा दिन में खाते हैं। इसलिये यह भोजन कैसा है, इसका पाप कैसा है वह हम नहीं जानते, सर्वज्ञ जानते हैं।

एक थाली में एकसाथ खाने के दोष

आगे एक साथ खाना खाने के दोष कहते हैं – जगत में झूंठन निंद्य है। यदि मण दो मण मिठाई की टोकरी में से एक दो कण भी उठाकर मुंह में कोई डालले तो कोई अन्य उस मिठाई को छुये नहीं तथा यह कहे कि यह तो झूंठी हो गयी है, अत: त्यागने (न खाने) योग्य है। यह मूढ श्रावक पांच सात व्यक्तियों के साथ बैठकर एक थाली में भोजन करता है, तब मुख में से सबकी झूंठन थाली में गिरती है तथा मुख की राल भी थाली में गिर जाती है अथवा ग्रास के साथ पांचों अंगुलियां मुख में जाती हैं जिससे अंगुलियां मुख की राल से लिप्त हो जाती हैं, फिर उसी (राल से लिप्त

अंगुलियों वाले) हाथ से ग्रास उठा कर मुंह में डाला जाता है ।

इसप्रकार सब की झूंठन थाली में घुलमिल कर एकाकार हो जाती है, और परस्पर एक दूसरे की झूंठन खाने में आती है । ऐसी झूंठन खाकर परस्पर एक दूसरे से हास्य, कौतूहल तथा अत्यन्त स्नेह बढाकर तथा मनुहार करके इन्द्रियों का पोषण करते हैं। उनके (इन्द्रियों के) पोषण से काम विकार तीव्र होता है अथवा मान अत्यन्त बढता है । इसप्रकार एक साथ शामिल बैठकर जीमने (भोजन करने) से अनेक प्रकार के पाप उत्पन्न होते हैं । अत: सगे भाई, पुत्र, इष्ट मित्र अथवा साधर्मी धर्मात्मा के शामिल बैठकर भी जीमना (भोजन करना) उचित नहीं है ।

रजस्वला स्त्री के दोष

आगे रजस्वला स्त्री के दोष कहते हैं – सामान्य रूप से एक महिने के आसपास अन्तराल से उसके योनी स्थल से ऐसा निंद्य रुधिर-विकार का समूह निकलता है, जिसके निमित्त से कई मनुष्य, तिर्यन्च अंधे हो जाते हैं, अथवा आंखों में फूला पड जाता है, पापड, मंगोडी लाल हो जाते हैं, इत्यादि । उसकी छाया से अथवा उसको देखने से अथवा उसके कपडों के स्पर्श करने से तीन दिन तक अनेक दोष उत्पन्न होते हैं । इसको रजस्वला (मासिक धर्म) होने का समय महापाप के उदय जैसा है, उस समय वह चाण्डालिन के समान है । उसके हाथ से स्पर्शित सभी वस्तुयें अशुद्ध हो जाती हैं । बाद में चौथे दिन, अथवा किन्हीं आचार्यों के अनुसार पाँचवें या छठे दिन शुद्ध होती है।

भावार्थ :– छठे दिन अथवा पांचवें दिन अथवा चौथे दिन स्नान करके उज्जवल कपडे पहन कर भगवान के दर्शन कर पवित्र होती है । मुख्यपने चौथे दिन स्नान कर पति के समीप जाती है । कुछ पशु शूद्र के समान हैं वे उसको छूने को भिन्न (स्पर्श न करने योग्य) नहीं मानते, तो वे भी चाण्डाल के समान हैं । बहुत कहां तक लिखें ?

गोरस की शुद्धता की क्रिया

आगे दूध, दही, छाछ, घी की क्रिया लिखते हैं । भेड, ऊंटनी आदि के दूध तो लेने योग्य ही नहीं है । इनमें दूध दुहते-दुहते त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं । गाय भैंस का दूध लेने योग्य है । दूध दुहने वाले के हाथ छने पानी से धुलाकर तथा गाय-भैंस के आंचल को धुलाकर भली प्रकार से मंजे बर्तन को जल से धोकर उसमें दूध निकलवाना चाहिये तथा कपडे से उसे दूसरे बर्तन में छानकर दुहने के दो घडी के भीतर-भीतर उसे पी लेना चाहिये अथवा दो घडी के अन्दर-अन्दर ही गर्म कर लेना चाहिये।

दो घडी से अधिक वह दूध कच्चा रह जाता है तो उसमें नाना प्रकार के त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं । अत: दो घडी के भीतर-भीतर ही गर्म कर लेना उचित है । जब जमाना हो तो पहले उस दूध में आंवली आदि खटाई अथवा रुपया डाल कर जमाना चाहिये। उसकी (ऐसे जमें दूध अर्थात दही की) मर्यादा आठ पहर की है । आज के जमे दही को कपडे में बांध (उसे लटका देने पर उसका पानी निकल जाने के बाद) उसकी मंगोडी (छोटे-छोटे टुकडे) तोड कर सुखा लेना चाहिये। अन्य दूध को उसी मंगोडी का जामन देकर जमा लेना चाहिये। ऐसा दूध, दही, काम लेने योग्य है । सोंठ अथवा खटाई से अथवा जस्ता, चांदी के बर्तन में (रखने से) दूध जम जाता है। कुछ दुराचारी लोग जाट, गूजर आदि अन्य जाति के लोगों से दूध, दही, छाछ लाकर खाते हैं, वह धर्म में तथा जगत में महानिंद्य है ।

ऐसे शुद्ध दूध दही को ही बिलो कर उसमें से निकले लूने घी (मक्खन) को तो तुरन्त अग्नि पर गर्म करने के बाद खाना चाहिये। छाछ को संध्या के समय तक काम में लेलेना चाहिये, रात में न रखें । रात की पडी छाछ सुबह अनछने जल के समान है । इसप्रकार दूध, दही, छाछ, घी की क्रिया जानना ।

कुछ विषयों के लोलूपी क्रिया का आश्रय लेकर गाय, भैंस खरीद कर घर में आरम्भ बढाते हैं। ज्यों-ज्यों आरम्भ बढता है त्यों-त्यों हिंसा बढती है । चौपाये जीव रखने का पाप विशेष है, वह बताते हैं – वह तिर्यन्च हरित काय खाता है तथा अनछना पानी पीये बिना नहीं रहता । सूखा घास तथा छना जल मिलना कठिन होता है । कदाचित कठिनता पूर्वक इसका साधन रखा (किया) जावे तो विशेष आकुलता उत्पन्न होती है ।

आकुलता ही कषाय का बीज है तथा कषाय महापाप है । कदाचित वह भूखा प्यासा रह जावे अथवा शीत-उष्ण, डांस, मच्छर आदि के दु:ख से बचाने का यत्न न हो तो उसके प्राण पीडित होते हैं । उससे (उस गाय-भैंस से) बोला तो जाता नहीं, इसे सर्व समय उसकी खबर कैसे रह पावेगी । शीत उष्णता मिटाने का उपाय कठिन है, अत: उसे सदैव वेदना ही होती है । उसका उपाय न बने तो पाप तो रखने वाले को ही लगता है तथा उसके गोबर मूत्र आदि में विशेष त्रस जीव उत्पन्न होते हैं । दूध के निमित्त सदा रात-दिन चूल्हा जला करता है, चूल्हे के निमित्त से छह काय के जीव भस्म होते हैं तथा तृष्णा बढती है । अत: ऐसे पाप का कारण होने से चौपाये जीवों को किसी प्रकार रखना (पालना) योग्य नहीं है । खल खाने का विशेष पाप है ।

बहुत दिनों से संचित दूध गाय भैंस के पेट में रहता है तथा उसके प्रसूति होने पर उसके आंचल में से रक्त के सदृश्य निचोड कर दूध निकाला जाता है, जिसे गर्म कर जमाने पर उसका आकार अन्य ही प्रकार का हो जाता है । जिसे देख कर ग्लानि उत्पन्न होती है । ऐसे दूध का उपयोग करने वाले के राग भाव का क्या कहना ? अत: अवश्य ही इसका उपयोग नहीं करना चाहिये। बकरी के प्रसूति होने के आठ दिन बाद, गाय के दस दिन बाद तथा भैंस के पन्द्रह दिन बाद दुग्ध लेना योग्य है, इससे पहले अभक्ष्य है । आधा दूध उसके बच्चे के लिये छोडा जाना चाहिये।

वस्त्र धुलाने के दोष

आगे कपडे धुलाने रंगाने के दोष कहते हैं । प्रथम तो उन कपडों में मैल के निमित्त से लीख, जूं आदि त्रस जीव उत्पन्न होते हैं, वे जीव (उन वस्त्रों को) भट्टी में अथवा क्षार के पानी में डालने पर नाश को प्राप्त होते हैं तथा उन वस्त्रों को नदी आदि के किनारे शिला पर पछाड-पछाड कर धोया जाता है । पछाडते समय उस पर पानी डाले जाने से मेंडक, मछली जैसे अगणित छोटे-बडे जीव कपडे की तह (लपेट) में आ जाते हैं जो कपडे के साथ शिला पर पछाडे जाते हैं । पछाडे जाने के कारण वे जीव खंड-खंड हो जाते हैं तथा वह क्षार का पानी नदी आदि में बहुत दूर तक फैलता है, बहती नदी में तो बहुत दूर तक बहता चला जाता है । जिससे जहां तक तेज क्षार का रस पहुंचता है वहां तक के सर्व जीव मृत्यु को प्राप्त होते हैं । कपडे को साबुन से नदी में धोया जाने पर उसी प्रकार साबुन का अंश पहुंचता है वहां तक नदी का पानी प्रासुक हो जाता (उस पानी के सर्व जीव मृत्यु को प्राप्त हो जाते) है, जैसे एक पानी के मटके में चुटकी भर लोंग अथवा डोडा अथवा इलायची आदि डालने से वह प्रासुक हो जाता है ।

कुछ बडे पापी सैंकडों हजारों कपडे के थान बहुत अल्प लोभ के लालच में धुलवाकर बेचते हैं, उनके पाप का क्या कहना ? अत: धर्मात्मा पुरुष धोबी से कपडे धुलवाने का त्याग करें । इसका अगणित पाप है । कदाचित पहनने के कपडे धोये बिना काम न चले तो गाढे छनने से नदी आदि का पानी किसी बर्तन में छानकर जिवाणी पहुंचाने के बाद नदी अथवा कुये को देखकर एवं कपडे के जूं आदि शोध कर धोना चाहिये।

भावार्थ :- मैले कपडे को शरीर से उतारने के बाद दस-पन्द्रह दिन रखा रखना चाहिये। उसके बाद भी कोई जूं, लीख उसमें रह गयी हो (सकती है) उसे नेत्रों से शोधना तथा कोई (जूं, लीख आदि) नजर आवें

तो उसे लेकर शरीर के विशेष मैले किसी पुराने वस्त्र में रख देना चाहिये, धरती पर डालना नहीं चाहिये। वे जूं आदि कपडे में बहुत दिनों तक मरती नहीं है, आयु पूर्ण होने पर ही मरती हैं तथा उस वस्त्र को ऐसे स्थान पर धोना चाहिये जहां का पानी नदी के किनारे पर ही सूख जावे अथवा ऐसे प्रासुक स्थान पर डालिये कि जल वहां का वहीं सूख जावे अथवा भूमि में सूख जावे । यदि कदाचित वह पानी नदी में वापस जाता है तो वस्त्र अनछने पानी से ही धोया कहा जावेगा । विवेक पूर्वक छने पानी से ही वस्त्र धोना उचित है । बेचने के लिये किसी प्रकार वस्त्र को धोना उचित नहीं है ।

वस्त्र रंगाने के दोष

आगे वस्त्र रंगाने के दोष कहते हैं । नीलगर अथवा छींपा अथवा रंगरेज आदि दो चार अथवा पांच सात दिन पर्यन्त रंग के पानी का भण्डार रखते हैं तथा उसमें कपडों को डुबो कर रगड-रगड कर रंगा जाता है। फिर नदी आदि में ले जाकर धोते हैं, पुन: रंगते हैं, पुन: धोते हैं । इस ही भांति पांच सात बार धोना रंगना किया जाता है । इसप्रकार धोने से रंग का पानी जहां तक नदी आदि में फैलता है वहां तक के जीव बारम्बार मारे जाते हैं । अत: इसप्रकार वस्त्र रंगवाने में महापाप जानकर सतपुरुष को वस्त्र रंगवाने का त्याग करना योग्य है ।

सेतखाने (मल त्यागने का स्थान) के दोष

आगे सेतखाने के पाप बताते हैं । एक बार मध्यान्ह के समय खुला जंगल में निहार (मल का त्याग) करते हैं, तो तत्काल असंख्यात सम्मूर्छन मनुष्य तथा सूक्ष्म अवगाहना के धारी असंख्यात त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं । दो चार पहर बाद वे दिखाई देने लगते हैं । जितना वह मल होता है उतने ही लट आदि के समूह रूप त्रस राशि उत्पन्न होते आंखों से देखे जाते हैं ।

तो जहां सदैव गूढ (छुपी हुई -अथवा बहुत) नमी रहे तथा एक पर एक दस बीस पुरुष स्त्री मल-मूत्र क्षेपण करें अथवा ठंडा अथवा गर्म पानी डालें तो ऐसे अशुचि स्थान में जीवों की उत्पत्ति का क्या कहना, हिंसा के दोष का क्या पूछना तथा उसके पाप का क्या कहना ? अत: इसप्रकार का बडा पापा जानकर स्वप्न में भी (ऐसे) सेतखाने जाना (का उपयोग करना) उचित नहीं है ।

पंच स्थावर जीवों का प्रमाण

आगे निगोद आदि पांच स्थावर जीवों के प्रमाण का वर्णन करते हैं । खदान की मिट्टी के एक ढेले में असंख्यात पृथ्वीकाय के जीव पाये जाते हैं । यदि वे जीव तिजारा के दाने के बराबर का देह बनालें तो जम्बूद्वीप में नहीं समावें अथवा संख्यात-असंख्यात द्वीप-समुद्रों में नहीं समावें। इतने ही जीव एक पानी की बूंद में अथवा एक अग्नि की चिन्गारी में अथवा थोडी-सी हवा में अथवा प्रत्येक वनस्पति की सुई की नोंक मात्र भाग में पाये जाते हैं ।

गाजर, प्याज, मूली, शकरकंद, अदरक, जुवारा (जुवार के भुट्टे), कोपल आदि वनस्पति में उनसे भी अनन्त गुणे जीव पाये जाते हैं; ऐसा जानकर पांच स्थावर जीवों की भी विशेष रूप से दया पालनी चाहिये। बिना प्रयोजन के स्थावरों की भी विराधना नहीं करना चाहिये। त्रस जीवों की तो सर्वप्रकार ही विराधना नहीं करना चाहिये। स्थावर की हिंसा की अपेक्षा त्रस की हिंसा में बडा दोष है । उसमें भी आरम्भी हिंसा में निरपराध जीवों की हिंसा का तीव्र पाप है ।

(स्याही रखने का पात्र) के दोष

आगे दवात - (लिखने की स्याही रखने का पात्र) के दोष दिखाते हैं । दवात में दो चार वर्ष पर्यन्त जीव रहते हैं । उसमें असंख्यात त्रस जीव तथा अनन्त निगोद राशि सदैव उत्पन्न होती है। जैसे नीलगर (रंगरेज) का कपडे रंगने का पात्र होता है उसके हजारवें अथवा पचासवें भाग के

सदृश्य यह छोटा पात्र है । इसमें जीवों की हिंसा विशेष होती है । इसलिये गर्म पानी में स्याही मिलाकर उसका पानी प्रभात तक रखना, संध्या समय में उसके पानी को सुखा देना चाहिये, तथा प्रभात में फिर भिगो लेना चाहिये। इसप्रकार नित्य स्याही बना लेना – यह स्याही सदा प्रासुक है। इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है । थोडा सा प्रमाद छोडने पर अपरम्पार लाभ होता है ।

धर्मात्मा पुरुषों के रहने का क्षेत्र

आगे धर्मात्मा पुरुषों के रहने के क्षेत्र का वर्णन करते हैं । जहां पर न्यायवान जैन राजा हो, अनाज व ईंधन शोधा हुआ मिलता हो, पानी छाना जाता हो, विकलत्रय जीव थोडे हों, स्वयं (राजा) की अथवा अन्य की फौज का उपद्रव न हो, शहर के आसपास गढ हो, जिन मंदिर हो, साधर्मी हों, किसीप्रकार की जीव हिंसा न होती हो, राजा बालक (उम्र में छोटा) न हो, राजा अपरिपक्व बुद्धि का धारक न हो, राजा अन्य लोगों की बुद्धि के अनुसार कार्य न करता हो, राजा के पास बहुत नायक (अधिकारी-कर्मचारी) न हों, स्त्री का राज्य न हो, पंचों का स्थापित किया राज्य न हो (– संभवत: 'न' गलत लिखने में आगया प्रतीत होता है, ज्ञानीजन वस्तु स्थिति के अनुसार ही अर्थ ग्रहण करें), नगर के चारों ओर दूसरे (अन्य) की सेना का घेरा न हो, मिथ्यामति लोगों का प्रबल जोर न हो, इत्यादि दु:ख के कारण रूप अथवा पाप के कारण रूप ऐसे स्थानों को दूर से ही त्यागना योग्य है ।

आसादन दोष

आगे जिन मंदिर में अज्ञान एवं कषाय से चौरासी आसादन दोष लगते हैं तथा विचक्षण धर्मबुद्धि रखने पर नहीं लगते हैं, उनका स्वरूप कहते हैं । श्लेषमा (कफ) नहीं डालना, हास्य कौतूहल नहीं करना, कलह (लडाई) नहीं करना, कोई कला अथवा चतुराई नहीं सीखना,

कुल्ला (मुंह का पानी उगलना) – कय (उल्टी-वोमिटिंग) नहीं डालना, मल-मूत्र का क्षेपण नहीं करना, स्नान नहीं करना, गालियां नहीं बकना, केश नहीं मुंडाना, खून नहीं निकलाना, नाखून नहीं कटाना।

फुंसी अथवा पांव आदि की खाल डालना नहीं, नीला-पीला पित्त नहीं डालना, वमन न करना, भोजन पान नहीं करना, औषध अथवा चूर्ण नहीं खाना, पान-सुपारी नहीं चबाना, दांत का मैल, आंख का मैल, नाखूनों का मैल, नाक का मैल, कान का मैल इत्यादि मैल नहीं निकालना। गले का मैल, मस्तक का मैल, शरीर का मैल, पांवों का मैल नहीं उतारना। गृहस्थपने की वार्ता नहीं करना, माता-पिता, कुटुम्ब, भ्राता, समधी, समधिन आदि लौकिक जनों की सुश्रूषा नहीं करना।

सास, जिठानी, ननद आदि के पांव नहीं लगना। धर्म शास्त्र के अतिरिक्त लेखन क्रिया नहीं करना और न पढना। किसी वस्तु का बटवारा नहीं करना, अंगुलियां नहीं चटकाना, आलस्य नहीं करना, मूंछों पर हाथ नहीं फेरना। दीवार का सहारा लेकर नहीं बैठना, गद्दी तकिये नहीं लगाना, पांव फैलाकर अथवा पांव पर पांव रखकर नहीं बैठना। छाने (कण्डे) नहीं थापना, कपडे नहीं धोना, दालें नहीं दलना, शाली (तन्दूल -चांवल) आदि नहीं कूटना, पापड-मंगोडी नहीं सुखाना, गाय-भैंस आदि तिर्यन्च नहीं बांधना। राजा आदि के भय से भाग कर मंदिर में नहीं जाना (छुपना नहीं)। रुदन नहीं करना, राजा-चोर-भोजन-देश आदि की विकथा नहीं करना। बर्तन गहने (जेवर) शस्त्र आदि नहीं बनवाना। अंगीठी जला कर नहीं तपना। रुपये -मोहर आदि नहीं परखना। प्रतिमाजी की प्रतिष्ठा हो जाने के बाद प्रतिमाजी के टांकी नहीं लगाना। प्रतिमाजी के अंगों पर केसर-चंदन आदि नहीं लगाना। प्रतिमाजी के नीचे सिंहासन पर वस्त्र नहीं बिछाना। भगवान सर्वोत्कृष्ट वीतराग हैं, इसलिये जो वस्तुयें सरागता की कारण हों उनका संसर्ग (प्रतिमाजी से) दूर ही रखना।

कुछ कुबुद्धि लोग अपने मान के पोषण के लिये नाना प्रकार के सरागता के कारणों को मिलाते हैं, उसके दोषों का क्या कहना ? मुनि महाराज को भी तिल-तुस मात्र परिग्रह रखने का निषेध है, तब भगवान के केसर आदि का संयोग कैसे हो सकता है?

यहां कोई प्रश्न करे चमर, छत्र, सिंहासन, कमल आदि के लिये भी इन्कार क्यों नहीं किया ?

उसे उत्तर देते हैं ये सरागता के कारण रूप नहीं हैं, प्रभुत्व को दर्शाने वाले हैं । जल से अभिषेक किया जाता है, वह स्नान कराना आदि विनय के कारण किया जाता है । इनके गंधोदक को लगाने से पाप गल जाते हैं अथवा धुल जाते हैं । ये वीतराग भगवान चंवर, छत्र, सिंहासन से अलिप्त रहते हैं, इसलिये जो वस्तुयें विनय की साधन हों, उसका दोष नहीं है तथा जो विपर्यय का कारण हैं उनका दोष गिना जाता है, क्योंकि भगवान का स्वरूप निरावरण ही है ।

मंदिरजी में पगडी बांधने का कार्य करना नहीं, काच में मुंह नहीं देखना, नाखून चिमटी आदि से केश नहीं उपाडना, घर से शस्त्र बांधकर मंदिर जी में नहीं आना। खडाऊ, चप्पल पहन कर मंदिर जी में गमन नहीं करना, निर्माल्य खाना नहीं, न बेचना, न खरीदना । मंदिरजी का द्रव्य उधार भी नहीं लेना। स्वयं पर चमर ढुरावना नहीं, हवा नहीं कराना तथा न अन्य पर करना । तेलादि का विलेपन अथवा मालिश नहीं करना, न कराना । जिन देव-शास्त्र-गुरु-धर्म को मानना उचित है , उन्हीं को पूजना योग्य है । प्रतिमाजी के निकट नहीं बैठना, यदि पांव दुखने लगें तो दूर जाकर बैठना चाहिये। काम विकार रूप नहीं परिणमना, स्त्रियों के रूप लावण्य को विकार भाव से नहीं देखना। मंदिरजी की बिछायत, नगाडे, तबला आदि वस्तुयें विवाह आदि में काम में नहीं लेना तथा मंदिरजी का धन उधार भी नहीं लेना, न ही मूल्य देकर खरीदना । जिस वस्तु के लिये ऐसा संकल्प करले कि ये वस्तु देव-गुरु-धर्म के लिये है, फिर जिस वस्तु

के लिये ऐसा संकल्प किया था उसे चढावे नहीं, तो उसका अंश मात्र भी घर में रह जाने पर निर्माल्य के दोष के सदृश्य दोष जानना । निर्माल्य के ग्रहण के सदृश्य अन्य कोई पाप नहीं है, वह पाप अनन्त संसार में रुलाता है ।

देव-गुरु-शास्त्र को देखकर तत्काल ही उठ खडा होना चाहिये तथा हाथ जोडकर नमस्कार करना चाहिये । स्त्रियां साडी ओढकर मंदिरजी में आवें तथा उसके ऊपर ओढणी आदि भी ओढें । पाग (पगडी) बांधकर पूजन नहीं करना । सरागी पुरुषों को स्नान, चंदन का तिलक तथा आभूषण श्रृंगार के बिना पूजन करना चाहिये, त्यागी पुरुषों के लिये यह आवश्यक नहीं है । पूजा के अतिरिक्त मंदिर जी की केशर-चंदन आदि का तिलक नहीं लगाना ।

*(**नोट :-** ऐसे प्रतीत होता है कि यहां कुछ उल्टा लिखने में आ गया है, सरागी पुरुषों को तो चंदन, आभूषण आदि सहित (पहन कर) पूजा करना, बिना लगाये न करना तथा त्यागी इन्हें लगावे अथवा न लगावे, ऐसा होना अधिक उचित प्रतीत होता है, यह बात अगले वाक्य से भी मेल खाती है । ज्ञानी जन यथार्थ अर्थ ग्रहण करें, ऐसा निवेदन है ।)*

मंदिरजी में चढाये पुष्प अपने टांकने के लिये नहीं लें, इनके ग्रहण से भी निर्माल्य का दोष लगता है । देव-मंदिर में वायु-सरना आदि अशुचि क्रिया नहीं करना । गेंद, गेंदडी, चौपड, शतरंज, गंजफा आदि किसी भी प्रकार के खेल नहीं खेलना तथा शर्त भी नहीं करना । मंदिरजी में भांड क्रिया नहीं करना । रैकार, तूकार, कठोर वचन अथवा तर्क लिये वचन, मर्म छेदने वाले वचन, मजाक, झूंठा विवाद, ईर्ष्या, अदया, मृषा, किसी को रोकने, बांधने, लडने आदि के वचन नहीं बोलना, कुलांट नहीं खाना, पांवों से दोड नहीं करना, न पांव दबवाना । हड्डी, चमडे, ऊन, केश, आदि मंदिर में नहीं ले जाना । मंदिर जी में बिना प्रयोजन इधर-उधर घूमना फिरना नहीं ।

रजस्वला स्त्री तीन दिन तथा प्रसूति स्त्री डेढ मास पर्यन्त मंदिरजी में नहीं जावे। गुप्त अंग नहीं दिखाना, पलंग आदि नहीं बिछाना। ज्योतिष, वैद्यक, मंत्र, तंत्र नहीं करना। जल-क्रीडा आदि किसी प्रकार की क्रीडा नहीं करना। लूले-पांगले, विकलांग, अधिक अंग वाले, बौने, अंधे, बहरे, गूंगे, कांणे, मांजरे, शूद्र वर्ण, संकर वर्ण पुरुष स्नान आदि उज्जवल वस्त्र पहन कर भी श्रीजी (प्रतिमाजी) की प्रक्षाल अभिषेक आदि एवं अष्ट द्रव्यों से पूजन आदि नहीं करें। अपने घर से विनय पूर्वक स्वच्छ द्रव्य लाकर (घर के ही) कपडे पहने प्रतिमाजी के सम्मुख खडे होकर द्रव्य आगे रख नाना प्रकार स्तुति पाठ पढकर नमस्कार कर वापस घर जावे। इसप्रकार ही द्रव्य-पूजा एवं स्तुति-पाठ करें। रात्रि में पूजा नहीं करना।

मंदिर से छूते हुये चारों ओर ही गृहस्थ लोगों के मकान घर नहीं हो, बीच में गली (रास्ता हो) जो सर्वत्र मल-मूत्र आदि अशुचि वस्तुओं से रहित पवित्र हो। बिना छने जल से मंदिरजी का कोई काम नहीं कराना। जिन-पूजन आदि सर्व धार्मिक कार्यों में भी बहुत त्रस हिंसा हो वे सर्व कार्य त्यागना योग्य है। इसप्रकार चौरासी आसादना के दोष जानना चाहिए।

भावार्थ :- सावद्य योग को लिये जो-जो भी कार्य होते हैं उन सभी को जिन मंदिरजी में करना त्यागने योग्य है। अन्य स्थानों पर किये गये अथवा उपार्जित पापों की उपशांति के लिये तो जिन मंदिरजी कारण है, तथा जो पाप जिन मंदिरजी में ही उपार्जित किये गये हों उन्हें उपशांत करने में अन्य कोई समर्थ नहीं है, भुगतने ही पडेंगे।

जैसे कोई पुरुष किसी से लड लिया हो तो उसका अपराध राजा के पास जाकर माफ कराया जा सकता है, पर यदि वह राजा से ही लडा हो तो उस अपराध को माफ कराने के लिये कोई ठिकाना नहीं, उसका फल तो बंदीखाने में रखा जाना ही है। ऐसा जानकर अपने हित के लिये

जिस-तिस प्रकार विनय से ही रहना चाहिये । विनय गुण है वह (जिन) धर्म का मूल है, मूल के बिना धर्मरूपी वृक्ष के स्वर्ग-मोक्ष रूपी फल कदापि नहीं लगता । अत: हे भाई ! आलस्य छोड, प्रमाद तज खोटे उपदेश का वमन कर भगवान की आज्ञा रूप प्रवर्तन करना, बहुत कहने से क्या ? यह तो अपने हित की बात है, जिसमें अपना भला हो वह क्यों नहीं करना ? (अर्थात करना ही चाहिये)। देखो अरिहन्त देव का उपदेश तो ऐसा है कि इन चौरासी दोषों में से कोई एक दो दोष भी लगें तो महापाप होता है ।

मन्दिर निर्माण का स्वरूप तथा फल

आगे चतुर्थ काल में जिन मंदिर बनवाये जाते थे तथा पंचम काल में बनवाये जाते हैं उनके स्वरूप का तथा फल का वर्णन करते हैं । चतुर्थ काल में बडे धनवानों को यह अभिलाषा होती थी कि मेरे पास धन बहुत है, इसे मैं धर्म कार्य के लिये खर्च करूं । ऐसे विचार कर वे धनवान धर्म बुद्धि, पाक्षिक श्रावक जैसी महन्त बुद्धि के धारक तथा अनेक शास्त्रों के पारगामी एवं बडे-बडे राजाओं द्वारा माननीय ऐसे जो गृहस्थाचार्य हों, उनके पास जाकर प्रर्थना करते थे – हे प्रभो! मेरा जिनमंदिर बनवाने का मनोरथ है, आपकी आज्ञा हो तो मेरा कार्य करूँ। तब वे धर्म बुद्धि गृहस्थाचार्य रात्रि में मंत्र की आराधना कर शयन करते थे तथा रात्रि में स्वप्न देखते थे। यदि भला शुभ स्वप्न आता था तो यह जान जाते कि यह कार्य निर्विघ्न समाप्त होगा अथवा अशुभ स्वप्न आने पर यह जानते हैं कि यह कार्य निर्विघ्न पूर्ण नहीं हो पावेगा ।

पश्चात् पुन: उस गृहस्थ के आने पर वे यदि शुभ स्वप्न आया होता था तो कहते कि जो तुमने विचारा था, वह करो कार्य सिद्ध होगा तथा यदि अशुभ स्वप्न आया होता था तो यह कहते कि आप अपना धन तीर्थयात्रा आदि शुभ कार्यों में लगाने का संकल्प करें । तब वह गृहस्थ यह

विचार करता कि मुझे इतना द्रव्य खर्च करना है, तथा जैसे परिणाम होते वैसा कार्य करना विचार कर गृहस्थ को जितने द्रव्य से उसका ममत्व छूटा होता था, उतना द्रव्य अलग एक स्थान पर रख देता था। ऐसा नहीं है कि प्रमाण किये बिना ही मंदिरजी के लिये अनुक्रम से खर्च करे।

इसका कारण क्या ? पहले तो परिणाम ऊंचे हों, बहुत धन खर्च करना विचारा हो पीछे परिणाम शिथिल हो जावें तो पहले विचारा जितना धन खर्च करना कैसे बने, उल्टा निर्माल्य का दोष लगे। अतः पहले ही द्रव्य का प्रमाण कर तथा अलग रख कर उसमें से ही खर्च करना चाहिये।

जिनमंदिर निर्माण विधि :- राजा की आज्ञा से बडा नगर जहां जैन लोग बहुत रहते हों, उनके बीच आसपास में गृहस्थों के घरों को छोडकर पवित्र ऊंची भूमि मूल्य देकर या भूमि के मालिक की अनुमति पूर्वक खरीदे, बलपूर्वक न ले। फिर शुभ मुहूर्त देखकर गृहस्थाचार्य उस पर मंत्र लिखें तथा जंत्र के कोठे में सुपारी, अक्षत आदि द्रव्य रखे। उनके रखने से ऐसा ज्ञान हो जाता है (था) कि अमुक स्थान पर इतनी गहराई पर श्मशान की राख है, इतनी गहराई पर हड्डी-चमडा है। खुदाई करा कर राख, हड्डी, चमडा आदि अशुचि वस्तुओं को निकलवादे तथा श्रेष्ठ नक्षत्र, योग्य लग्न देखकर नीव में पाषाण रखे।

जिस दिन से नीव लगे उस दिन से मंदिर का निर्माण कराने वाला गृहस्थ स्त्री सहित ब्रह्मचर्य अंगीकार करे तथा यह ब्रह्मचर्य का नियम प्रतिष्ठा होकर श्रीजी के मंदिर में विराजमान किये जाने के दिन तक पाले। छने हुये पानी से ही काम करावे। चूने की भट्टी नहीं बनवावे, प्रासुक ही खरीदे। कारीगर, मजदूर आदि से अधिक काम कराने के लिये जोर न दे, एवं उनके रोजगार (मजदूरी देने) में कमी न करे, उन मजदूरों को निराकुलता रहे, इतना धन (मजदूरी) देकर मंदिरजी का काम करावे।

ऐसी भावना रखे :– मैंने तो धर्म कार्य का विचार किया है, अत: महंगा कार्य कराने पर अच्छा काम होगा, महंगी खरीदी वस्तुयें अच्छी होती हैं । कृपणता छोडकर दु:खित भूखे जीवों को सदैव दान दे तथा कारीगर, मजदूर, नौकर आदि जो कार्य करने वाले हैं उन पर किसीप्रकार की कषाय न करें । चित्त सदा प्रसन्न रखें । सब का विशेष हित साधे, सौजन्यता गुण का पालन करे ।

मन में सदैव एक उत्साह वर्ते कि कब मंदिरजी का कार्य पूर्ण हो ? श्रीजी विराजमान हों, तथा जिनवाणी का व्याख्यान हो जिसके निमित्त से बहुत जीवों का कल्याण हो, जिनधर्म का उद्योत हो, बहुत जीव इस स्थान पर धर्म साधन कर स्वर्ग–मोक्ष में जावें । मैं भी संसार के बंधन तोड कर मोक्ष जाऊं । संसार का स्वरूप महादु:ख रूप है, जिनधर्म के प्रताप से पुन: ऐसे दुख न पाऊँ ।

वे वीतराग देव स्वर्ग–मोक्ष का फल शीघ्र देते हैं । इनके बताये धर्म पर चलने का फल शीघ्र मिलता है । जिनदेव की भक्ति परम आनन्दकारी है, आत्मिक सुख की प्राप्ति इसी से होती है । मैं स्वर्ग आदि के लौकिक सुख को छोडकर अलौकिक सुख की ही इच्छा रखता हूं, अन्य किसी बात से मुझे प्रयोजन नहीं है । संसारी सुख से अघा गया (थक गया) हूं । धर्मात्मा पुरुष को तो एक मोक्ष ही उपादेय है । मैं तो एक मोक्ष का ही अर्थी हूं, इस मंदिरजी बनवाने का यही फल मुझे प्राप्त हो । धर्मात्मा पुरुष धर्म अथवा मोक्ष की ही चाह रखते हैं । मान, बढ़ाई, यश, कीर्ति, नाम, गौरव नहीं चाहते, स्वर्ग –मोक्ष की ही कामना करते हैं ।

प्रतिमा (जिन बिम्ब) निर्माण का स्वरूप

चौथे काल में प्रतिमाजी के निर्माण का स्वरूप :– आगे प्रतिमाजी के निर्माण के लिये खदान पर जाकर पत्थर लाने का स्वरूप कहते हैं ।

(मूल ग्रन्थ में "चौथे काल में प्रतिमाजी के निर्माण का स्वरूप" उपदेश बोधक शैली में लिखा गया है, जबकि चौथे काल (भूतकाल) का कथन भूतकाल की भाषा में होना अधिक तर्क संगत है, ऐसा ही होता भी है । पर मूल में उपदेश बोधक शैली में वर्णन होने से यहां भी वैसा ही भाषारूपान्तरण किया गया है ।)

वह मंदिर का निर्माता गृहस्थ उत्सव पूर्वक खदान पर जावे तथा खदान की पूजा करे, खदान को निमंत्रित कर कारीगर को वहां छोड आवे । वह कारीगर ब्रह्मचर्य अंगीकार करे, अल्प भोजन करे, उज्जवल वस्त्र पहने, शिल्पशास्त्र की जानकारी पूर्वक विनय सहित टांकी से पाषाण को धीरे-धीरे काटे । फिर वह गृहस्थ गृहस्थाचार्य एवं कुटुम्ब परिवार सहित बहुत से जैन लोगों को साथ लेकर गाते बजाते, मंगल गाते, जिनगुण का स्तोत्र पढते महान उत्सव पूर्वक जावे, तथा जिस पत्थर से प्रतिमाजी का निर्माण होना है उस पत्थर की पूजा कर, चमडे के संयोग रहित सोने-चांदी से बने, महा पवित्र तथा मन को रंजायमान करने वाले रथ पर बहुत रुई आदि रखकर उस पर पाषाण को रख पूर्ववत उत्सव पूर्वक जिनमंदिर लावे ।

एकान्त पवित्र स्थान पर बहुत विनय पूर्वक शिल्पकार शास्त्र के अनुसार प्रतिमाजी का निर्माण करे । उस प्रतिमाजी के निर्माण में बहुत से दोष-गुण लिखे (बताये) गये हैं, उन सब दोषों को टालते हुये संपूर्ण गुणों सहित यथाजात स्वरूप की पूर्णता कुछ काल में होती है (प्रतिमाजी कुछ काल में पूर्ण तैयार होती है)। एक ओर तो मंदिरजी का निर्माण होता जाता है, दूसरी ओर प्रतिमाजी की पूर्णता होती जाती है ।

जिनबिंब प्रतिष्ठा के मुहूर्त पर बहुत से गृहस्थ, एवं आचार्य, पंडितों को एवं देश-विदेश के साधर्मियों को पत्र लिखकर बहुत प्रीति पूर्वक बुलावे । उस संघ को नित्य प्रति भोजन, रसोई करावे तथा दुखितों को

जिमावे । कोई भी विमुख न रहे, नित्य प्रसन्न रहें । कुत्ते, बिल्ली आदि सभी तिर्यन्चों का भी पोषण करे, वे भी भूखे न रहें । फिर भले दिन, भले मुहूर्त में शास्त्रानुसार प्रतिष्ठा हो, बहुत दान बांटे, इत्यादि बहुत महिमा हो । इसप्रकार प्रतिष्ठित प्रतिमाजी ही पूज्य हैं, बिना प्रतिष्ठा के पूजने योग्य नहीं ।

यदि किसी प्रतिमाजी को अजानकारी में पूजे जाते एक सौ वर्ष हो गये हों तो वह प्रतिमाजी भी पूज्य है। अंगहीन प्रतिमाजी पूज्य नहीं है, उपांगहीन पूज्य है । जो प्रतिमाजी अंगहीन हो गयी हो, उसे ऐसे पानी में, जो कभी खत्म न हो, रख दें । इसका विशेष स्वरूप जानना हो तो ''प्रतिष्ठापाठ'' से अथवा ''धर्म संग्रह श्रावकाचार'' आदि अन्य ग्रन्थों से जान लेना, यहां संक्षेप में स्वरूप लिखा है।

इसप्रकार सदगृहस्थ धर्मबुद्धि पूर्वक विनय सहित परमार्थ के लिये जिन मंदिर का निर्माण कराता है एवं नाना प्रकार के चमर, छत्र, सिंहासन, कलश आदि उपकरण चढाता है । वह पुरुष बहुत अल्प काल में ही त्रैलोक्य पूज्य पद प्राप्त करता है । उसके छत्र पर भी तीन छत्र फिरते हैं तथा अनेक चमर ढुलते हैं । इन्द्र आदि संसारियों की तो बात ही क्या ? इसप्रकार चौथे काल के भक्त पुरुष मंदिर बनवाते थे, उसका स्वरूप एवं फल कहा ।

पंचमकाल में मंदिर निर्माण का स्वरूप :– अब पंचम काल में मंदिरजी बनता है, उसका स्वरूप कहते हैं – गौरव सहित, मान का आशय लिये तथा महंत पुरुषों को पूछे बिना ही अपनी इच्छा अनुसार जिनमंदिर की रचना जिस किसी स्थान पर कराते हैं । मंदिरजी को लिये द्रव्य (धन) का संकल्प किये बिना ही धन लगाते हैं, अथवा संकल्प किये धन को अपने गृहस्थपने के कार्यों में लगाते हैं अथवा नारियल आदि निर्माल्य वस्तुयें भंडार में एकत्रित कर उसे बेचकर प्राप्त द्रव्य को मंदिजी

के निर्माण कार्य में लगाते हैं, अथवा पंचायती में धन लिखकर बोर्ड अथवा पत्थर के पाटिये पर नाम उकेरे जाने का लोभ देकर जबरन गृहस्थ के पास से पैसा लेकर लगाते हैं ।

पश्चात् किराये देने के लिये मंदिरजी के नीचे बहुत सी दुकानें बनाते हैं । उन दुकानों में हलवाई, छींपा, दर्जी, हाट करने वाले पंसारी, गृहस्थ आदि को रखते हैं अथवा अनाज से दुकानें भर देते हैं । गृहस्थ तो वहां कुशील आदि का सेवन करते हैं, हलवाई रात दिन भट्टी जलाते हैं, अनाज की दुकान में जितने अनाज के कण हों उतने ही जीव पड जाते हैं तथा ऐसा पाप जब तक मंदिर रहता है तब तक हुआ करता है । उन दुकानों के किराये से प्राप्त धन जिन मंदिर के कार्य में लगाते हैं, अथवा पूजा करनेवाले को (अर्थात ठेलवे एवं माली को वेतन के रूप में) देते हैं तथा जिनमंदिर में कुलिंगियों को रखकर श्रीजी के अविनय का घोरनघोर (बहुत अधिक) पाप करते हैं । वे कुलिंगी वहां पर ही खाते-पीते हैं, वहां ही शयन करते हैं, अथवा मंत्र-जंत्र, ज्योतिष, वैद्यक आदि की आराधना करते हैं, स्त्रियों से हंसी -मजाक करते हैं ।

जिनमंदिर की वस्तुओं को इच्छानुसार अपने निजि काम में लेते हैं, अथवा बेच भी खाते हैं । अपने को पुजवाते हैं अथवा जो स्त्रियां मंदिरजी में आती हैं उनकी वहां विकथा करके महापाप उपार्जित करते हैं । वे प्रतिमाजी को तो पीठ देते हैं, परस्पर पांव लगते हैं, तथा पंडित, यति, जैन लोगों से नमस्कार करवाते हैं । जितने पुरुष आते हैं वे लौकिक बातें करते हैं, बारम्बार शिष्टाचार करते हैं। प्रतिमाजी अथवा शास्त्रजी की अविनय हो उसकी चिंता नहीं करते। मंदिरजी की बिछायत, नगारे आदि निर्माल्य वस्तु गृहस्थ अपने घर में हो रहे विवाह आदि कार्यों के लिये ले जाकर काम में लेते हैं, यह विचार नहीं करते कि इसमें निर्माल्य का दोष लगता है । इत्यादि जब तक मंदिर रहता है तब तक मंदिर में अयोग्य कार्य

होते रहते हैं । धर्मोपदेश का कार्य अंश मात्र भी नहीं होता ।

श्रेणिक राजा ने चेलना रानी से हास्य करने के लिये कौतुहल वश मुनिराजं के गले में मरा सर्प डाला था जिसके डालते ही सातवें नरक का आयुबंध कर लिया था । मुनिराज के शान्त भावों के कारण परिणाम बदले, महान आदर भाव उत्पन्न हुआ, सम्यक्त्व को प्राप्त किया। श्री वर्द्धमान स्वामी अंतिम तीर्थंकर के निकट क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्तकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया, सभा-नायक हुआ तो भी कर्मो से नहीं छूटा, नरक ही गया। ऐसे परम धर्मात्मा को भी कर्म नहीं छोडते तो फिर तीर्थंकर देव का अविनय करने वाले को कर्म कैसे छोडेंगे ? इसलिये धर्मात्मा पुरुष तो इसप्रकार के अविधि के कार्यों को शीघ्र ही त्यागें ।

कुछ विरले धर्मात्मा पुरुष पंचम काल में भी ऊपर अविधि कही, उसके बिना (अर्थात विधि पूर्वक) अपनी शक्ति के अनुसार विनय सहित धर्मार्थी होकर जिनमंदिर बनवाते हैं । नाना प्रकार के उपकरण चढाते हैं तो वे पुरुष स्वर्ग आदि के सुखों को प्राप्तकर मोक्ष सुख के भोक्ता होते हैं।

कोई कोई पुरुष जिनधर्म के प्रतिपक्षी अन्यमति राजा के दरबार से अथवा किसी सायरा (कुदेव अथवा साहूकार) की पैडी से याचना कर अल्प सी राशि प्रतिमाह के रूप में पूजा आदि के अर्थ जिनमंदिर के लिये बंधवा देते हैं, वह महापाप है । अपने परम सेवकों के अतिरिक्त इन अन्यमति राजा, दानी का धन श्रीजी के मंदिर में लगाना उचित नहीं है । विराधी (अधर्मी) का पैसा मंदिरजी में कैसे, क्यों लगाया जावे ? अत: धर्म में विवेक पूर्वक ही कार्य करना चाहिये।

छह काल का वर्णन

आगे छह काल का वर्णन करते हैं । दस कौडाकोडी सागर प्रमाण अवसर्पिणी काल तथा इतना ही उत्सर्पिणी काल (कुल मिलाकर बीस कौडाकाडी सागर) का नाम कालचक्र है । एक-एक अवसर्पिणी तथा

उत्सर्पिणी में छह-छह काल होते हैं । (अवसर्पिणी अपेक्षा) पहला सुखमासुखमा काल चार कौडाकोडी सागर का होता है, उसमें मनुष्य तथा तिर्यन्चों की आयु तीन पल्य तथा काया तीन कोस होती है । दूसरा सुखमा काल तीन कौडाकोडी सागर का होता है जिसमें आयु दो पल्य तथा शरीर दो कोस का होता है । तीसरा सुखमादुखमा काल दो कौडाकोडी सागर प्रमाण का होता है, उसमें आयु एक पल्य तथा शरीर एक कोस का होता है । चौथा दुखमासुखमा काल बयालीस हजार वर्ष कम एक कौडाकोडी सागर का होता है जिसमें अधिकतम आयु एक कोडी पूर्व तथा शरीर सवा पांच सौ धनुष का होता है ।

उसमें पहले तो चौदहवें कुलकर नाभिराजा हुये, उनके समय से पहले तक नव कौडाकोडी सागर तक तो युगलिया (एक पुत्र एवं एक पुत्रि का एक साथ जन्म होने का) धर्म रहा, संयम का अभाव रहा, दस प्रकार के कल्पवृक्षों से प्राप्त भोगों की अधिकता रही । अंतिम कुलकर आदिनाथ तीर्थंकर हुये, उन्होंने दीक्षा ली तो उनके साथ चार हजार अन्य राजाओं ने भी दीक्षा ले ली, पर वे मुनिव्रत के परिषह सहने में असमर्थ रहे । अयोध्या नगरी में तो चक्रवर्ती भरत के भय से गये नहीं, वहां वन में ही वन के फल खाने तथा अनछना पानी पीने लगे ।

तब वन देवी ने कहा कि हे पापियो ! नग्न मुद्रा को धारण करके भी इन अभक्षों का भक्षण करोगे तो मैं तुम्हें सजा दूंगी । यदि तुमसे इस जिनमुद्रा में क्षुधा आदि के परिषह नहीं सहे जाते तो अन्य वेश धारण करो । तब इन भ्रष्टों ने वैसा ही किया । कुछ ने जटा बढाई , किसी ने नाखून बढाये, किसी ने राख लगाई, कोई जोगी, कोई संन्यासी, कोई कनफटा, एकडंडी, त्रिदंडी तापसी हुये । कुछ ने लंगोट रखी इत्यादि नाना प्रकार के भेष बनाये । एक हजार वर्ष पूर्ण होने पर भगवान को केवलज्ञान हुआ, तब कुछ ने तो सुलट कर पुनः दीक्षा धारण कर ली, कुछ वैसे ही रहे, कुछ ने नाना प्रकार के वेष धारण किये ।

चक्रवती भरत ने दान देने का विचार किया तो द्रव्य तो बहुत पर लेने वाला कोई पात्र नहीं था, तब उसने नगर के सब लोगों को बुलाया तथा मार्ग में हरितकाय उगवादी तथा कुछ मार्ग प्रासुक रखा। सर्व लोगों को आज्ञा दी कि इस अप्रासुक मार्ग से आवें। तब जिनका हृदय निर्दय था वे बहुत लोग तो उसी हरितकाय पर पांव रख कर चले गये, तथा जिनके चित्त दया रूपी जल से भीगे थे वे वहां ही खडे रहे, आगे नहीं गये।

चक्रवर्ती ने पुनः उसी अप्रासुक मार्ग से आने को कहा। तब उस लोगों ने उत्तर दिया कि हम तो किसी भी प्रकार हरितकाय की विराधना करके नहीं आवेंगे। भरत ने उन पुरुषों को दयावान जानकर प्रासुक मार्ग से बुलाया, तथा उनसे कहा – आप धन्य हैं, आपके हृदय में दया भाव है, अतः अब हम जो कहें वह करो। सम्यक्दर्शन-ज्ञान, चारित्र का तो तीन तार का कंठसूत्र अर्थात जनेऊ कंठ में पहनो, पाक्षिक श्रावक के व्रत धारण करो तथा गृहस्थ कार्य की प्रवृत्ति चलाओ। दान लो तथा दान दो, इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है। आप लोग हमारे द्वारा मान्य होंगे। अतः वे वैसा ही करने लगे तथा वे ही गृहस्थाचार्य कहलाये। बाद में वे ही ब्राह्मण कहलाये।

ब्राह्मणकाल की उत्पत्ति

कुछ काल बाद (भरत चक्रवर्ती ने) आदिनाथ भगवान से पूछा कि ये कार्य मैंने उचित किया अथवा अनुचित? तब भगवान की दिव्यध्वनी में ऐसा उपदेश आया – तुमने यह कार्य विरुद्ध (अनुचित) किया है। आगे भगवान शीतलनाथ तीर्थंकर के समय ये सब भ्रष्ट होगें, तथा अन्यमति होकर जिनधर्म के विरोधी होंगे। इस पर भरत के मन में बहुत खेद हुआ तथा क्रोध कर इसका निराकरण करने का प्रयास किया, पर होनहार के वश वह मत प्रचुर रूप से फैला, उसकी व्युच्छिति नहीं हो सकी (उनका उच्छेद नहीं हो सका)। भगवान आदिनाथ की दिव्यध्वनी में उपदेश हुआ कि ये तो ऐसा ही होना था, भरत तुम खेद मत करो। इसप्रकार

ब्राह्मण कुल की उत्पत्ति जानना। इस ही का विपर्यय (विपरीत) रूप अब देखने में आ रहा है।

तुर्कमति की उत्पत्ति

अंतिम तीर्थंकर वर्द्धमान स्वामी के समय उनका ही मौसेरा भाई ग्यारह अंग का पाठी हुआ, जिसका नाम मसकपूर्ण था। उसको प्रबल कषाय उत्पन्न हुई, उसने मलेच्छ भाषा की रचना की तथा मलेच्छ (मुसलिम) मत चलाया। शास्त्र का नाम कुरान रखा, तथा उसके तीस अध्यायों का नाम तीस सिपारा रखा। इसप्रकार बहुत अधिक हिंसामय धर्म की प्ररूपणा की; जो काल के दोष के कारण बहुत फैला। जैसे प्रलय काल की पवन से प्रलय काल की अग्नि फैले। इसप्रकार तुर्क (मुसलिम) मत की उत्पत्ति जानना।

वर्द्धमान स्वामी के मुक्त होने के बाद इक्कीस हजार वर्ष का पंचम काल प्रारम्भ हुआ। जिसमें कुछ काल बाद अर्थात लगभग अढाई सौ वर्ष बीत जाने के बाद भद्रबाहु स्वामी आचार्य हुये। उस समय केवली, श्रुतकेवली, अवधिज्ञानियों का तो अभाव हुआ। उसी समय उज्जैन नगर में चन्द्रगुप्त नाम का राजा हुआ। उसने सोलह स्वप्न देखे तथा उनका फल भद्रबाहु स्वामी से पूछा। तब उनने भिन्न-भिन्न एक-एक स्वप्न का फल कहा जिनका स्वरूप कहते हैं – **चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्न** – (1) कल्पवृक्ष की टहनी टूटी देखी जिसका फल होगा कि क्षत्रिय दीक्षा धारण करना छोडेंगे (2) सूर्य अस्त देखने से द्वादशांग के पाठियों का अभाव होगा (3) छिद्र सहित चन्द्रमा देखने से जिनधर्म में ही अनेक मत होंगे भगवान की आज्ञा से विमुख होकर घर-घर में मनमाने मत स्थापित करेंगें (4) बारह फनों वाला सर्प देखने से बारह वर्षो का अकाल पडेगा, यति लोग क्रिया से भ्रष्ट होंगे (5) देव विमान वापस जाता देखने से पंचम काल में चारण ऋद्धि धारी मुनि, कल्पवासी देव, तथा विद्याधरों का आगमन नहीं होगा (6) कूडे में कमल की

उत्पत्ति देखने से संयम सहित जिनधर्म वैश्यों के घरों में रहेगा, क्षत्रिय व विप्र उससे विमुख होंगे (7) नाचते हुये भूत देखने से नीच देवों के मान होगा, जिनधर्म से अनुराग मंद होगा (8) चमकती अग्नि देखने से जिनधर्म कहीं-कहीं अल्प रहेगा, किसी समय बहुत घट जावेगा किसी समय थोडा बढ जावेगा, मिथ्यामत का बहुत लोग सेवन करेंगे (9) सूखे सरोवर में दक्षिण दिशा में थोडा जल देखने से धर्म दक्षिण दिशा में रहेगा, जहां-जहां तीर्थंकरों के पंचकल्याणक हुये हैं वहां-वहां धर्म का अभाव होगा। (10) स्वर्ण पात्र में स्वान को खीर खाते देखने से उत्तम जनों की लक्ष्मी का भोग नीच लोग करेंगे (11) हाथी के ऊपर बंदर बैठा देखने से नीच कुल के व्यक्ति राजा होंगे, क्षत्रिय कुल वाले उनकी सेवा करेंगे (12) मर्यादा का उल्लंघन करता समुद्र देखने से राजा नीति को छोडकर प्रजा को लूट कर खावेंगे (13) तरुण बैल रथ में जुते देखने से लोग तरुण अवस्था में तो धर्म का संयम का आदर करेंगे तथा वृद्धा अवस्था में शिथिल होंगे (14) ऊंट पर राजपुत्र को चढा देखने से राजा जिनधर्म को छोडकर हिंसक मिथ्यामति होंगे (15) रत्नों की राशि को धूल से ढकी देखने से यति (साधुगण) परस्पर द्वेषी होगें (16) काले हाथियों का समूह लडते देखने से वर्षा समय-असमय थोडी-सी होगी, मनमाने (मनचाहे-अनुकूल) समय पर मेघ नहीं बरसेंगे।

इसप्रकार भद्रबाहु स्वामी ने निमित्त ज्ञान के बल से राजा चन्द्रगुप्त को अशुभ की सूचना देने वाले सोलह स्वप्नों का यथार्थ अर्थ कहा, जिससे राजा बहुत भयभीत हुआ। इसप्रकार से स्वप्नों का फल सभी मुनियों ने प्रकट रूप से जाना। ये ही सोलह स्वप्न चतुर्थ काल में भरत चक्रवर्ती को आये थे, उसने भी इनका फल भगवान आदिनाथ से पूछा था, तब श्री आदिनाथ भगवान की दिव्यध्वनि में ऐसा उपदेश हुआ था कि आगे पंचम काल आवेगा उसमें हुण्डावसर्पिणी के दोष से अनेक तरह की विपरीत बातें होंगी, जो इस भव में अथवा परभव में जीवों का महादु:ख के कारण बनेंगी।

पंचम काल में ये सोलह स्वप्न राजा चन्द्रगुप्त को आये, राजा चन्द्रगुप्त ने दीक्षा धारण करली । उन स्वप्नों में बारह फनों वाला सर्प देखने से बारह वर्ष का अकाल पडना जाना । उस समय चौबीस हजार मुनियों का संघ था, उन्होंने संघ को बुलाकर कहा – इस देश में बारह वर्ष का अकाल पडेगा, यहां रहेंगे वे भ्रष्ट होंगे, दक्षिण में चले जावेंगे उनका मुनिपद रह पावेगा, उस तरफ अकाल नहीं होगा ।

श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति

ऐसा कहने पर भद्रबाहु स्वामी सहित बारह हजार मुनि तो दक्षिण दिशा की तरफ विहार कर गये। शेष बारह हजार मुनि यहां ही रहे, जो अनुक्रम से भ्रष्ट होकर पात्र, झोली, अंगोछा रखने लगे । बारह वर्ष पूर्ण होने पर पुनः सुभिक्ष काल आया, तब भद्रबाहु स्वामी तो परलोक जा चुके थे तथा दक्षिण के सारे मुनियों ने इधर आने पर इधर रहे मुनियों की भ्रष्ट अवस्था देखकर उनकी निंदा की । तब कुछ तो प्रायश्चित तथा दंड ग्रहण कर छेदोपस्थापन कर शुद्ध हुये, शेष प्रमाद के वशीभूत हुये। विषय-कषायों के अनुरागी हुये, धर्म से शिथिल हुये। कायरता धारण करते हुये मन में ऐसा विचार करते हुये कि जिनधर्म का आचरण तो अत्यन्त कठिन है, हम तो ऐसा आचरण पालने में असमर्थ हैं, अतः अब सुगम क्रिया में प्रवर्तन करेंगे तथा काल पूरा करेंगे। इसी अनुसार उपाय करते हुये जिन प्रणीत शास्त्र का लोप कर जिससे अपना स्वार्थ सधे तथा विषय-कषायों का पोषण होता रहे, उसके अनुसार अपनी पंडिताई के बल से पैंतालीस (45) शास्त्रों की मनोकल्पित रचना की तथा उनका नाम द्वादशांग रखा । उनमें देव-गुरु-धर्म का स्वरूप अन्यथा लिखा। देव-गुरु को भी परिग्रह होना बताया। धर्म को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रहित तथा लेशमात्र भी वीतराग भाव रहित निरूपित किया। वे अब तो तीन अंगाछे, ओधा, मुंहपट्टी, पात्र आदि रखने लगे और दीक्षा आदि का अभाव हुआ।

पश्चात् ज्यों-ज्यों हीन काल आता गया त्यों-त्यों बुद्धि विशेष राग-भाव का अनुसरण करती गयी। उसके अनुसार वस्तुयें, वाहन आदि विशेष परिग्रह रखने लगे। मंत्र-तंत्र, ज्योतिष, वैद्यक करके मूर्ख गृहस्थों को वश में करने लगे। अपने विषय कषायों का पोषण करने लगे, उनमें भी कषायों के तीव्र वशीभूत हुये तथा अन्य-अन्य खरतरा (खतरगच्छ) आदि चौरासी मतों की स्थापना की। विशेष काल दोष से उनके मत में से ही एक शिष्य लडकर मारवाड देश में ढूंढया में जा बैठा, फिर ढूंढया मत चलाया तथा पैंतालीस शास्त्रों में से भी उसने बत्तीस शास्त्र ही रखे। उनमें प्रतिमाजी का तो स्थापन है तथा पूजा का फल विशेष लिखा है।

अकृत्रिम चैत्यालय एवं तीन लोक की असंख्यात प्रतिमाजी आदि की विशेष महिमा एवं वर्णन लिखा है। परन्तु हिन्दू, मुसलमान अथवा दिगम्बर एवं पूर्व श्वेताम्बरों से दोष पालने (विरुद्धता) के लिये प्रतिमाजी का एवं जिनमंदिरों का तथा जिनबिंब पूजा का उत्थापन (निषेध) किया है। काल दोष के कारण इस खोटे मत की वृद्धि खूब फैली। शुद्ध धर्म की प्रवृत्ति काफी चेष्टा पूर्वक भी चल नहीं पाती ऐसा प्रत्यक्ष देखा जाता है। इसप्रकार श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति हुई। इसका विशेष जानना चाहें तो वे "भद्रबाहु चरित्र" नाम के ग्रन्थ से जान लें।

दिगम्बर मुनियों में शिथिलाचार

पश्चात् जो शेष दिगम्बर गुरु रहे, उनकी परिपाटी भी कुछ काल तक तो शुद्ध चली, फिर काल दोष के वश हो कोई-कोई भ्रष्ट होने लगे। वन आदि को छोडकर रात्रि के समय भय के मारे नगर के समीप आकर रहने लगे। फिर उनमें भी जो शुद्ध मुनिराज थे, उन्होने उनकी (भ्रष्टों की) निंदा की, हाय, हाय ! देखो काल का दोष कि मुनियों की वृत्ति तो सिंह के समान निर्भय होने पर उनने भी स्याल वृत्ति आदरी (अपना ली) है। सिंह को वन में किसका डर है ? उसीप्रकार मुनियों को काहे का भय?

स्याल रात्रि के समय नगर के समीप आकर विश्राम करते हैं, उसीप्रकार स्याल के सदृश्य ये भ्रष्ट मुनि भी नगरों का आश्रय लेते हैं। प्रभात के समय ये मुनि तो सामायिक करने बैठेंगे तथा नगर की स्त्रियां गोबर-पानी के लिये नगर के बाहर आवेंगी, वे इनकी वैराग्य संपदा लूट ले जावेंगी। तब निर्धन होकर नीच गति को जा प्राप्त होंगे तथा इस भव में महानिंदा को प्राप्त होंगे। नगर के निकट रहने मात्र से ही मुनि भ्रष्टता को प्राप्त होते हैं, तब अन्य परिग्रहों के धारक कुगुरुओं की क्या बात ? वे गुरु भी भ्रष्ट होते होते सब भ्रष्ट हुये तथा अनुक्रम से अधिक भ्रष्ट होते गये, जो प्रत्यक्ष इस काल में देखे जाते हैं।

इसीप्रकार काल दोष से राजा भी भ्रष्ट हुये तथा जिनधर्म के द्रोही हुये, इस भांति सर्व प्रकार धर्म का नाश होता जान जो धर्मात्मा पुरुष रहे थे, उन्होंने विचारा कि अब क्या करना ? केवली, श्रुतकेवली का तो अभाव हुआ तथा गृहस्थाचार्य पहले ही भ्रष्ट हो चुके हैं, राजा तथा मुनि भी सब भ्रष्ट हुये, अब धर्म किसके सहारे रहेगा ? हमें ही धर्म करो रक्षा के लिये कुछ करना है, अत: अब श्रीजी के सम्मुख ही पूजा करो तथा श्रीजी के सम्मुख ही शास्त्र पढो।

(**नोट :-** इससे आगे अलग प्रकार के टाइप में लिखा गया प्रकारण दि. जैन मुमुक्षु मंडल, जैन मंदिर, भोपाल द्वारा सन 2000 में विदिशा से प्रकाशित इस ग्रन्थ के पृष्ठ नम्बर 91 की लाईन नम्बर 17 से पृष्ठ नम्बर 92 के अन्त तक, में दिया गया है, पर इसी संस्था द्वारा सन 1987 में ढूंढारी में प्रकाशित प्रथम संस्करण में नहीं है। पाठकों के लिये उपयोगी समझकर यहां दिया जा रहा है।)

"देव से विनती करने लगे हे भगवान ! कुवेष धारियों को जिनमंदिर से बाहर निकालो, ये भगवान का अविनय करते हैं, आपको (स्वयं को) पुजाते हैं तथा मंदिर को घर समान कर लिया है, सो इस बात का महान पाप जानना चाहिये। इन गृहस्थ धर्मात्माओं ने इन कुवेशियों को हलाहल

समान खोटे तथा धर्म द्रोही जानकर अपनी सुरक्षा की तथा श्री वीतराग देव से प्रार्थना करने लगे – हे भगवान ! मैं तो आपके वचनों के अनुसार चलता हूं, इसलिये तेरा (तुम्हारा) पंथी हूं, आपके अतिरिक्त हम अन्य कुदेवादि की सेवा नहीं करते हैं।

इनकी सेवा नरक आदि का कारण है तथा आप स्वर्ग मोक्ष के दाता हैं, अतएव आप ही देव हैं, आप ही गुरु हैं, आप ही धर्म हैं, अत: आपकी ही सेवा करता हूं, अन्य का सेवन नहीं करता । आपको छोड आपके प्रतिपक्षी कुदेवादि की सेवा करते हैं, वे हरामखोर हैं, क्योंकि इसके समान और अधिक बडा पाप संसार में नहीं होता । सो वे हरामखोर नरकादि के दु:ख पाते हैं ।

तेरापंथी तो तेरह प्रकार के चारित्र धारक ऐसे निर्ग्रन्थ गुरु को मानते हैं तथा अन्य परिग्रही गुरु को नहीं मानते हैं । अत: गुरु अपेक्षा भी तेरापंथी संभव है ।

विष्णु का सेवन करने वाले, तीव्र कषायी, जिनके अवलोकन करने से ही भय उत्पन्न होता है, मानों कि वे शीघ्र ही प्राणों का हरण कर लेंगे, ऐसे भय से वे क्रूर दृष्टि, स्त्री के रागी, मोह मदिरा के पान से उन्मत्त, इन्द्रियों के अत्यन्त लोलुपी ऐसे सर्व देवों को मानते हैं उन्हें सर्व पन्थी कहा जाता है, इसका ऐसा अर्थ जानना ।

परन्तु तेरापंथी तो अनादि-निधन जिन भाषित शास्त्रानुसार चले आये हैं। शेष जितने हैं, वे कुमत हैं । ऋषभनाथ तीर्थंकर से लेकर अब तक तेरापंथी धीरे-धीरे कम होते गए तथा अन्यमती बढते गये, जैसे दूध घना (बहुत) ही शुद्ध था, परन्तु मदिरा के बर्तन में जा पडने से वह दूध (काम में) लेने के अयोग्य हुआ, अत: भले सदस्य उसका कैसे सेवन कर सकते हैं ?

उसी तरह जो शुद्ध जैनी होकर कुगुरु, कुधर्म रूपी अयोग्य भाजन को अंगीकार करते हैं, उनको सत्पुरुष जैनी कैसे मानें ? जैनी तो वही है जो जिनदेव के अतिरिक्त अन्य को नहीं मानते हैं, उनका लालन पालन नहीं करते हैं । जैसे शीलवंती स्त्री अपने कामदेव जैसे भर्तार को

छोडकर अतिनीच कुल में उत्पन्न भ्रष्ट पुरुष का लालन पालन नहीं करती है। यदि उसका लालन-पालन करे तो शीलवंती किस तरह की ? "हमारी मां और बांझ" इसतरह कहना संभव नहीं है इसतरह का वचन यदि कोई कहता है तो उसको बावला तथा मतवाला जानना, क्योंकि वह चतुर नहीं है।

जो जिनदेव की भी सेवा करता है और कुदेवादि की भी सेवा करता है उसको (कुदेव को) भी भला जाने और इसको (जिनदेव को) भी भला जाने तो उसके वचन भी प्रमाणिक नहीं हैं। इसलिये अरिहंत देव, निर्ग्रन्थ गुरु, जिनप्रणीत दयामयी धर्म मानना उचित है। वही मोक्षमार्ग है, अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं है।

कितने ही अज्ञानी अन्य प्रकार से भी मोक्षमार्ग मानते हैं, वे क्या चाहते हैं ? सर्प के मुख से अमृत चाहते हैं, जल बिलोकर घृत निकालना चाहते हैं। बालूरेत पेलकर तेल की अभिलाषा करते हैं अग्नि में कमल का बीज बोकर उसकी शीतल छाया में बैठकर आराम करना चाहते हैं, इत्यादि। ऐसे विशेष कार्य करने पर फल की प्राप्ति नहीं होती, भ्रम बुद्धि से ऐसा माने तो महाकष्ट ही उत्पन्न होता है। ऐसा प्रयोजन जानना।

चौरासी अछेरा

श्वेताम्बर लोग दिगम्बर धर्म के विरुद्ध चौरासी अछेरे (अतिशय अथवा जिन्हें छेडा नहीं जाना चाहिये, उनके सम्बन्ध में कोई प्रश्न तर्क वितर्क न किया जावे, जैसा कहा है वैसा ही मान लिया जावे) मानते हैं, उनका निर्देश एवं स्वरूप कहते हैं :-

केवली को कवलाहार होना :- ऐसा विचार नहीं करते कि संसार में क्षुधा से अधिक अन्य कोई रोग नहीं है तथा दुःख नहीं है। जिसको तीव्र दुःख पाया जावे वह परमेश्वर काहे का ? वह तो संसारी सदृश्य ही है तब फिर अनन्त सुख पाना कैसे संभव है ? तथा छयालीस दोष, बत्तीस अन्तराय रहित निर्दोष आहार कैसे मिलेगा ? केवली तो सर्वज्ञ हैं उन्हें तो सदोष-निर्दोष वस्तुयें सभी प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं। तीन लोक तो हिंसा

आदि सर्व दोषों से भरा है, अत: ऐसे दोषों को जानते सुनते वे केवली होकर उस सदोष आहार को कैसे ग्रहण करेंगे ?

मुनिराज भी सदोष आहार ग्रहण नहीं करते तब सर्व मुनियों द्वारा पूज्य त्रिलोकीनाथ इच्छा के बिना सदोष आहार को कैसे ग्रहण करें ? एक आहार लेने के बाद क्षुधा, तृषा, राग-द्वेष, जन्म मरण, रोग, शोक, भय, विस्मय, निद्रा, खेद, स्वेद, मद, मोह, अरति, चिंता ये अठारह दोष उत्पन्न हो जाते हैं। तब तो ऐसे अठारह दोष के धारक जो परमेश्वर हों वे तो अन्य मतियों के परमेश्वर के सदृश्य ही हुये।

यहां कोई प्रश्न करे :– तेरहवें गुणस्थान तक आहारक (अथवा) अनाहारक दोनों कहा है, वह कैसे है ?

उसका उत्तर देते हैं :– यह आहार है वह छह प्रकार का है – (1) कवल (2) कर्म-वर्गणा (3) मानसिक (4) ओज (5) लेप (6) नोकर्म। इनका अर्थ लिखते हैं – (1) कवल नाम तो मुख से ग्रास लेने का है, जो दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, असैनी, पंचेंन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य के पाया जाता है। (2) कर्म-वर्गणा का आहार नारकी जीवों के पाया जाता है। (3) मानसिक आहार मन में इच्छा होने पर कंठ से अमृत के झर जाने से तृप्त हो जाने को कहते हैं, जो चार निकाय के देव-देवांगनाओं के पाया जाता है। (4) ओजाहार :– पक्षी गर्भ से बाहर अंडा छोडते हैं, वह कितने ही दिनों तक कवला-आहार के बिना वृद्धि को प्राप्त होता है, उसमें वीर्य-रज- धातु पाये जाते हैं, उनके निमित्त से ही शरीर पुष्ट होता है। कोई कहते हैं कि हाथ लगा देने पर वीर्य गल कर अंडा खराब हो जाता है। (5) लेप आहार सर्वांग शरीर में व्याप्त हो उसे कहते हैं, वह एकेन्द्रिय पांचों स्थावरों के होता है। जैसे वृक्ष जड के द्वारा मिट्टी, जल को खींच सर्वांग अपने शरीर को परिणमाता है। ये चार प्रकार के आहार तो क्षुधा की निर्वृति करते हैं। (6) नोकर्म आहार तो पर्याप्ति पूर्ण करने का कारण है।

प्रति समय सर्व जीव आकाश में से नोकर्म जाति की वर्गणाओं का ग्रहण करते हैं तथा पर्याप्ति रूप परिणमाते हैं । कार्माण के तीन समय (विग्रह गति) अन्तराल को छोडकर, समुदघातके प्रतर-काल युगल के दो समयों को पूर्ण कर (लोकपूर्ण के) एक समय को छोडकर सिद्ध, अयोग गुणस्थानवर्ती केवली को छोडकर, आयु के एक समय (बाकी रहने) पर्यन्त त्रिलोक के सर्व जीव ग्रहण करते हैं । इस अपेक्षा तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त आहारक कहा है, वह तो हम भी मानते हैं । परन्तु कवला-आहार छठे गुणस्थान तक ही है, अत: आहार संज्ञा छठे गुणस्थान तक ही है ।

कार्माण -आहार तो आठों कर्मों के ग्रहण करने को कहा जाता है, वह तो सिद्ध तथा अयोग-केवली के अतिरिक्त सर्व जीव प्रथम गुणस्थानवर्ती से लेकर तेरहवें गुणस्थान के अंत तक आयु सहित आठ अथवा आयु को छोडकर शेष सात कर्मों का ग्रहण करते हैं अथवा सातावेदनीय एक कर्म का ही ग्रहण करते हैं । इसप्रकार छह प्रकार के आहार का स्वरूप जानना । अत: केवली को कवलाहार कहना संभव नहीं है । परन्तु जो पूर्वापर विचार से रहित हैं, वे ऐसा मानते हैं ।

श्वेताम्बर मत में भी आहार संज्ञा छठे गुणस्थान तक ही कही गयी है । मोह के मारे हुये, अहंकारमति अपने पक्ष को पकडे इसका (इस कथन का) विचार ही नहीं करते, कि ये आहार कैसा है तथा तेरहवें गुणस्थान तक भी जो आहारक कहा गया है, वह कैसे कहा गया है, ऐसा विचार ही उत्पन्न नहीं होता । यह तो न्याय ही है कि स्वयं के अवगुण यदि छुप नहीं सकते हों तो अपने से जो बडे हों उनके अवगुण पहले उजागर किये जाते हैं। जैसे सर्व अन्य मतियों ने, वे जिन विषय भोगों का सेवन करते आये थे, उन्हें परमेश्वर के भी (वे विषय भोग) कल्पित कर लिये। उसी प्रकार श्वेताम्बरों ने, अपने एक दिन में बहुत बार भोजन करना चाहने के कारण

केवली के भी आहार होना प्रतिपादित कर दिया। इस भाव को धिक्कार हो !

हे भाई ! तू क्यों अपने स्वार्थवश निर्दोष परम-केवली भगवान को भी दोष लगाता है, उस पाप की बात तो हम नहीं जानते कि कैसा पाप उत्पन्न होता है यह ज्ञान में ही जाना जा सकता है । फिर केवली को रोग, केवली के निहार, केवली का केवली को नमस्कार, केवली के उपसर्ग, प्रतिमाजी को आभूषण, तीर्थंकर का भस्म लपेटे होना, तीर्थंकर की पहली देशना का व्यर्थ जाना, महावीर तीर्थंकर का देवानंदी ब्राह्मण के घर अवतार लेना (गर्भ में आना), फिर इन्द्र का उन्हें उसके गर्भ से निकाल कर लेजाकर त्रिशलादेवी रानी के गर्भ में रख देना जिससे उनका त्रिशलादेवी के गर्भ से जन्म होना। आदिनाथ और सुनन्दा को युगलिया भाई-बहन कहना, तथा फिर सुनन्दा बहन से ही आदिनाथ का शादी करना। केवली को छींक आना। सुंदकर ब्राह्मण मिथ्यादृष्टि के सम्मुख गौतम गणधर का जाना स्त्री का महाव्रतों का पालन करना, स्त्री की मुक्ति तीर्थंकर की दीक्षा के समय इन्द्र का देवलोक से श्वेत वस्त्र लाकर देना तथा उनका मुनि अवस्था में उन्हीं वस्त्रों का पहने रहना। प्रतिमाजी के लंगोट एवं करधनी का चिन्ह रखना आदि।

श्री मल्लिनाथ तीर्थंकर की स्त्री पर्याय मानना, युगलिया की काया छोटी करके देवों का उन्हें भरतक्षेत्र लाना जिनसे चौथे काल की आदि में पुन: युगलिया धर्म का चलना। युगलिया से ही हरिवंश का चलना। यति के चौदह उपकरण। मुनिसुव्रत तीर्थंकर के गणधरों में घोडे का भी गणधर होना कहना। मुनियों का श्रावकों से स्वयं आहार मांगकर लाना तथा उपाश्रय (धर्मस्थान) में बैठ कर दरवाजा बंद कर आहार करना। दो गुणा आहार करना जिसका अर्थ यह है कि कोई साधु मांगकर आहार लाया हो, आहार करने के बाद जो शेष बच गया हो, तो उस आहार को तेला

(तीन दिन के उपवास) आदि बहुत दिनों के उपवास धारी अन्य कोई साधु हो तो उसके पेट में डाल दिया जावे तो कोई दोष न होना, साधु का पेट तो रोडी (पत्थर) को समान होना ।

भावार्थ:– तेले आदि बहुत उपवास के दिनों में अन्य साधु का बचा हुआ भोजन लेना उचित है, इससे उपवास भंग नहीं होता, यह निर्दोष आहार है । नौ पानी आहार करने का अर्थ यह है कि जल की विधि न मिले तो मूत्र पीकर तृषा बुझावे, साधु को स्वाद से क्या प्रयोजन। नौ जाति के विधि भेद से घी, दूध, तेल, मीठा, मद, मांस, शहद एवं एक अन्य अथवा कोई श्रावक ने नौ पानी का आहार पचाया हो वह भी साधु को लेना योग्य है ।

निंदक को मारने में पाप नहीं है, युगलिया मर कर नरक भी जाते हैं। भरतजी ने अपनी बहन ब्राह्मी को विवाह के लिये अपने घर में रख लिया। भरतजी को गृहस्थ अवस्था में महलों में ही आभूषण पहने भावना भाने से केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। महावीर ने जन्म कल्याणक के समय बालक अवस्था में ही पांव के अंगूठे से सुमेरु पर्वत को कंपित कर दिया। पांच पांडवों की एक पत्नी द्रोपदी पंचभर्तारी होने पर भी शीलवती महासती हुई । कुबडे शिष्य के कंधे पर गुरु बैठा तथा गुरु द्वारा उल्टे शिष्य के सर पर डंडे की चोट करते जाने पर शिष्य ने क्षमा धारण की, उस क्षमा के प्रभाव से शिष्य को केवलज्ञान हो गया, तब शिष्य सीधा होकर चलने लगा तो गुरु ने पूछा शिष्य सीधा क्यों गमन करने लगा है, तुझे केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है क्या ? शिष्य ने कहा गुरु के प्रसाद से ।

जैमाली जाति का माली था उसने महावीर तीर्थंकर की बेटी से शादी की। कपिल नारायण को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ तब कपिल नारायण ने नृत्य किया, धातकी खण्ड से इस क्षेत्र में आया । वसुदेव के बहत्तर हजार स्त्रियां हुई । मुनि स्पर्श– शूद्र के यहां आहार ले सकते हैं, यदि कोई मांस

आदि भी आहार में दे दिया गया हो तो साधु की वृत्ति तो यही है कि जो कुछ भी दिया गया हो वही ले लेना । आहार लेने के बाद पृथ्वी पर डालने से तो बहुत जीवों की हिंसा होगी, अत: इसे भक्षण कर लेना ही उचित है, बाद में गुरु को बता कर इसका प्रायश्चित ले लेंगे ।

देवता ने मनुष्यनि से भोग किया जिससे सुलसा श्रावकणी (श्राविका) को देव के समान बेटा उत्पन्न हुआ। चक्रवर्ती के छह हजार स्त्रियां हुई । त्रिपृष्ट नारायण छींपे के कुल में उत्पन्न हुआ । बाहुबली का शरीर सवा पांच सौ धनुष ऊंचा नहीं मानते, कुछ कम मानते हैं । वर्द्धमान स्वामी ने अनार्य देश में विहार-कर्म किया। चौथे काल में यति भी संयमी को पूजते हैं । धनदेव का एक कोस मनुष्य के चार कोस के बराबर है । समवशरण में तीर्थंकर नग्न नहीं दिखते, वस्त्र पहने ही दिखते हैं । यति हाथ में डंडे रखें ।

मरूदेवी माता को हाथी पर चढे-चढे ही केवलज्ञान हो गया, जिसका फलितार्थ यह हुआ कि द्रव्य-चारित्र के बिना ही (तथा स्त्री पर्याय में ही) केवलज्ञान उत्पन्न हुआ । चाण्डाल आदि नीच कुल वाले दीक्षा धारण करें तथा मोक्ष जावें (भी दीक्षा धारण कर सकते हैं तथा मोक्ष जा सकते हैं) । चन्द्रमा और सूर्य अपने मूल विमानों सहित महावीर स्वामी की वंदना के लिये आये । पहले स्वर्ग का इन्द्र दूसरे स्वर्ग में जाकर वहां का स्वामी हो जाता है तथा दूसरे स्वर्ग का इन्द्र पहले स्वर्ग का स्वामी हो जाता है । युगलियाओं का शरीर मरने के बाद भी पडा रहता है । जिनेश्वर के मूल शरीर को जलाया जाता है । श्रावक अथवा यति को कोई स्त्री आकर मन की स्थिरता करावे तो स्त्री को कोई दोष नहीं लगता। पुण्य ही उपार्जित करती है क्योंकि यति अथवा श्रावक को जो विकार बाधा उत्पन्न हुई थी वह मिटी । तीर्थंकर को अठारह दोष सहित मानना ।

तीर्थंकर के शरीर से पांच स्थावर जीवों की हिंसा होना मानना । तीर्थंकर की माता चौदह ही स्वप्न देखती है । स्वर्ग बारह ही होते हैं । गंगादेवी से भोगभूमिया ने पचपन हजार वर्ष पर्यन्त भोग भोगा । प्रलय

काल में देव केवल बहत्तर युगलों को ही उडा कर ले जाते हैं, अधिक को नहीं ले जाते । चमडे से स्पर्शित पानी निदोष है । घी, पकवान अथवा सकरी रसोई (कच्चा-खाना) बासी भी पडा हो तो निदोष है । भगवान महावीर के माता-पिता ने भगवान के दीक्षा लेने से पूर्व ही अपनी पर्याय पूरी की एवं देव गति में गये।

बाहुबली का रूप मुगल (मुसलमान) जैसा था । साबुत (बिना कटे - पूर्ण) फलों को खाने में कोई भी दोष नहीं है । युगलिया परस्पर लडते हैं, कषाय करते हैं । त्रैसठ शलाका पुरुषों को निहार होना मानते हैं । इन्द्र चौसठ जाति के ही होते हैं एक सौ जाति के नहीं । यादवों ने मांस खाया था । मनुष्य मानुषोत्तर पर्वत से आगे भी जा सकता है । कामदेव चौबीस नहीं होते । देवता तीर्थंकरों के मृत शरीर के मुंह में से डाढ निकाल कर ले जाकर स्वर्ग में पूजा करते हैं । नाभिराजा और मरुदेवी युगलिया थे । नव ग्रैवियक के वासी देव अनुत्तरों तक भी जाते हैं । शिष्य आहार लाया, सर्व गुरुओं ने उसके पात्र में थूंका तथा शिष्य ने उसे गुरु की झूंठन जानकर खाया उससे उसे केवलज्ञान हो गया । शास्त्र को वेष्ठन में बांध कर चौके-पाटे के नीचे धर देने अथवा शास्त्र को सर के नीचे रख कर (लगा कर) सो जाने पर भी यह कहना कि यह तो जड है, इसका क्या विनय करना ?

प्रतिमाजी के लिये भी कहें कि यह जड है, इसे पूजने या नमस्कार करने से क्या फल देगी ? कुदेव आदि को पूजने में कोई बुराई नहीं है, यह तो गृहस्थपने का धर्म है । अन्य-जन को कहें धर्म के लिये अंश मात्र भी हिंसा नहीं करना चाहिये, परन्तु सैकडों स्त्री-पुरुषों को चर्तुमास के दिनों में कीचड आदि को रौंधते-रौंधते असंख्यात अनन्त स्थावर त्रस जीवों की हिंसा कराते हुये अपने पास बुलाना तथा नमस्कार कराना अथवा चलते हुये उल्टे जावें (जाने को कहना), (साधु यति) आते हों तो उनको पांच-सात कोस दूर तक सामने जाकर लावें (लाने का उपदेश देना)। इत्यादि धर्म के नाम पर नाना प्रकार की हिंसा करते हैं पर उसका दोष नहीं

गिनते। मुखपट्ठी रखते हैं और कहते हैं (कि हम यह इसलिये करते हैं कि न करने पर) पवनकाय के जीवों की हिंसा होती है, परन्तु मुख का छिद्र तो सदैव बंद ही रहता है तथा जब वे बोलते हैं तब भी मुख के आड रहती है, जिससे स्वांस निकलती नहीं, स्वांस तो नाक के छिद्रों से निकलती है, उसके तो पट्टी लगाते नहीं। मुख पट्टी पर मुख की लार से असंख्यात जीव उत्पन्न होते हैं उसका दोष गिनते (देखते) नहीं।

जैसे एक स्त्री अपने छोटे से पुत्र को अपना शरीर पर आडा कपडा डाल कर आंचल चुसावे तथा कहे यह लडका पुरुष है इसलिये इसके स्पर्श से कुशील का दोष लगता है तथा मैं परम शीलवती हूं, अत: नाम मात्र भी पर पुरुष का स्पर्श करना मुझे उचित नहीं है। पर पति को नींद में सोता छोडकर अथवा पति की आंख चुराकर अथवा दाव-पेंच से मौका देखकर आधी रात के समय अथवा अन्य किसी समय चाहे जब, अपने घोडों के रखवाले नीच कुलीन कुबडे, महाकुरूप, निर्दय, तीव्र कषायी ऐसे निंद्य पुरुष से जाकर भोग करे तथा कभी वह स्त्री अपने प्रेमी पुरुष के पास देर सवेर पहुंचे तो वह प्रेमी परपुरुष उसे लट्ठी, मुक्के आदि से मारे तो भी प्रेमी से विनयवान होकर प्रीति ही करे। अपने कामदेव समान पति की इच्छा न करे, उसीप्रकार इन श्वेताम्बरों को जानना।

किसीप्रकार मुंह से बोलने पर भी त्रस-स्थावर जीवों के परम रक्षक दिगम्बर योगीश्वर वनोपवासी, संसार-देह भोगों से उदासीन, परम वीतरागी, शुद्धोपयोगी, तरण-तारण, शान्तमूर्ति, इन्द्र आदि देवों द्वारा पूज्य, मोक्षमार्गी, जिनके दर्शन मात्र से ही ज्ञान वैराग्य की प्राप्ति हो, आपा-पर (स्व-पर) का जानपना हो, ऐसे निर्विकार निर्ग्रन्थ गुरु भी खुले मुख उपदेश क्यों देते ? उनके मुख के आगे हाथ आदि के द्वारा भी कोई आच्छादन देखा नहीं जाता। पर वे श्वेताम्बर गुरु जिस बात में कोई हिंसा नहीं होती उसका तो यत्न करते हैं। परन्तु दो चार दिन की गीली अथवा शूद्र के घर से अनछने, चर्म से स्पर्शित जल, मदिरा, मांस के संयोग से सहित वाले

मिट्टी के भाजनों में रात्रि के समय पकायी गयी रसोई (भोजन का सामान) दीन पुरुष की तरह शूद्र के घर का भी ले आते हैं ।

जैन धर्म के द्रोही, जैन धर्म की आज्ञा से रहित वे लोग अन्य याचकों के ही समान उन्हें भी अनादर से आहार देते हैं, सो ऐसे भोजन के रागी वे उसका भक्षण करने में अंश मात्र भी दोष नहीं मानते । वह भोजन कैसा है ? त्रस जीवों की राशि है तथा ऐसी ही जीवों की राशि वाली हलवाई की बनाई वस्तुओं, अथाणा (संभवत: मर्यादा से बाहर की) संधाणा (मुरब्बे), आचार, कांजी आदि महा अभक्ष्य वस्तुओं का भोजन करते हैं, उनमें होने वाली हिंसा का तो दोष गिनते नहीं, तथा उनको प्रासुक कहते हैं । वे प्रासुक कैसे हो सकती हैं ? यदि वे प्रासुक ही होती तो गृहस्थ पुरुष उनका त्याग क्यों करते ? इसप्रकार के रागी पुरुषों की विडम्बना कहां तक कहें ?

चित्र में बनी स्त्री को पास में रखने में तो दोष गिनते हैं, पर सैंकडों स्त्रियों को सिखाने, पढाने, उपदेश देने, उनके संपर्क में रहने, उनका लालन-पालन करने, उनकी नब्ज (नाडी) देखने, नाडी देखने के बहाने उनका स्पर्श करने अथवा औषध, ज्योतिष, वैद्यक करके उनके मनोरथ सिद्ध कर बहुत द्रव्य (धन) का संग्रह करने, उनसे मनमाने विषयों का पोषण करने, स्त्री का सेवन करने, उसको गर्भ रह जाने पर गर्भ गिरवा देने वाले वे कहते हैं – हम यति हैं, हम साधु हैं, हमें पूजो । ऐसी साधना (आचरण) वाले संसार समुद्र से तारने में समर्थ कैसे हो सकते हैं ? पत्थर की नाव समुद्र में खुद ही डूबती है तो औरों को कैसे पार लगावेगी?

स्त्रियों को भी प्रसन्न रखने के लिये उन्हें कपडों सहित गृहस्थपने में ही मोक्ष जा सकना प्रतिपादित किया तथा यह भी कहा कि वज्रऋषभनाराच संहनन के बिना मोक्ष नहीं होता परन्तु जब कर्मभूमि की स्त्रियों के तो अंत के तीन संहनन ही हैं, फिर स्त्री का मोक्ष जाना कैसे हो सकता है ?

इसप्रकार उनके शास्त्रों में पूर्वापर दोष हैं, उन शास्त्रों को प्रमाणिक कैसे माना जा सकता है ? तथा जब वे प्रमाणिक ही नहीं हैं तो वे सर्वज्ञ का वचन (के वचनानुसार) कैसे हो सकते हैं ? अत: नियम से (वास्तव में) तथा अनुमान से भी यह जाना जाता है कि ये शास्त्र कल्पित हैं, कषायी पुरुषों के द्वारा अपने स्वार्थों के पोषण के लिये रचे गये हैं ।

फिर वे पूछते हैं – स्त्री को मोक्ष नहीं होता तो फिर नवमें गुणस्थान तक तीनों वेदों का उदय कैसे कहा है ?

उसका उत्तर – यह कथन तो भावों की अपेक्षा है। भाव तो मोह कर्म के उदय से होते हैं तथा द्रव्य पुरुष-स्त्री-नपुंसक के चिन्ह नाम कर्म के उदय से होते हैं । तीनों भाव वेद वालों को तो हम भी मोक्ष होना मानते हैं पर द्रव्य स्त्री-नपुंसक को मोक्ष होता नहीं, उनकी सामर्थ्य तो केवल पंचम गुणस्थान तक ही चढने की है, आगे चढने की नहीं यह नियम है । द्रव्य पुरुष को ही मोक्ष होता है तथा एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय तक के जीव तथा सम्मूर्छन, देव, नारकी, युगलियाओं का तो जैसा द्रव्य चिन्ह होता है वैसा ही भाव वेद पाया जाता है परन्तु सैनी, गर्भज, पंचेन्द्रिय मनुष्य एवं तिर्यन्चों को द्रव्य चिन्ह के अनुसार ही भाव वेद का अथवा अन्य (भाव) वेद का भी उदय हो सकता है, ऐसा 'गोम्मटसार जीव' ग्रन्थ में लिखा है। जैसे उदाहरण कहते हैं - द्रव्य से तो पुरुष हो उसको भी पुरुष से ही भोग करने की अभिलाषा देखने में आती है, अत: उसे भाव स्त्री वेद होने पर भी पुरुष वेदी कहा जाता है ।

एक ही काल में पुरुष -स्त्री दोनों से भोग करने की अभिलाषा हो उसे भाव नपुंसक वेद है तथा द्रव्य पुरुष वेद है । इसप्रकार द्रव्य पुरुष वेदी को तीनों ही भाव वेदों से मोक्ष होता है । इसी ही प्रकार तीनों भाव वेदों का उदय द्रव्य स्त्री तथा द्रव्य नपुंसक को भी जानना, पर उन्हें अधिक से अधिक पंचम गुणस्थान ही हो सकता है, आगे नहीं । उन्हें ये (श्वेताम्बर) मोक्ष मानते हैं, यह उनका विरूद्धपना है । साथ ही दिगम्बर धर्म तथा

श्वेताम्बर धर्म दोनों में ऐसा कहा है कि आठ समय में अधिक से अधिक एक सौ आठ जीव ही मोक्ष जाते हैं तथा उन एक सौ आठ जीवों में अडतालीस (48) पुरुष वेदी, बत्तीस (32) स्त्री वेदी, अठाईस (28) नपुंसक वेदी मोक्ष जाते हैं। उपरोक्त कथन की भाव वेद की अपेक्षा तो विधि ठीक बैठती है, पर द्रव्य वेद की अपेक्षा ठीक नहीं बैठती है। पुरुष और स्त्रियां तो आधी-आधी देखने में आती हैं, पर द्रव्य से नपुंसक लाखों स्त्री-पुरुषों में एक भी देखने में नहीं आता है (एक दो ही देखने में आते हैं)। अत: तुम्हारे (श्वेताम्बरों) के शास्त्र की बात झूंठी सिद्ध हई।

बाहुबली मुनि के लिये वे (श्वेताम्बर) ऐसा कहते हैं कि एक वर्ष तक केवलज्ञान दौडा-दौडा फिरता रहा परन्तु बाहुबलीजी के परिणामों में ऐसी कषाय रही कि यह भूमि भरत की है इस पर मैं खडा हूं, यह उचित नहीं है। ऐसी मान कषाय के कारण केवलज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ, इत्यादि असंभव वचन पागल पुरुषों की तरह उनके मत में कहे हुये हैं। तब वे अन्य मतियों से क्या कम हुये (अर्थात अन्य मतियों के समान ही हैं)। जिन धर्म में तो ऐसी विपरीत बातें होती नहीं हैं। ऐसी बातें तो कहानी मात्र में भी लडके भी नहीं करते हैं। जिस पुरुष ने सिंह नहीं देखा हो उसके लिये तो बिलाव ही सिंह है, उसीप्रकार जिन पुरुषों ने वीतरागी पुरुषों के मुख से सच्चा जिनधर्म कभी सुना नहीं उनके लिये तो मिथ्या धर्म ही सत्य है।

इसलिये आचार्य कहते हैं – अहो भव्य जीवो ! धर्म को परीक्षा करके ग्रहण करो। संसार में खोटे (मिथ्या) धर्म बहुत हैं तथा मिथ्या धर्म का उपदेश देनेवाले आचार्य भी बहुत हैं। सच्चे जिनधर्म को कहने (उपदेश देने) वाले वीतराग पुरुष बिरले हैं। यह न्याय ही है – अच्छी वस्तुयें जगत में दुर्लभ ही होती हैं। इसी कारण सर्वोत्कृष्ट शुद्ध जिनधर्म है वह दुर्लभ होगा ही होगा। अत: परीक्षा किये बिना जो खोटे धर्म के धारक होते हैं, उन्हें उसके श्रद्धान से अनन्त संसार में भ्रमण करना पडता

है । यह जीव संसार में रुलता है वह एक मिथ्याधर्म के श्रद्धान से ही रुलता है । उनके रुलने का एक मात्र कारण एक यही है, अन्य नहीं । अन्य कोई कारण मानना भ्रम है । अत: धर्म-अधर्म का निर्णय करने की बुद्धि अवश्य होनी ही चाहिये। अधिक क्या कहें ? इसप्रकार श्वेताम्बरों की उत्पत्ति का तथा उनका स्वरूप कहा ।

स्त्री स्वभाव का वर्णन

अब स्त्री का बिना सिखाये सहज ही जो स्वभाव होता है, उस स्वरूप का विशेष रूप से कथन करते हैं – मोह की मूर्ति, काम-विकार से आभूषित, शोक का मंदिर, धीरजता से रहित, कायरता सहित है, साहस से निर्वृत है, भय से भयभीत है, माया के कारण मलिन हृदय है । मिथ्यात्व तथा अज्ञान का घर है, अदया, झूंठ, अशुचि अंग, चपल अंग, वाचाल नेत्र, अविवेक, कलह, निश्वास-रुदन, क्रोध, मान, माया, लोभ, कृपणता, हास्य, अंग-म्लानता, ममत्व आदि से भरी है। लट, संमूर्च्छन मनुष्य आदि त्रस-स्थावर जीवों की उत्पत्ति होने की थैली उसकी योनिस्थान कहा जाता है ।

किसी की अच्छी-बुरी बात को सुनने के बाद हृदय में रखने में असमर्थ है । मिथ्या बातें करने में प्रवीण है तथा विकथायें सुनने में आसक्त है । भांड, विकथा करने के लिये अत्यन्त व्याकुल रहती है । घर के षट कार्य करने में अति चतुर है, पूर्वापर विचार रहित है । पराधीन है, गाली गीत गाने में बडी वक्ता है । कुदेव आदि का रात्रि जागरण करने में, शीतकाल आदि के परिषह सहने में अति शूरवीर है । आरंभ-प्रारंभ आदि की सलाह देने में बडी चतुर है । धन एकत्रित करने में मक्खी अथवा चींटी के सदृश्य है । गर्व से सारे गृहस्थीचारे के भार को धारण किये है तथा उसका भार सहने में समर्थ है । पुत्र-पुत्री से ममत्व करने में बंदरिया के सदृश्य है ।

धर्म-रत्न को छीनने में बडी लुटेरी है अथवा धर्म-रत्न को चुराने के लिये प्रवीण चोर है। नरक आदि नीच कुगति में ले जाने के लिये सहकारी है। स्वर्ग-मोक्ष का दरवाजा बन्द रखने के लिये अर्गल है। हाव-भाव-कटाक्ष से पुरुष के मन तथा नेत्रों को बांधने के लिये पाश है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र-धरणेंन्द्र, चक्रवर्ती, सिंह, हस्ती आदि बडे योद्धाओं को क्रीडा मात्र में मोहन धूल डाल कर वश में कर लेती है। उसके मन में कुछ, वचन में कुछ तथा काया में कुछ अलग-अलग ही है। किसी को बुलावे, किसी को इशारा करे, किसी से प्रीति करे, किसी से प्रीति तोडे, क्षण में मिष्ट बोले, क्षण में गाली दे, क्षण में लुभाकर निकट आवे, क्षण में उदास होकर जाती रहे इत्यादि मायाचार रूप स्वभाव वाली है। काम की तीव्रता के वश इसका स्वयमेव ही ऐसा स्वभाव पाया जाता है।

स्त्री में कंडे (उपले) की अग्नि के समान काम की दाह ज्वाला जानना। पुरुष के घास की अग्नि के सदृश्य काम की अग्नि जानना एवं नपुंसक के रुई की अग्नि के सदृश्य जानना। वे दान देने में कपिला दासी के समान कृपण होती हैं। सात स्थानों में मौन से रहित हैं। चिडिया के सदृश्य चिकचिकाहट आवाज किये बिना (अन्यों को ज्ञान में आये दिये बिना) बहुत दुष्चित है। इन्द्रायण के फल के सदृश्य रूप को धारण कर रक्खा है। (इन्द्रायण फल) बाहर से मनोहर, भीतर से विष के समान हानिकारक है, देखने में मनोहर पर खाने पर प्राण जावें ऐसा है।

उसीप्रकार स्त्री बाहर से तो मनोहर दिखती है पर अन्दर से कडवी, प्राणों को हरने वाली है। दृष्टि विषसर्पिणी के सदृश्य है। शब्द सुनाकर विचक्षण शूरवीर पुरुषों तक को विह्वल करने के लिये अथवा काम ज्वर उपजाने के लिये कारण है। रजस्वला होते समय अथवा प्रसूति के समय चांडालिन के सदृश्य है। ऐसे अवगुण होते हुये भी मान के पहाड पर चढी औरों को तृण के समान मानती है।

आचार्य कहते हैं – धिक्कार हो इस मोह को जिसके कारण वस्तु का स्वभाव यथार्थ भासित नहीं होता, विपरीत ही भासित होता है, इस ही लिये अनन्त संसार में भ्रमण करता है । मोह के उदय से ही यह जीव जिनेन्द्र देव को छोडकर कुदेव आदि को पूजता है । मोही जीव क्या-क्या अकल्याण की बात नहीं करता तथा अपने को संसार में नहीं डुबोता ? अर्थात मोही जीव अकल्याण के ही कार्य करता है तथा संसार में भ्रमता रहता है ।

स्त्री की शर्म और बेशर्म का वर्णन

आगे स्त्रियों की शर्म का और बेशर्म का स्वरूप कहते हैं :–

स्त्री को पगडी की शर्म हो वह तो वहां स्वयमेव ही नहीं है तथा मूंछ की शर्म होती है तो मूंछ ही नहीं है । आंखों की शर्म हो तो आंखें काली कर डाली हैं । नाक की शर्म हो सो नाक को बींधा लिया है । छाती का गड्डा सा हो तो आडी कांचली (चोंली) पहन ली । भुजा का पराक्रम हो सो हाथों में चूडियां पहन ली । लक्षणों अथवा हथेली की रेखाओं द्वारा पहचाने जाने का भय हो तो उन्हें मेहंदी से लाल कर लिया । कच्छे की शर्म हो सो कच्छा खोल डाला । मन की कठिनता (गाढापन) हो तो मन मोह तथा काम से विह्वल हो गया । मुख की शर्म हो सो मुख को वस्त्र से आच्छादित कर (ढक) लिया, मानों मुंख को ढका कर वह ऐसा भाव जनाती है कि कामी पुरुष हमारे मुख को देखकर नरक मत जाओ । जंघाओं की शर्म हो सो घाघरा (पेटीकोट) पहन लिया । इत्यादि शर्म के बहुत कारण होते हैं, उन्हें कहां तक कहें ।

इसप्रकार ये स्त्रियां नि:शंक, निर्लज्ज स्वभाव वाली होती हैं । बाहर में तो, ऐसी शर्म दिखाती हैं कि अपना सर्व अंग कपडों द्वारा आच्छादित रखती हैं फिर भी भाई, पिता-माता, पुत्र, देवर, जेष्ट आदि कुटुम्ब के सदस्यों के सामने गाती हैं तथा मनमाने विषयों का पोषण करती हैं ।

अन्तरंग की वासना कारण पाकर बाहर झलके बिना रहती नहीं है ।

इनके मन तथा इन्द्रियां काम से पीडित होती हैं । नाखून से लेकर सर तक सप्त कुधातुओं मयी मूर्तिवत हैं । भीतर तो हड्डियों का समूह है, उसके ऊपर मांस तथा खून भरा है। उसके ऊपर नसों से बंधी हैं तथा चमडा लिपटा है । उसके भी ऊपर केशों का समूह है । मुख में लटों के सदृश्य हड्डियों के दांत हैं तथा अभ्यन्तर वायु, पित्त, कफ, मल, मूत्र, वीर्य से भरी हैं । उदराग्नि एवं अनेक रोगों से ग्रसित हैं । जरा-मरण से भयभीत हैं । अनेक प्रकार की पराधीनता सहित है।

स्त्रियों के इन स्थानों पर संमूर्छन जीव उत्पन्न होते हैं – कांख में, कुच में, नाभी के नीचे, योनी स्थान में एवं मल-मूत्र में असंख्यात जीव उत्पन्न होते हैं । नवों द्वारों में तथा सारे शरीर में त्रस तथा निगोद सदैव उत्पन्न हुआ करते हैं । बाह्य शरीर के मैल में अनेक लीखें अथवा जुंयें उत्पन्न होती हैं जिन्हें नित्य निकालतीं देखी जाती हैं तथा कुछ निर्दय पाप की मूर्तियां उन्हें मारती हैं, उनके हृदय दया से रहित हैं । देखो सराग परिणामों का महात्म्य ! निंद्य स्त्री को बडे-बडे महन्त पुरुष उन्हें उत्कृष्ट निधी जानकर सेवन करते हैं तथा अपने को कृतार्थ मानते हैं । उनका आलिंगन करके अपने जन्म को सफल मानते हैं ।

इसलिये आचार्य कहते हैं – मोह कर्म को धिक्कार हो, वेद कर्म को धिक्कार हो । ऐसी सदा मान से युक्त अत्यन्त कायर, शंका सहित स्वभाव वाली स्त्रियों को मोक्ष कैसे हो सकता है ? सोलहवें स्वर्ग तथा छठ्ठे नरक से आगे उनकी गति नहीं हैं । अन्तिम तीन संहनन के अतिरिक्त अन्य कोई संहनन उनको होता नहीं है, अन्त के तीन संहनन ही होते हैं । भोगभूमिया युगलिया के पुरुष तथा स्त्री, तिर्यंच अथवा मनुष्य के एक आदि का ही संहनन होता है। अत: पुरुषार्थ से रहित हैं। इस ही कारण उनको शुक्लध्यान की भी सिद्धि नहीं है तथा शुक्लध्यान के बिना मोक्ष होता

नहीं है । इसप्रकार यह निंद्यपना कहा है । इस भांति श्रद्धान रहित अथवा शीलरहित स्त्री का निषेध किया है ।

श्रद्धावान शीलवती स्त्रियां हैं वे निंदा से रहित हैं । उनके गुण इन्द्र आदि भी गाते हैं तथा मुनिराज एवं केवली भी शास्त्र में बडाई करते हैं, वे स्वर्ग एवं परंपरा से मोक्ष की पात्र हैं तो अन्य छोटे पदों का क्या कहना ? ऐसी निंद्य स्त्री भी जिनधर्म के अनुग्रह से ऐसी महिमा प्राप्त करती हैं तो जो पुरुष जिनधर्म को साधते हैं, उनके विषय में क्या कहा जावे ? बहुत गुणों के आगे अल्प अवगुणों का जोर चलता नहीं है – यह सर्वप्रकार न्याय है । इसप्रकार स्त्री के स्वरूप का वर्णन किया।

दश प्रकार की विद्याओं को सीखने का कारण

आगे दश प्रकार की विद्याओं को सीखने का कारण बताते हैं । इनमें पांच तो बाह्य कारण हैं – सिखाने वाले आचार्य, पुस्तक, पढने का स्थान, भोजन की स्थिरता, ऊपरी सेवा करने वाले सेवक । पांच अभ्यन्तर कारण – निरोग शरीर, बुद्धि का क्षयोपशम, विनयवान, वात्सल्यत्व, उद्यमवान एवं सगुण – ये कारण हैं ।

वक्ता के गुण

आगे शास्त्र पढने (सुनाने) वाले वक्ता के उत्कृष्ट गुणों का कथन करते हैं :– उच्चकुल का हो, सुन्दर हो, पुण्यवान हो, पंडित हो, अनेक मतों के शास्त्रों का पारगामी हो, श्रोता द्वारा प्रश्न किये जाने से पहले ही उसका अभिप्राय जानने में समर्थ हो। सभा संचालन में चतुर हो, प्रश्न सहने में समर्थ हो, स्वयं जैन मत के बहुत शास्त्रों का ज्ञाता हो, उक्ति एवं युक्ति मिलाने में प्रवीण हो, लोभ रहित हो, क्रोध–मान–माया वर्जित तथा उदार चित्त हो। सम्यग्दृष्टि वे शास्त्रोक्त क्रियावान हो, नि:शंकित हो, धर्मानुरागी हो, अन्य मतों का खंडन करने में समर्थ हो, ज्ञान–वैराग्य का लोभी हो, दूसरों के दोषों को ढांकने वाला हो तथा धर्मात्माओं के

गुणों को प्रकाशित करने वाला, अध्यात्म रस का भोगी हो। विनयवान तथा वात्सल्य अंग सहित हो। दयालु व दातार हो, शास्त्र पढने के शुभ कार्य के फल का वांछक न हो, लौकिक बडाई न चाहता हो, केवल मोक्ष की ही चाह रखता हो। मोक्ष के लिये ही स्व-पर उपदेश देने की बुद्धि वाला हो।

जिनधर्म की प्रभावना करने में आसक्त चित्त हो, बहुत सज्जन हो, हृदय कोमल हो, दया जल से भीगा हो, वचन मिष्ट (एवं स्पष्ट) हो, हित-मित वचन बोलने वाला हो, शब्द ललित तथा उत्तम पुरुष हो। शास्त्र पढते समय वक्ता अपनी अंगुलियां नहीं चटकावे, आलस्य से बदन नहीं मोडे, घूमे नहीं, शब्द (बहुत) धीमे न बोले, शास्त्र से ऊंचा न बैठे, पांव पर पांव न रखे, ऊकडू न बैठे, पांव मोड कर न बैठे, शब्द का बहुत दीर्घ उच्चारण न करे तथा शब्द बहुत मंद भी न बोले। भ्रम पैदा करने वाले शब्द न बोले। अपने स्वयं के स्वार्थ के लिये श्रोताओं की खुशामद न करे। जिनवाणी में लिखे अर्थ को न छुपावे। एक भी अक्षर को छुपाने वाला महापापी होता है, अनन्त संसारी होता है। अपने स्वार्थ के पोषण के लिये जिनवाणी के अभिप्राय बिना (जिनवाणी के भाव से भिन्न) अधिक अथवा हीन (अथवा विपरीत) अर्थ प्रकाशित नहीं करे। जिस शब्द का अर्थ स्वयं को ज्ञात न हो तो अपनी प्रशंसा के लिये उस शब्द का अर्थ-अनर्थ (जैसा नहीं है वैसा) नहीं कहे। जिनदेव को भुलावे नहीं। सभा में मुख से ऐसा कहे कि इस अर्थ का मुझे ज्ञान नहीं हो पाया है, मेरी बुद्धि अल्प है, विशेष ज्ञानी के मिलने पर उससे पूछ लूंगा। विशेष ज्ञानी का मिलना न हो पाया तो जिनदेव ने जैसा देखा है वह प्रमाण है, ऐसा अभिप्राय रखे।

मेरी बुद्धि तुच्छ है, उस दोष के कारण तत्त्व का स्वरूप अन्य से अन्य होने में अथवा साधने में आ गया हो तो जिनदेव मुझे क्षमा करें। मेरा

अभिप्राय तो ऐसा है कि जिनदेव ने ऐसा ही देखा है, अत: मैं भी ऐसा ही धारण किये हूं तथा अन्यों को भी ऐसा ही आचरण कराता रहा हूं। मुझे मान-बडाई-लोभ-अहंकार का प्रयोजन नहीं है, पर ज्ञान की न्यूनता के कारण कुछ का कुछ भासित हो गया हो तो मैं क्या कर सकता हूं ? मुझसे लेकर गणधरदेव आदि तक में ज्ञान की न्यूनता पाई जाती है, इस ही कारण अंत के उभय (दो-दो) मनोयोग, वचनयोग बारहवें गुणस्थान तक कहे हैं। सत्यवचन योग केवली को कहा गया है, अत: मेरा भी दोष नहीं है। ज्ञान तो एक केवलज्ञान सूर्य ही सर्व प्रकाशक है, वही सर्वप्रकार सत्य है।

उसकी महिमा वचन अगोचर है। एक केवलज्ञान में ही गम्य है। केवली भगवान के अतिरिक्त अन्य कोई सम्पूर्ण सत्य को जानने में समर्थ नहीं है, अत: ऐसे केवली भगवान को मेरा बारम्बार नमस्कार हो। वे भगवान मुझे बालक जानकर क्षमा करें तथा मुझे शीघ्र ही केवलज्ञान की प्राप्ति हो, जिससे मुझे भी सर्व तत्त्वों को जानने की सिद्धि हो तथा उसी के अनुसार सुख की प्राप्ति हो।

ज्ञान तथा सुख का जोडा है। जितना ज्ञान उतना सुख। मैं सर्वप्रकार निराकुल सुख को चाहने वाला हूं, सुख के बिना अन्य सब असार है। अत: वे जिनेन्द्रदेव मुझे शरण हों, जन्म-मरण से रहित करें, संसार समुद्र से पार करें, अपने समान करें, मुझपर तो शीघ्र दया करें। मैं संसार के दु:खों से अत्यन्त भयभीत हुआ हूं अत: सम्पूर्ण मोक्ष सुख प्रदान करें। बहुत क्या कहना ? वक्ता ऐसे भाव वाला हो (इति वक्ता का स्वरूप वर्णन।)

श्रोता के लक्षण

आगे श्रोता के लक्षण कहते हैं :- श्रोता अनेक प्रकार के होते हैं, उनका दृष्टांन्त द्वारा कथन करते हैं। (1) मिट्टी (2) चलनी (3) छेली (बकरी) (4) बिलाव (5) तोता (6) वक (7) पत्थर (8) सर्प (9) हंस (10) भैंसा (11) फूटा मटका (12) डंसमसकादिक (13) जोंक

(14) गाय – इसप्रकार इन चौदह दृष्टान्तों के द्वारा उनके सदृश्य जो श्रोता हैं उनके लक्षण कहते हैं । इनमें कुछ मध्यम तथा कुछ अधम श्रोता हैं ।

आगे **परम उत्कृष्ट** श्रोता का लक्षण कहते हैं :– विनयवान हो व धर्मानुरागी हो। संसार के दु:खों से भयभीत हो, श्रद्धानी हो, बुद्धिमान हो, उद्यमी हो, मोक्षाभिलाषी हो, तत्त्वज्ञान को चाहने वाला हो, भेद विज्ञानी तथा परीक्षा प्रधानी हो। हेय-उपादेय को पहचानने की बुद्धि वाला हो। ज्ञान-वैराग्य का लोभी हो, दयावान हो, क्षमावान हो, मायाचार रहित हो, निरवांछक हो, कृपणता रहित हो, प्रसन्न रहने वाला हो, प्रफुल्लित मुख वाला हो, सौजन्य गुण सहित हो, शीलवान हो, स्व-पर विचार में प्रवीण हो, लज्जा व गर्व से रहित हो।

मन्द बुद्धि न हो, विचक्षण हो, कोमल परिणामी हो, प्रमाद रहित हो, सप्त व्यसन का त्यागी हो, सप्त भय से रहित हो, वात्सल्य अंग सहित हो, आठ मद से रहित हो, षट अनायतन तथा तीन मूढता से रहित हो। अन्य धर्मों में रुचिवान न हो, सत्यवादी हो, जिनधर्म के प्रभावना अंग में तत्पर हो, गुरु आदि के मुख से जिनप्रणीत वचनों को सुनकर एकान्त स्थान में बैठकर हेय-उपादेय का विचार करने का स्वभाव हो। गुणग्राही हो, निजगुण अवगुण का जानकार हो। बीज-बुद्धि ऋद्धि के सदृश्य बुद्धि हो, ज्ञान का क्षयोपशम विशेष हो ।

आत्मिक रस का आस्वादी हो, अध्यात्म वार्ता में विशेष प्रवीण हो । निरोग हो, इन्द्रियां प्रबल हों, आयु में वृद्ध या तरुण हो। ऊंचे कुल का हो, अपने ऊपर किये गये उपकार को भूलने वाला न हो। जो पर-उपकार को भूलता है वह महापापी है, इससे बढ कर अन्य कोई पाप नहीं है । लौकिक कार्य के उपकार को ही जब सत्पुरुष नहीं भूलते तो परमार्थ कार्य के उपकार को सत्पुरुष कैसे भूलें ? एक अक्षर का भी उपकार करने वाले को भी जो भूले वह महापापी है, विश्वासघाती है, कृतघ्न है ।

किये उपकार को भूलने वाले संसार में तीन प्रकार के महापापी हैं – (1) स्वामी-द्रोही (2) गुरु-द्रोही (3) अपने से गुणों में अधिक गुणों वाले गुरु अथवा अन्य के होने पर भी शिष्य जो धर्मोपदेश दे। यदि देता है तो शिष्य दण्ड का पात्र है। अपने से गुणों में अधिक हों वे बडे पुरुष उपदेश दें। यदि वे गुरु (उस समय न बोलना चाहें तो उनकी आज्ञा होने पर) उनके वचनों का पोषण करने रूप वचन बोले तथा यदि गुरु से प्राप्त उपदेश में कुछ शंका हो तो भी गुरु के वचन के पोषण रूप वचन ही कहे। विनय सहित प्रश्न कर उसका उत्तर सुनकर निःशल्य होकर चुप होकर बैठा रहे। गुरु से बार-बार वचनालाप न करे।

गुरु के अभिप्राय के अनुसार एवं गुरु के सन्मुख देखने पर प्रश्न करने रूप वचन बोले। ऐसा नहीं कि गुरु से पहले ही अन्यों को उपदेश देने लग जावे। गुरु से पहले ही उपदेश का अधिकारी होना वह तीव्र कषाय का लक्षण है। इसमें मान कषाय की मुख्यता है, अन्तरंग में ऐसा अभिप्राय वर्तता है कि मैं भी विशेष ज्ञानवान हूं। अतः उत्तम शिष्य हो वह तो पहले अपने अवगुण दूर करे, स्वयं की बार बार निंदा करे, विशेष प्रायश्चित करे, हाय ! मेरा क्या होगा ? मैं तीव्र कषाय से कब छूटूंगा, कब निर्वृत होऊंगा? अपने को सदा छोटा ही माने, फिर भी यदि कभी अवसर आ जावे, आप जिनधर्म में रुचिवान होकर उसके (जिनधर्म के) हित-निमित्त के लिये उपदेश दे सभा को अपनी बात कहे तो दोष नहीं है।

तन सुन्दर हो, पुण्यवान हो, कंठ स्पष्ट तथा वचन सिद्ध हो। आजीविका की आकुलता से रहित हो। गुरुओं के चरण कमलों में भ्रमर के समान तल्लीन हो। साधर्मी जनों की संगत में रहता हो तथा उसका कुटुम्ब साधर्मी ही लोगों का हो। नेत्र तीक्ष्ण हो, कसौटी के पाषाण, दर्पण, अग्नि वत सिद्धान्त रीप रत्न की परख करने का अधिकारी हो। सुनने का इच्छावान होना, श्रवण, ग्रहण, धारण, प्रश्न, उत्तर, निश्चय – ये आठ गुण श्रोता में और होने चाहिये।

ऐसा श्रोता शास्त्र में सराहनीय कहा गया है । वही मोक्ष का पात्र है, उसकी महिमा इन्द्र आदि देव भी करते हैं तथा महिमा करने वाले पुरुष को पुण्य का संचय होता है एवं उसका भी मोह गलता है । गुणवान की अनुमोदना करने पर अनुमोदना करने वाले को भी गुणों का लाभ होता है तथा अवगुणी की अनुमोदना करने वाले को अवगुणों का लाभ होता है । अत: अवगुणी की अनुमोदना नहीं करना चाहिये, गुणवान की ही अनुमोदना करना चाहिये। इति श्रोता के गुण संपूर्ण ।

(**नोट :–** मध्यम और अधम श्रोता का स्वरूप ग्रन्थ में नहीं बताया गया है।)

उनचास का भंग

आगे उनचास (49) भंग का स्वरूप कहते हैं । मन–वचन–काय, कृत–कारित–अनुमोदना इन तीन करण तथा तीन योग के परस्पर पलटने से उनचास भंग उत्पन्न होते हैं । अत: जिस भंग पूर्वक सावद्य योग का त्याग करना हो तथा प्रतिज्ञा आदि व्रतों का ग्रहण करना हो वह इन उनचास भंगों द्वारा करे । इनका विवरण – कृत, कारित, अनुमोदना ये तो एक–एक कर तीन भंग एक संयोगी जानना । फिर कृत–कारित, कृत–अनुमोदना, कारित–अनुमोदना, ये द्विसंयोगी तीन भंग हैं, फिर कृत–कारित–अनुमोदना यह एक त्रिसंयोगी भंग है । इसप्रकार इन तीन करणों के ये सात भंग हुये। इसीप्रकार तीन योगों के भी सात भंग होंगें । फिर पूर्व कहे (करणों के सात भंगों में से) एक एक पर ये सात भंग लगाने पर उनचास भंग हो जावेंगे ।

इनका विशेष कथन करते हैं – (1) मन कृत (2) वचन कृत (3) काय कृत (4) मन–वचन कृत (5) मन काय कृत (6) वचन काय कृत (7) मन वचन काय कृत (8) मन कारित (9) वचन कारित (10) काय कारित (11) मन वचन कारित (12) मन काय कारित (13) वचन काय

कारित (14) मन वचन काय कारित (15) मन अनुमोदना (16) वचन अनुमोदना (17) काय अनुमोदना।

(18) मन वचन अनुमोदना (19) मन काय अनुमोदना (2) वचन काय अनुमोदना (21) मन वचन काय अनुमोदना (22) मन कृत कारित (23) वचन कृत कारित (24) काय कृत कारित (25) मन वचन कृत कारित (26) मन काय कृत कारित (27) वचन काय कृत कारित (28) मन वचन काय कृत कारित (29) मन कृत अनुमोदित (30) वचन कृत अनुमोदित (31) काय कृत अनुमोदित (32) मन वचन कृत अनुमोदित (33) मन काय कृत अनुमोदित (34) वचन काय कृत अनुमोदित (35) मन वचन काय कृत अनुमोदित।

(36) मन कारित अनुमोदित (37) वचन कारित अनुमोदित (38) काय कारित अनुमोदित (39) मन वचन कारित अनुमादित (40) मन काय कारिंत अनुमोदित (41) वचन काय कारित अनुमादित (42) मन वचन काय कारित अनुमादित (43) मन कृत कारित अनुमोदित (44) वचन कृत कारित अनुमोदित (45) काय कृत कारित अनुमादित (46) मन वचन कृत कारित अनुमादित (47) मन काय कृत कारित अनुमोदित (48) वचन काय कृत कारित अनुमोदित (49) मन वचन काय कृत कारित अनुमोदित ।

इनमें एक पहले तीन में से तथा एक दूसरे तीन में से लेने पर नव (9) भंग हुये तथा एक पहले तीन में से एवं दो दूसरे तीन में से लेने से पुन: नव (9) भंग हुये। एक पहले तीन में से तथा तीनों दूसरे लेने पर तीन भंग हुये तथा दो पहले तीन में से एवं एक दूसरे तीन में से इसप्रकार नव (9) भंग हुये। दो पहले तीन में से तथा दो ही दूसरे तीन में से लेने से भी नव (9) भंग हुये। दो पहले तीन में से तथा तीनों दूसरे के इसप्रकार तीन भंग हुये तथा तीनों पहले के तथा एक-दूसरे तीन में से इसप्रकार तीन भंग हुये।

तीनों पहले के तथा दो दूसरे तीन में से इसप्रकार भी तीन भंग हुये तथा तीनों ही पहले के एवं तीनों ही दूसरे के लेने पर एक भंग हुआ। इसतरह कुल मिलाकर उनचास (49) भंग होते हैं। तीन काल (भूत, भविष्य, वर्तमान) से इन उनचास को गुणा करने पर एक सौ सैंतालीस (147) भेद जानना। इति भंगों का संपूर्ण स्वरूप।

सोलह कारण भावना

आगे सोलह कारण भावना का स्वरूप लिखते हैं। (1) **दर्शन विशुद्धि** – दर्शन श्रद्धा को कहा जाता है। सम्यक्त्वी के श्रद्धान में निश्चय व्यवहार से पच्चीस मल रहित निर्मलता के होने को, दर्शन विशुद्धि कहते हैं। (2) **विनय सम्पन्नता** – देव-गुरु-धर्म का तथा अपने से गुणों में अधिक जो धर्मात्मा पुरुष हों उनका विनय करना। (3) **शीलव्रतेष्वनतिचार** – अर्थात शीलव्रत में अतिचार न लगाना। मुनियों के जो पांच महाव्रत हैं तथा (28 मूल गुणों में से शेष रहे) तेबीस (23) अन्य गुण हैं वे ही शील हैं तथा श्रावक के बारह व्रतों में पांच तो अणुव्रत हैं तथा शेष सात व्रतों का पालन ही शील है, ऐसा अर्थ जानना। (4) **अभीक्षण ज्ञानोपयोग :–** निरन्तर ज्ञानाभ्यास होना अभीक्षण ज्ञानोपयोग है। (5) **संवेग :–** धर्मानुराग को संवेग कहते हैं। (6) **शक्तितस्त्याग :–** अपनी शक्ति के अनुसार त्याग करने को शक्तित:त्याग कहते हैं। (7) **शक्तित:तप :–** अपनी शक्ति के अनुसार तप करने को शक्तित:तप कहते हैं। (8) **साधु समाधि :–** नि:कषाय भाव से मरण करने को साधु-समाधि कहते हैं। (9) **वैयावृत्य :–** दश प्रकार के संघ का वैयावृत अर्थात सेवा करना अथवा अपने से अधिक गुणों वाले धर्मात्माओं की पगचंपी (सेवा) करने को वैयावृत कहते हैं।

(10) **अरिहंत –भक्ति :–** अरिहंत देव की भक्ति करने को अरिहंत-भक्ति कहते हैं। (11) **आचार्य भक्ति :–** आचार्यों की भक्ति करने को

आचार्य-भक्ति कहते हैं । (12) **बहुश्रुत भक्ति :-** उपाध्याय आदि बहुश्रुत अर्थात बहुत शास्त्रों का जिन्हें ज्ञान हो उनकी भक्ति करने को बहुश्रुत-भक्ति कहते हैं । (13) **प्रवचन भक्ति :-** जिनवाणी अर्थात समस्त सिद्धान्त (आगम-परमागम) ग्रन्थों की भक्ति करने को प्रवचन-भक्ति कहते हैं । (14) **आवश्यक परिहारिणी :-** षट आवश्यकों में (के पालन में) कभी अन्तराय (भूल) नहीं करना उसे आवश्यक-परिहारिणी कहते हैं । (15) **धर्म प्रभावना :-** जिस-जिस धर्म के अंग (कार्यों) से जिनधर्म की प्रभावना हो, (उन्हें करने को) प्रभावना अंग कहते हैं ।

(16) **प्रवचन वात्सल्य :-** जिनवाणी से विशेष प्रीति हो उसे प्रवचन वात्सल्य कहते हैं । चौथे गुणस्थान से लेकर आठवें गुणस्थान तक में ये सोलह कारण भावना तीर्थंकर-प्रकृति बंधने का कारण है । अत: ये सोलह प्रकार के भाव निरन्तर रखने चाहिये, इनकी विनय करना चाहिये । इनसे विशेष प्रीति रखना चाहिये । इनकी बडे उत्सव से पूजा करना अथवा कराना चाहिये, अर्घ उतारना चाहिये । इसका फल तीर्थंकर पद की प्राप्ति है । इसप्रकार सोलह कारण भावनाओं का सामान्य अर्थ संपूर्ण हुआ ।

दशलक्षण धर्म

आगे दशलक्षण धर्म का स्वरूप लिखते हैं । (1) **उत्तम-क्षमा :-** न क्रोध अर्थात क्रोध के अभाव को उत्तम क्षमा कहते हैं । (2) **उत्तम-मार्दव :-** मान का अभाव होने पर विनय गुण प्रकट हो उसे उत्तम मार्दव कहते हैं । (3) **उत्तम-आर्जव :-** कोमल परिणामों के होने को उत्तम आर्जव कहते हैं । (4) **उत्तम-सत्य :-** झूंठ अर्थात असत्य, मन-वचन-काय की प्रवृत्ति का असत्य से रहित होना उत्तम सत्य कहलाता है ।

(5) **उत्तम-शौच :-** परधन, परस्त्री, अन्याय तथा लोभ का त्याग कर आत्मा को मंद कषायों से उज्जवल करने को उत्तम शौच कहते हैं ।

(6) **उत्तम-संयम :-** पांच प्रकार के स्थावर तथा छठे त्रस जीवों की दया पालना, पांच इन्द्रियों एवं छठे मन को उनके विषयों में न जाने देना उत्तम संयम कहलाता है । (7) **उत्तम-तप :-** बारह प्रकार के तप अर्थात छह प्रकार के तो बाह्य तप-अनशन, अवमोदर्य, व्रत-परिसंख्यान, रस-परित्याग, विविक्तशैयासन, काय-कलेश एवं छह प्रकार के अन्तरंग तप – प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युतसर्ग तथा ध्यान – ये बारह प्रकार के तप करना वह उत्तम तप है ।

(8) **उत्तम-त्याग :-** चौबीस प्रकार के परिग्रह – दश प्रकार के तो बाह्य तथा चौदह प्रकार के अभ्यन्तर परिग्रह – के त्याग को उत्तम त्याग कहते हैं । (9) **उत्तम-आकिंचन :-** किंचित तिल-तुष मात्र भी परिग्रह से रहित नग्न स्वरूप को उत्तम आकिंचन्य कहते हैं । (10) **उत्तम-ब्रह्मचर्य :-** शील के पालन को उत्तम ब्रह्मचर्य कहते हैं । सम्यग्दर्शन सहित होने पर ही ये दशलक्षण उत्तम कहे जाते हैं अन्यथा नहीं तथा उत्तम होने पर ही ये धर्म के दशलक्षण होते हैं । इसप्रकार सामान्य रूप से दशलक्षण वाले धर्म का स्वरूप जानना ।

रत्नत्रय धर्म

आगे रत्नत्रय धर्म का स्वरूप कहते हैं । "तत्त्वार्थसूत्र" नामक ग्रन्थ में ऐसा कहा है – "**सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः**"। दर्शन श्रद्धान को कहा जाता है । यहां दर्शनोपयोग का नाम दर्शन नहीं है । दर्शन तथा ज्ञान के अनेक अर्थ होते हैं, जहां जैसा प्रयोजन हो वहां वैसा ही अर्थ ग्रहण करना चाहिये । दर्शन को यहां अनेक नामों से कहा जाता है – चाहे दर्शन कहो, चाहे प्रतीति कहो, चाहे श्रद्धान कहो, चाहे रुचि कहो, इत्यादि जानना । स्वयमेव ऐसा ही है, यही है, अन्यथा नहीं है, अन्य प्रकार नहीं है, इसप्रकार का श्रद्धान हो उसे तो सामान्य रूप से दर्शन का स्वरूप कहा जाता है तथा सराहने (प्रशंसा करने) योग्य कहो अथवा भले

प्रकार कहो अथवा कार्यकारी कहो, अथवा सम्यक् प्रकार कहो अथवा सत्य कहो या यथार्थ कहो सब दर्शन के ही नाम हैं।

इससे उल्टा जिसका स्वभाव हो उसे भुलाने योग्य कहो, अथवा मिथ्या प्रकार कहो अथवा अन्यथा कहो अथवा अकार्यकारी कहो अथवा अन्य प्रकार कहो, ये सब एकार्थवाची हैं। इस (उपरोक्त) प्रकार सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान हो उसे निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं इस ही लिये यथार्थ तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। तत्त्व तो वस्तु के स्वभाव को कहते हैं तथा अर्थ पदार्थ को कहते हैं। इसप्रकार पदार्थ तो आधार है तथा तत्त्व आधेय है। यहां मोक्ष प्राप्त होने का प्रयोजन है। इसलिये मोक्ष के लिये जो कारण रूप मोक्षमार्ग है वह रत्नत्रय है। पहला धर्म जो सम्यग्दर्शन है उसका कारण तो तत्त्वार्थ श्रद्धान है। ये तत्त्व सात प्रकार के हैं – (1) जीव (2) अजीव (3)आश्रव (4) बंध (5) संवर (6) निर्जरा (7) मोक्ष। इनमें पुण्य तथा पाप को और मिला देने पर इन्हीं को नव (9) पदार्थ कहते हैं। अत: तत्त्व कहो अथवा पदार्थ कहो – सामान्य भेद को सात तत्त्व कहा है तथा विशेष भेद को नव पदार्थ कहा है। इन (सब) का मूल आधार जीव तथा अजीव दो पदार्थ हैं। जीव तो एक ही प्रकार है तथा अजीव पांच प्रकार के हैं – (1) पुद्गल (2) धर्म (3) अधर्म (4) आकाश (5) काल – इन छह (एक जीव तथा पांच अजीव) को षट द्रव्य कहते हैं। काल को छोड देने पर शेष पांच को पंचास्तिकाय कहते हैं। इस ही लिये सात तत्त्व, नव पदार्थ, षट द्रव्य, पंचास्तिकाय का स्वरूप विशेष रूप से जानना चाहिये। इनके विशेष भेदाभेद तथा इनके ज्ञान को विज्ञान (विशेष ज्ञान) कहा है। दोनों (जीव तथा अजीव के) समुदायों के भेद को भेद-विज्ञान कहते हैं। इसी कारण जिनवाणी में सम्यग्दर्शन होने के लिये भेद-विज्ञान को कारण कहा है। अत: सर्व भव्य जीवों को ज्ञान की वृद्धि करना उचित है। जिनवाणी में

तीन मूल कारण कहे हैं – पहले मुख्य रूप से जैन सिद्धान्त ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिये। जितने सम्यग्चारित्र आदि उत्तरोत्तर धर्म हैं उनकी सिद्धि सिद्धान्त ग्रन्थों के अवलोकन से ही होती है। अत: बांचना, पूछना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय तथा धर्मोपदेश – इन पांच प्रकार से स्वाध्याय निरन्तर करना चाहिये। बांचना अर्थात शास्त्र को पढना। पृच्छना अर्थात (शंका होने पर समाधान के लिये) प्रश्न करना, अनुप्रेक्षा अर्थात बार-बार चिंतवन करना, आम्नाय अर्थात समय पर उस समय पढने योग्य जो पाठ हो उसे पढना (अथवा निर्णय कर उसे याद रखना), धर्मोपदेश अर्थात परमार्थ धर्म का अन्यों को उपदेश देना।

सात तत्त्व

आगे सात तत्त्वों का स्वरूप प्रारम्भ से कहते हैं। चेतना जीव का लक्षण है, जिसमें चेतनपना हो उसको जीव कहते हैं। जिसमें चेतनपना नहीं है उसे अजीव कहते हैं। जो द्रव्य कर्म आने के लिये कारण हो उसे आस्रव कहते हैं। यह आस्रव दो प्रकार का है – (1) द्रव्य आस्रव तो कर्म वर्गणा (के ग्रहण) को कहते हैं तथा (2) भाव आस्रव कर्म की शक्ति, अनुभाग को कहते हैं। भावास्रव में मिथ्यात्व तो पांच प्रकार का है, अविरति के बारह भेद हैं, कषाय के पच्चीस भेद हैं तथा योग पन्द्रह प्रकार का है, ये सत्तावन आस्रवभाव कहे जाते हैं। यहां इसप्रकार चार जाति के (मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग) जीव के भाव जानना। अब द्रव्यास्रव तथा भावास्रव के अभाव का कथन करते हैं। पूर्व से जो द्रव्यकर्म आत्मा के साथ बंधे थे उनकी संवर पूर्वक एकदेश निर्जरा का होना (बंधे कर्मों का आत्मा से अलग होना) निर्जरा कहलाता है। जीव के रागादि भावों का निमित्त पाकर कर्म वर्गणाओं का आत्मा प्रदेशों के साथ बंधना बंध कहलाता है। द्रव्य कर्म के उदय का अभाव होना तथा उनकी सत्ता का भी अभाव होना, आत्मा के अनन्त चतुष्टय भाव का प्रकट होना मोक्ष

कहलाता है । मोक्ष द्रव्य-कर्म तथा भावकर्म से मुक्त होने को अथवा निर्बन्ध होने अथवा निर्वृत होने को कहते हैं । सिद्ध क्षेत्र में जाकर बैठ जाने (स्थित हो जाने) को मोक्ष नहीं कहा जाता । जीव (आत्मा) कर्मों से रहित होने के बाद अपने ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण वहां (मोक्ष स्थान में) जाकर स्थित हो जाता है । वहां से आगे धर्म द्रव्य का अभाव है तथा धर्म द्रव्य के निमित्त के बिना आगे गमन होना शक्य नहीं है, अत: वहां जाकर स्थित हो जाता है । उस क्षेत्र में तथा अन्य क्षेत्र में कोई अन्तर नहीं है । वह क्षेत्र ही यदि सुख का स्थान हो तो उस क्षेत्र में सर्व सिद्धों की अवगाहना में भी पांचों जाति के सूक्ष्म तथा बादर स्थावर अनन्त जीव वहां स्थित (मौजूद) है, जो महादु:खी, महाअज्ञानी, एक अक्षर के अनन्तवें भाग मात्र ज्ञान के धारक, तीव्र प्रचुर कर्म के उदय सहित सदैव तीनों काल वहां रहते हैं । अत: यह निश्चय करना कि सुख, ज्ञान, वीर्य आत्मा के निज स्वभाव हैं । सर्व कर्मो के उदय का अभाव होने पर आत्मा में शक्ति (अनन्तवीर्य) उत्पन्न होती है, यह भी जीव का ही स्वभाव है । इस भाव रूप जीव ही परिणमता है, द्रव्य नहीं परिणमता । द्रव्य तो जीव को निमित्त मात्र है । अत: जीव को, पर-द्रव्य का निमित्त पाकर जीव की (अपनी) शक्ति से, जो भाव उत्पन्न होते हैं उन्हें औपाधिक अथवा विभाव अथवा अशुद्ध अथवा विकल्प अथवा दु:ख रूप भाव कहा जाता है।

—●—

चतुर्थाधिकार : सम्यग्दर्शन

ज्ञानानन्द तो जीव का असली (वास्तविक) स्वभाव है तथा अज्ञानता, दु:ख आदि अशुद्ध भाव हैं जो पर-द्रव्य के संयोग से होते हैं। अत: कार्य में कारण का उपचार करके उन्हें पर-भाव ही कहा जाता है। ऐसा सात तत्त्वों का स्वरूप जानना। इनमें पुण्य तथा पाप को और मिला देने पर इनको नव (9) पदार्थ कहा जाता है। सामान्य रूप से कर्म एक ही प्रकार का है, विशेषपने से पुण्य तथा पाप रूप दो प्रकार का है। इसलिए आस्रव भी पुण्य-पाप के भेद से दो प्रकार का है। इसप्रकार बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष के भी दो-दो भेद जानना तथा ऐसा ही नव पदार्थो का भी विशेष स्वरूप जानना।

षटद्रव्य ही इनके मूल में हैं ऐसा जानना। काल के अतिरिक्त पांच द्रव्यों को पंचास्तिकाय कहा जाता है। उनके द्रव्य-गुण-पर्याय अथवा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव अथवा प्रमाण-नय-निक्षेप, अनुयोग, गुणस्थान, मार्गणा में बंध, उदय, सत्ता को नाना जीवों की अपेक्षा तथा नाना काल की अपेक्षा लगाने अथवा तिरेपन (53) भावों को गुणस्थानों में (जीव के) चढ़ने-उतरने में लगाने से इत्यादि नाना प्रकार तत्त्वों का उत्तरोत्तर विशेष रूप है तथा तैसे-तैसे ही बहुत बहुत भेद हैं। निमित्त, नाम तथा आधार-आधेय, निश्चय-व्यवहार, हेय-उपादेय इत्यादि का ज्ञान में विशेष अवलोकन हो (जानने में आवें) त्यों-त्यों श्रद्धा निर्मल होती है। इसलिये श्रद्धा में निर्मलता की कमी होने से इन्हें क्षायिक सम्यक्त्व का घातक कहा है तथा केवली एवं सिद्धों को परमक्षायिक सम्यक्त्व कहा है। अत: सम्यक्त्व की निर्मलता के लिये ज्ञान कारणरूप होने से ज्ञान को बढाना चाहिये, क्योंकि सर्व कार्यों में ज्ञान गुण प्रधान है।

यहां कोई प्रश्न करता है कि सात तत्त्वों का श्रद्धान करने को ही मोक्षमार्ग कहा, अन्य प्रकार क्यों नहीं कहा ? उसको उत्तर देते हैं जैसे किसी दीर्घ रोगी अथवा पुरुष को उसके रोग की निर्वृत्ति के लिये कोई सयाना वैद्य उसके चिन्ह देखे, प्रथम तो रोगी की आयु क्या है यह देखे। फिर रोग का निश्चय करे, फिर यह रोग किस कारण हुआ है यह जानें तथा किस प्रकार रोग मिट सकता है उसका उपाय विचारे। तब रोग अनुक्रम से कैसे मिटे उसका उपाय जाने, इस रोग के कारण कैसे दु:खी है तथा रोग मिटने पर कैसे सुखी होगा यह जाने? फिर जैसा उसका निज पूर्व स्वभाव था वैसा ही रोग रहित उसे करदे । उसके सम्बन्ध में इसप्रकार जानने वाला वैद्य हो, उसी से रोग मिट सकता है, अनजान वैद्य से रोग कदापि नहीं मिट सकता । अनजान वैद्य तो यम के समान है ।

उसीप्रकार आस्रव आदि सात तत्त्वों के ज्ञान से ही संसार का रोग जाना संभव है, वह बताते हैं – सभी जीव संपूर्ण रूप से सुखी होना चाहते हैं तथा संपूर्ण सुख का स्थान मोक्ष है, अत: मोक्ष के ज्ञान बिना कैसे बने ? तथा मोक्ष तो बंध के अभाव को कहते हैं, पहले से बंधा हो तो ही (बंध का अभाव होकर) मोक्ष हो, अत: बंध का स्वरूप जानना आवश्यक है। बंध का कारण तो आस्रव है, आस्रव के बिना बंध नहीं होता, अत: आस्रव का स्वरूप जाने बिना कैसे बनेगा ? आस्रव के अभाव के लिये संवर कारण है, संवर के बिना आस्रव का निरोध नहीं होगा, अत: संवर अवश्य जानने योग्य है । बंध का अभाव निर्जरा के बिना नहीं होता, इसलिये निर्जरा को जानना योग्य है।

इन पांचों तत्त्वों का आधारभूत जीव-अजीव द्रव्य है, अत: जीव तथा अजीव का स्वरूप जानना आवश्यक है । इसप्रकार सातों तत्त्वों को जाने बिना मोक्षमार्ग की सिद्धि कैसे हो ? अर्थात् नहीं हो सकती । इस ही कारण "तत्त्वार्थ सूत्र" में "तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यक्दर्शनम्" कहा है । यह

तो सर्वत्र न्याय है कि जिन कारणों से उर-झार पड़ा हो उससे विपरीत उष्णता के निमित्त से वात-रोग की निर्वृत्ति होगी, ऐसा नहीं है कि शीत के निमित्त से उत्पन्न हुआ वात-रोग हो यह पुन: शीत के निमित्त से ही मिट जावे। इसप्रकार तो रोग मिटेगा नहीं उल्टा तीव्र बढेगा ही। उसीप्रकार पर-द्रव्य से राग-द्वेष करके जीव नाम का पदार्थ कर्मो से उलझता है। वीतराग भाव हुये बिना सुलझ सकता नहीं तथा वीतराग भाव तो सात तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप जानने से ही होता है। अत: सात तत्त्वों के जानपने को ही निश्चय सम्यक्त्व होने के लिये असाधारण, अद्वितीय तथा एक मात्र कारण बताया है। इसप्रकार सम्यक्दर्शन का स्वरूप जानना।

अत: आचार्य हित करके तथा दया बुद्धि करके कहते हैं – कि सर्व ही जीव सम्यक्त्व को धारण करें, सम्यक्दर्शन के बिना तीन काल में भी मोक्ष मिल सकता नहीं, चाहे जितना तपश्चरण कर लो। जिस कार्य का जो कारण होता है उसी कारण से कार्य की सिद्धि होती है। सर्व प्रकार से यह नियम है। इति सम्यक्दर्शन स्वरूप वर्णन पूर्ण हुआ।

—●—

पंचम अधिकार : सम्यग्ज्ञान

आगे सम्यग्ज्ञान का स्वरूप कहते हैं । ज्ञेय के जानने को ज्ञान कहा जाता है । वह जानना ज्ञानावरणी एवं दर्शनावरणी कर्मो के क्षयोपशम से होता है। सम्यक्त्व सहित जानने को सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। मिथ्यात्व के उदय सहित जानने को मिथ्याज्ञान कहा जाता है । यहां ज्ञान में दर्शन गर्भित जानना । सामान्यरूप से दोनों के समुदाय को ज्ञान कहते हैं । सात तत्त्वों के जानपने में मोह तथा भ्रम के न होने पर उस ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। अन्य उत्तरोत्तर पदार्थों के यथार्थ अथवा अयथार्थ जानने से उनके जानपने का नाम सम्यक् अथवा मिथ्यात्व नाम नहीं पाता ।

सात तत्त्व रूप मूल पदार्थों का संशय, विभ्रम, विमोह रहित जानपना ही सम्यग्ज्ञान कहा जाता है । निश्चित रूप से विचारा जावे तो मूल सात तत्त्वों को जाने बिना उत्तरोत्तर तत्त्वों का स्वरूप नहीं जाना जाता। कारण-विपर्यय, स्वरूप--विपर्यय रूप कमी रह जाती है । जैसे कोई पुरुष सोने को सोना कहता है, चांदी को चांदी कहता है, खरे-खोटे (असली-नकली) रुपयों की परीक्षा करता है, इत्यादि लौकिक कार्यों में बहुत से पदार्थों का स्वरूप जानता है, परन्तु कारण-विपर्यय है। क्योंकि इनका मूल कर्त्ता पुद्गल है, यह जानता नहीं है ।

कोई परमेश्वर को कर्त्ता बताता है, कोई नास्ति बताता है (अर्थात परमेश्वर है ही नहीं ऐसा कहता है), कोई पांच तत्त्व – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश – के मिलने से जीव नाम के पदार्थ की उत्पत्ति कहता है। वे इनका प्रमाण भिन्न-भिन्न तथा अलग-अलग जाति का बताते हैं, अत: उन्हें कारण-विपर्यय है, ऐसा जानना तथा जीव और पुद्गल मिलकर मनुष्य आदि अनेक प्रकार से समान जाति की पर्यायें बनी हैं, उन्हें एक ही वस्तु मानता है; यह भेद-विपर्यय है । दूरी पर आकाश धरती (पृथ्वी) से मिला दिखता है, पहाड छोटे दिखते हैं, ज्योतिष देवों

के विमान (सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारे आदि) छोटे दिखते हैं अथवा चश्मे, दुरबीन आदि पदार्थों से वस्तु का स्वरूप छोटा होने पर भी बडा दिखता है, इत्यादि स्वरूप-विपर्यय है। सम्यग्ज्ञान होने पर पदार्थ का स्वरूप जैसे का तैसा, जैसा जिनदेव ने देखा है, वैसा ही श्रद्धान करने में आता है, अत: उत्तर (अन्य) पदार्थों के स्वरूप का जान- पना भी सम्यग्ज्ञानी को संशय, विपर्यय, विभ्रम, विमोह रहित होता है।

अब संशय, विमोह, विभ्रम का स्वरूप कहते हैं – जैसे चार पुरुषों ने सीप के टुकडे को देखा। एक पुरुष कहने लगा – न जाने सीप है कि न जाने चांदी है, उसे संशय है। दूसरे ने कहा – यह तो चांदी है, उसे विमोह है। तीसरा बोला – क्या है, पता नहीं ? उसको विभ्रम है तथा चौथे ने कहा – यह तो सीप का टुकडा है, यह पूर्व के तीनों दोषों से रहित, जो वस्तु का जैसा स्वरूप था वैसा ही जानने वाला कहा जाता है। इसीप्रकार सात तत्त्वों के जानपने में अथवा स्व-पर के जानपने में घटित कर लेना।

वह ही कहते हैं – आत्मा जीव है अथवा पुद्गल है, ऐसे जानपने को संशय कहते हैं। मैं तो शरीर ही हूं – ऐसे जानपने को विमोह कहते हैं। मैं क्या हूं – ऐसे जानपने को विभ्रम कहते हैं। मैं तो चिद्रूप हूं – ऐसे जानपने को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। मुंह से कहे, उसी के अनुसार मन में धारणा हो तथा मन में धारण जैसा-जैसा हो वैसा-वैसा ही उसका ज्ञान कहा जाता है। ऐसा सम्यग्ज्ञान का स्वरूप जानना।

सम्यग्ज्ञान सम्यक्दर्शन का सहचारी है। सहचारी अर्थात् साथ ही विचरण करें, सदैव साथ-साथ ही रहे। एक के बिना दूसरा न हो, एक का उदय होने पर दूसरे का भी उदय हो, एक का नाश होने पर दूसरे का भी नाश हो, उसे सहचारी कहते हैं। सम्यक्दर्शन होने पर सम्यग्ज्ञान भी होता है, सम्क्दर्शन का नाश होने पर सम्यग्ज्ञान का भी नाश होता है। सम्यक्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान होता नहीं, सम्यग्ज्ञान बिना सम्यक्दर्शन होता नहीं, यह दोनों ओर से नियम है। भेद-विज्ञान तो सम्यक्दर्शन का कारण है, सम्यक्दर्शन सम्यग्ज्ञान का कारण है। इसप्रकार सम्यग्ज्ञान का यथार्थ स्वरूप जानना। इति सम्यग्ज्ञान कथन संपूर्ण।

—●—

षष्टम अधिकार : सम्यग्चारित्र

आगे सम्यग्चारित्र का स्वरूप कहते हैं । सावद्य योग के त्याग को चारित्र कहा जाता है। सम्यग्ज्ञान पूर्वक हुआ त्याग सम्यग्चारित्र नाम पाता है। मिथ्यात्व सहित सावद्य योग का त्याग हो उसे मिथ्याचारित्र कहते हैं । सम्यग्दृष्टि के श्रद्धान में वीतराग भाव है, प्रवृत्ति में कुछ राग भी है जिसका कारण चारित्रमोह है । श्रद्धान में रागभाव का कारण दर्शनमोह है । सम्यक्दृष्टि के दर्शन मोह जा चुका (उदय रूप नहीं रहा) है, इस ही लिये सम्यक्दृष्टि को श्रद्धान अपेक्षा वीतराग भाव कहा जाता है ।

श्रद्धान है तथा कषाय मंद है, अत: सम्यग्दृष्टि के जो अल्प राग है उसे गिना नहीं जाता, वीतराग ही कहा जाता है । यही कारण है कि सम्यक्दृष्टि को निराश्रव, निर्बन्ध कहा जावे तो कोई दोष नहीं है, विवक्षा जान लेना (समझ लेना) चाहिये। यह बात शास्त्रों में कही गयी है । मिथ्यात्व के श्रद्धान में वीतराग भाव नहीं है । वीतराग भाव हुये बिना निराश्रव, निर्बन्ध नहीं है । निराश्रव, निर्बन्ध हुये बिना सावद्य का त्याग कार्यकारी नहीं है। स्वर्ग आदि का तो कारण है पर मोक्ष का कारण नहीं है। अत: संसार का ही कारण कहा जाता है।

जो-जो भाव संसार के कारण हैं वे-वे आस्रव भाव हैं । यह देह (आस्रव के लिये) कार्यकारी (कारण) है । अत: सम्यक्त्व के बिना सावद्य का त्याग करते हैं वे नरक आदि के भय से करते हैं, परन्तु अन्तरंग में कोई द्रव्य इष्ट लगता है कोई अनिष्ट लगता है, इसप्रकार मिथ्यात्वी के श्रद्धान में प्रचुर राग-द्वेष हैं । सम्यक्दृष्टि पर-द्रव्य को असार जानकर छोडता है । यह पर (अन्य वस्तु) पुरुष (आत्मा) के लिये कारण नहीं है,

निमित्तभूत है । दु:ख का कारण तो अपने अज्ञान आदि भाव हैं तथा सुख के लिये कारण अपने ज्ञान आदि भाव हैं।

ऐसा जानकर श्रद्धान में परद्रव्य का त्यागी हुआ है, इसलिये इसे परद्रव्य से राग (उपलक्षण से द्वेष भी) नहीं है । जैसे फिटकरी-लोंद से कषायले किये हुये वस्त्र पर रंग (पक्का रंग) चढता है, बिना कषायले किये हुये वस्त्र को दीर्घकाल तक भी रंग के समूह में रखा। रखने पर भी उसे तो रंग लगता नहीं, ऊपर ही ऊपर रंग दिखता है। वस्त्र को पानी में धोने पर रंग तुरन्त उतर जाता है। कषायले किये हुये वस्त्र का रंग किसी भी प्रकार उतरता नहीं है ।

उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि के तो कषायों से रहित जीव का परिणाम है, अत: उनके दीर्घ काल पर्यन्त परिग्रह की भीड (बहुत परिग्रह) भी रहे तो भी कर्म मल नहीं लगता । मिथ्यादृष्टि के कषायों से परिणाम कषायले हैं, अत: कर्मो से सदैव लिप्त रहता है । जैसे गुमास्ता और साहुकार गुमास्ते को जैसे धंधे में हानि-लाभ होने पर कोई असर नहीं होता, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि को कर्म-मल नहीं लगता, पर साहुकार को हानि-लाभ का असर तुरन्त होता है, उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि को तुरन्त कर्म-मल लगता है ।

माता और धाय बालक को एक ही प्रकार रखे, एक-सा लालन-पालन करे, परन्तु माता को अन्तरंग में राग भावों का बाहुल्य है । उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि -मिथ्यादृष्टि के राग भावों का अल्प बहुत्व विशेष (अन्तर) जानना । इस ही लिये वीतराग भाव सहित सावद्य योग के त्याग को ही सम्यग्चारित्र कहा है । वीतराग भाव सहित सावद्य योग का त्याग ही सम्यग्चारित्र का स्वरूप जानना । इति सम्यग्चारित्र कथन पूर्ण हुआ ।

द्वादशानुप्रेक्षा

आगे द्वादश अनुप्रेक्षा का स्वरूप कहते हैं । द्वादश का अर्थ है बारह (12) और अनुप्रेक्षा बार-बार चिंतवन करने को कहा जाता है । यहां

बारह प्रकार से वस्तु का स्वरूप निरन्तर विचारना, ऐसा नहीं हैं कि एक ही बार इनका स्वरूप जानकर स्थित हो जाना ।

यह जीव भ्रम बुद्धि का कारण अनादि काल से ही बारह स्थानों में आसक्त हुआ है, इसलिये इसकी आसक्ती छुडाने के लिये परम वीतराग गुरु इन बारह प्रकार की भावना द्वारा इसकी आसक्ती, शक्तित: स्वभाव से विरुद्ध देखकर, छुडाने का प्रयत्न करते हैं । जैसे मदमस्त हाथी स्वच्छंद हुआ जिस स्थान पर भी अटक जाता है, वह अपने तथा पर को नहीं पहचांनता हुआ बहुत हानि करता है । उस हाथी को उसका महावत चरखी, भाले आदि से बहुत मार कर झुकाता है । उसीप्रकार गुरु ज्ञान रूपी भाले की मार से संसारी जीव रूपी हाथी को विपरीत कार्यो से छुडाते हैं । उसी का वर्णन करते हैं :–

(1) अनित्य भावना :– प्रथम तो इस जीव ने संसार के स्वरूप को स्थिर (नित्य) मान रखा है, उसे अध्रुव (अनित्य) भावना के द्वारा संसार का अस्थिर स्वरूप दिखा कर शरीर से उदास करते हैं ।

(2) **अशरण भावना :**– जीव अपने माता–पिता, कुटुम्ब, राजा, देवेन्द्र आदि बहुत बलशालियों की शरण चाहता हुआ निर्भय, अमर, सुखी होना चाहता है । काल एवं कर्म से डर कर इनकी शरण की इच्छा करता है, उसे अशरण भावना के द्वारा सर्व तीन लोक में कोई उसे शरण नहीं हो सकते (शरण नहीं हैं) ऐसा दिखाते (बताते) हैं । अभय, शरण तो एक मात्र निश्चय चिद्रूप निज आत्मा ही है, ऐसा समझाते हैं ।

(3) **संसार भावना :–** इस जीव को जगत अर्थात संसार अथवा चतुर्गति के दु:खों की खबर (जानकारी) नहीं है, संसार में कैसे–कैसे दु:ख हैं उन्हें इस जगत (संसार) भावना के द्वारा नरक आदि संसार में तीव्र दु:ख की वेदना का स्वरूप दिखाकर संसार के दु:खों से भयभीत संसार से उदासीन करते हैं तथा संसार के दु:खों से निर्वृति के लिये कारणभूत परमधर्म का सेवन कराते हैं ।

(4) **एकत्व भावना :-** यह जीव कुटुम्ब आदि पुत्र-कलत्र (स्त्री), धन-धान्य, शरीर आदि को अपना मानता है, उसे एकत्व भावना द्वारा यह बताते हैं कि ये कोई भी जीव का नहीं है, जीव अनादि से अकेला ही है। नरक जाता है तो अकेला। तिर्यंच गति में जाता है तो अकेला, देवगति में गया तो अकेला, मनुष्य गति में आया तो अकेला, केवल (अपने किये) पुण्य-पाप का साथ है अन्य कोई इसके साथ नहीं आता जाता, इसलिये जीव सदा अकेला ही है, ऐसा बताकर कुटुम्ब परिवार आदि का ममत्व छुडाते हैं।

(5) **अन्यत्व भावना :-** यह जीव शरीर को एवं अपने को एक मान रहा है, उसे अन्यत्व भावना द्वारा जीव तथा शरीर को भिन्न-भिन्न दिखाते हैं। जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय अलग हैं, पुद्गल का द्रव्य-गुण-पर्याय उनसे भिन्न हैं, इत्यादि अनेक प्रकार से जीव तथा शरीर अदि को भिन्न-भिन्न दिखाकर निज स्वरूप की प्रतीति कराते हैं।

(6) **अशुचि भावना :-** यह जीव शरीर को पवित्र मानता है तथा पवित्र मानकर इसमें बहुत आसक्त होता है। इसकी इस आसक्ति छुडाने के लिये अशुचि भावना के द्वारा शरीर में हड्डियां, मांस, रुधिर, चमडी, नसें, जाल तथा वात-पित्त, कफ, मल-मूत्र आदि सात धातु एवं सात उपधातु मय शरीर का पिंड दिखाकर शरीर से उदासीन करते हैं। अपना चिद्रूप, महापवित्र, शुचि, निर्मल, परमज्ञान तथा सुख का पुंज, अनन्त महिमा का भंडार है अविनाशी, अखंड, केवल कल्लोल, दैदिप्यमान, निःकषाय, शान्त मूर्ति, सबको प्यारा, सिद्ध स्वरूप, देवाधिदेव जैसा अद्वितीय, तीन लोक द्वारा पूज्य निज स्वरूप दिखाकर उसमें ममत्व कराया है।

(7) **आस्रव भावना :-** यह जीव सत्तावन (57) प्रकार के आस्रवों से पुण्य-पाप के जल में डूबा है, उसे आस्रव भावना का स्वरूप दिखाकर आस्रवों से भयभीत किया है।

(8) **संवर भावना :–** यह जीव आस्रव रूपी छिद्र को बंद करने का उपाय नहीं जानता, उसे संवर भावना का स्वरूप दिखाया तथा संवर के सत्तावन (57) कारण क्या-क्या हैं, यह बताया है।

दसलक्षण धर्म दस (10), बारह तप (12), बाईस परिषह (22), तेरह प्रकार चारित्र (13) – इसप्रकार आस्रव को बंद करने के सत्तासन उपाय बताये ।

(9) **निर्जरा भावना :–** इस जीव ने पूर्व भवों से कर्मों का बंध कर रखा है उनकी निर्जरा (छुडाने) का उपाय बताते हुये उसे निर्जरा भावना का स्वरूप दिखाया। चिद्रूप आत्मा के ध्यान रूपी परम तप का स्वरूप बताया ।

(10) **लोक भावना :–** संसार में मोह कर्म के उदय से संसारी जीव को मिथ्या भ्रम लग रहा है । कुछ व्यक्ति तो संसार का कर्त्ता ईश्वर को मानते हैं, कई नास्तिक हैं, कुछ शून्य है (कुछ नहीं है) ऐसा मानते हैं। कुछ वासुकि (नागराज) के आधार पर इस लोक को टिका मानते हैं। अनेक प्रकार के भ्रम रूपी मोह अंधकार के कारण जीव भ्रम रहा है, उसका भ्रम दूर करने के लिये लोक भावना का स्वरूप दिखाया। मोह भ्रम को जिनवाणी रूपी किरण से दूर किया है । तीन लोक के कर्त्ता षट-द्रव्य हैं, इन षट-द्रव्यों के समुदाय का नाम लोक है तथा जहां षट-द्रव्य नहीं हैं, केवल आकाश ही है उसको अलोक कहते हैं । कोई एक पदार्थ इस लोक का कर्त्ता नहीं है । यह लोक अनादि निधन, अकृत्रिम, अविनाशी, शाश्वत, स्वयं सिद्ध है ।

(11) **धर्म भावना :–** यह जीव अधर्म में लगा है, अधर्म करते तृप्त नहीं होता है तथा अधर्म करने का फल बुरा होता है, बहुत क्लेष पाता है । इसप्रकार अधर्म करते अनादि (अनन्त) काल व्यतीत हो चुका है परन्तु इसे कभी धर्म बुद्धि नहीं हुई । इसलिये अधर्म छुडाने के लिये धर्म भावना का स्वरूप दिखाया तथा सब कुछ असार दिखाया है । धर्म के बिना इस

जीव का कभी भला नहीं हो सकता, पर सर्व जीव धर्म चाहते तो हैं परन्तु मोह के उदय के कारण धर्म का स्वरूप जानते नहीं ।

धर्म का लक्षण तो ज्ञान वैराग्य है पर मोह तथा अज्ञान के कारण यह जीव अज्ञानी हुआ सराग भाव से धर्म चाहता है तथा परम सुख की इच्छा करता है, यह बडा आश्चर्य है। यह वांछा कैसी है ? जैसे कोई अज्ञानी सर्प के मुख से अमृत प्राप्त करना चाहे अथवा जल बिलोकर घी निकालना चाहे अथवा वज्राग्नि में कमल का बीज बोकर उसकी छाया में विश्राम करना चाहे अथवा बांझ स्त्री के पुत्र के विवाह में आकाश के फूलों का सेहरा बनाकर खुद के मरने के बाद उसकी शोभा देखना चाहे तो उसका मनोरथ कैसे सिद्ध हो ?

सूर्य पश्चिम में उदित हो, चंद्रमा गर्म हो, सुमेरु पर्वत हिलने लगे, समुद्र अपनी मर्यादा का उल्लंघन करे अथवा सूख जावे अथवा शिला (पत्थर) पर कमल उगें, सर्प विष रहित हो, अमृत विष रूप हो, इत्यादि इन वस्तुओं में ऐसा विपरीतपना न तो हुआ है और न ही होगा । परन्तु कदाचित ये तो विपर्यय रूप (विपरीत परिणमन रूप) हों तो हों, परन्तु सराग भाव से कदापि धर्म नहीं हो सकता, यह जिनराज की आज्ञा (वाणी) है । अत: सर्व जीव सराग भाव को छोडकर वीतराग भाव रूप परिणमन स्वीकार करो ।

वीतराग भाव ही धर्म है, अन्य कुछ भी धर्म नहीं है, यह नियम है । सराग भाव को ही हिंसा जानना । जितने भी धर्म के अंग हैं वे वीतराग भाव रूप हैं अथवा वीतराग भावों के लिये कारण हैं, अत: धर्म नाम प्राप्त करते हैं । जितने पाप के अंग हैं वे सराग भावों के पोषण कर्त्ता हैं अथवा सराग भावों के लिये कारण हैं, अत: अधर्म नाम प्राप्त करते हैं । अन्य जीवों की दया आदि बाह्य कारणों में धर्म हो अथवा न भी हो, यदि इस क्रिया में वीतराग भाव मिले (हो) तो उसमें धर्म हो पर वीतराग भाव न मिले (न हो) तो धर्म हो नहीं तथा हिंसा आदि बाह्य क्रियाओं में कषाय

मिले तो पाप उत्पन्न करे, कषाय न मिले तो पाप नहीं होता, अत: यह नियम निश्चित हुआ कि वीतराग भाव ही धर्म है तथा वीतराग भाव का कारण रत्नत्रय धर्म है ।

रत्नत्रय धर्म के लिये अनेक कारण हैं । वीतराग भाव के मूल कारण के कारण उत्तरोत्तर सर्व कारणों को धर्म कहा जाने में कोई दोष नहीं है । अत: सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, वीतराग भाव हैं वे तो निज स्वभाव हैं तथा मोक्ष पर्यन्त सदैव शाश्वत साथ रहते हैं । इनसे उल्टे तीन भाव जीव के विभाव हैं, वे ही संसार मार्ग हैं, मोक्षमार्ग रूप नहीं हैं अत: सिद्धों में नहीं पाये जाते । सयोगकेवली तथा अयोगकेवली को चारित्र कहा गया है पर वह उपचार मात्र कहा गया है । चारित्र तो सावद्य योग के त्याग को कहते हैं जो वीतराग भाव के लिये कारण हैं तथा वीतराग भाव कार्य है । कार्य की सिद्धि हो जाने पर कारण रहता नहीं ।

ज्ञानी की क्षयोपशम अवस्था अर्थात हेय-उपादेय का विचार बारहवें गुणस्थान तक ही है तथा वहां तक ही हेय-उपादेय का विचार संभव है । केवली कृत्यकृत्य हुये जो करना था वह कर चुके, सर्वज्ञ वीतराग हो गये, अनन्त चतुष्टय को प्राप्त हुये, उन्हें हेय-उपादेय का विचार क्यों हो ? अत: उन्हें सावद्य योग का त्याग निश्चय से संभव नहीं है । मोक्षमार्ग रूपी धर्म से ही जीव परम सुखी होता है । इसप्रकार अधर्म को छुडाकर धर्म के सन्मुख किया ।

(12) **बोधि दुर्लभ भावना :-** यह जीव सम्यग्ज्ञान को सुलभ मानता है, उसे दुर्लभ भावना का स्वरूप दिखाकर सम्यग्ज्ञान के सन्मुख किया। वही कहते हैं - प्रथम तो अनादि से सर्व जीवों का घर नित्य-निगोद है, उसमें से निकलना महादुर्लभ है । वहां से निकलने का कोई उपाय (इस जीव द्वारा किये जा सकने योग्य) नहीं है । जिसका आत्मा वैचारिक शक्ति से हीन है, उस शक्ति हीन द्वारा निकलने का उपाय कैसे बन पावे ? उसका ज्ञान तो एक अक्षर के अनन्तवें भाग है तथा उसको

अनेक पाप प्रकृतियों के समूह का उदय है। ऐसे जीवों में से छह माह आठ समय में केवल छह सौ आठ (608) जीव नियम से वहां से निकलते हैं, इससे कम या अधिक नहीं निकलते। अनादि काल से इतने ही जीव निकल कर व्यवहार राशि में आते हैं तथा इतने ही जीव व्यवहार राशि में निकल कर मोक्ष जाते हैं। इसे काललब्धि का माहात्म्य जानो।

पूर्व में अनादि काल से जितने सिद्ध हुये हैं अथवा नित्य-निगोद से निकले हैं उनसे अनन्त गुणे जीव एक-एक समय में अनादि काल से लगातार नित्य-निगोद में से निकलते रहें तो भी एक निगोद शरीर में जीव की राशि के अनन्तवें भाग एक अंश मात्र खाली होती नहीं है। तो बताओ राजमार्ग के लुटेरों के सामने निगोद में से निकलना कैसे हो ? किसी भाग्य के उदय से वहां से निकलना हो जावे तो आगे भी अनेक स्तरों को उल्लंघन कर मनुष्य भव में उच्च कुल, सुक्षेत्रवास, निरोग शरीर, पांचों इन्द्रियों की पूर्णता, निर्मल ज्ञान दीर्घ आयु, सत्संगति, जिनधर्म की प्राप्ति इत्यादि परम उत्कृष्टपने की महिमा का क्या कहना ? इतनी सामग्री (अनुकूलतायें) पाकर भी जो सम्यग्ज्ञान, रत्नत्रय की इच्छा नहीं रखते, उनकी दुर्बुद्धि का क्या कहना तथा उनके अपयश का क्या पूछना ?

एकेन्द्रिय पर्याय से दो इन्द्रिय पर्याय का पाना ही महादुर्लभ है, दो इन्द्रिय से तीन इन्द्रिय होना महादुर्लभ है। तीन इन्द्रिय से चार इन्द्रिय पर्याय पाना अति दुर्लभ है। चार इन्द्रिय से असैनी पंचेन्द्रिय पर्याय पाना कठिन है। असैनी से सैनी तथा उनमें भी गर्भज पर्याप्तक होना महादुर्लभ है। यह (सैनी पंचेन्द्रिय गर्भज पर्याप्तक) पर्याय जो अनुक्रम से महादुर्लभ है वह भी अनन्त बार पाई पर सम्यग्ज्ञान अनादि काल से लेकर अब तक एक बार भी नहीं पाया। यदि सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर लिया होता तो संसार में क्यों रहता ? जाकर मोक्ष के सुख को ही प्राप्त कर लिया होता।

अत: भव्य जीव शीघ्र ही सम्यग्ज्ञान, जो परम चिंतामणी रत्न, महा अनमोल, परम मंगलकारी, मंगलरूप, सुख की खान, पंच परम गुरुओं

द्वारा सेवनीय, त्रिलोक में पूज्य, मोक्ष सुख के पात्र ऐसा सर्वोत्कृष्ट महादुर्लभ, परम उत्कृष्ट, परम पवित्र है, उसे जानकर उसे प्राप्त करने की भावना निरन्तर रखो। बहुत क्या कहना ? कदाचित ऐसा मौका (अवसर) पाकर भी यहां से च्युत हो गया, तो पुनः ऐसा अवसर मिलने का (कोई ठिकाना) नहीं।

इस समय अन्य सब सामग्री तो प्राप्त हो ही गयी है एक रुचि ही का होना शेष रहा है। बहुत अल्प सा यह उपाय न करने के कारण पायी हुई यह सामग्री (यह अवसर) निरर्थक चली जावे तो उसकी चिन्ता सत्पुरुष कैसे न करें ? यदि यह जीव पुनः एकेन्द्रिय पर्याय में जा पडा तो वहां उत्कृष्ट असंख्यात पुद्गल परावर्तन काल तक रहना पड सकता है। एक पुद्गल परावर्तन काल के वर्षो की संख्या अनन्त होती है। अनन्त सागर, अनन्त अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी के कालचक्र भी एक पुद्गल परावर्तन के अनन्तवें भाग एक अंश के बराबर नहीं होते।

एकेन्द्रिय पर्याय में अपरिमित दुःख है, उसमें नरक से भी अधिक दुःख पाये जाते (होते) हैं। ऐसे अपरंपार दुःख दीर्घकाल से सदा भोगता आया है, परन्तु कर्म के वश हुआ जीव क्या उपाय करे ? यहां अनेक रोगों में से किसी एक काल में एक रोग की वेदना का उदय हो, उसके दुःख से ही जीव कैसा आकुल-व्याकुल हुआ परिणमता है, आप स्वयं अपघात करके मरना चाहता है। ऐसी अवस्था इस पर्याय में सर्व जीवों की होती है अथवा सारे ही तिर्यंच तथा मनुष्य प्रत्यक्ष ही अत्यन्त दुःखी देखने में आते हैं, उनमें से एक-एक दुःख का भी अनुभव किया जावे तो भोजन रुचिकर नहीं लगे।

परन्तु यह जीव अज्ञान बुद्धि करके मोह मदिरा पीकर मस्त हो रहा है, एकान्त में बैठ कर विचार करता नहीं। वर्तमान में जो पर्याय प्राप्त की है, उस पर्याय में ही तन्मय होकर एकत्व बुद्धि पूर्वक परिणमता है, पूर्वापर का विचार नहीं करता। ऐसा नहीं जानता कि यह अन्य जीवों जैसी अवस्था पूर्व में मैने अनन्त बार भोगी है तथा धर्म के बिना पुनः भोगूंगा। यह पर्याय

छूटने पर धर्म के बिना नीच पर्याय ही मिलेगी, अत: गाफिल होना योग्य नहीं है। गाफिल पुरुष ही दगा खाता है, दु:ख पाता है तथा बैरियों के वश पड जाता है।

इत्यादि विशेष विचार कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र रूप यह रत्नत्रय धर्म जो परम निधान, सर्वोत्कृष्ट, उपादेय है तथा जिसकी प्राप्ति का होना महादुर्लभ जान कर जिसप्रकार भी हो सके रत्नत्रय का सेवन करना। ऐसा (बोधि) दुर्लभ भावना का स्वरूप जानना। उसे महादुर्लभ दिखाकर उसमें रुचि कराई। इति बारह भावना का कथन पूर्ण हुआ।

बारह तप

आगे बारह प्रकार के तप का स्वरूप कहते हैं :-

(1) **अनशन तप :-** आहार चार प्रकार का है :- (अ) अशन (ब) पान (स) खाद्य (द) स्वाद्य। पेट भर खाना खाने को अशन कहते हैं। जल दुग्ध आदि पीने को पान कहते हैं। खाद्य नाम रबड़ी, मलाई (लेह्य) पदार्थ आदि और स्वाद्य मुख शुद्धि को कहा जाता है। इन चारों को जिव्हा इन्द्रिय का ही विषय जानना चाहिये, अन्य इन्द्रियों का नहीं। अन्य इन्द्रियों के विषय भी अन्य ही हैं। इन चार प्रकार के आहार के त्याग को अनशन तप कहते हैं।

(2) **अवमोदर्य :-** क्षुधा निर्वृत्ति से एक ग्रास, दो ग्रास आदि घटते-घटते भोजन की पूर्णता से कम एक ग्रास मात्र तक भोजन करने को अवमोदर्य अथवा ऊनोदर तप कहते हैं।

(3) **व्रत परिसंख्यान तप :-** आज इस विधि से ही भोजन मिले तो भोजन लूंगा, नहीं मिले तो मेरे आज आहार पानी का त्याग है, ऐसी अटपटी प्रतिज्ञा करना, उसे व्रत परिसंख्यान तप कहते हैं।

(4) **रस परित्याग तप :-** एक रस, दो रस आदि छहों रसों तक का त्याग करना, उन रसों में मन की लोलुपता को मिटाना, उसे रस परित्याग तप कहते हैं।

(5) **विविक्त शय्यासन :-** शीत काल में नदी, तलाब, चौहट आदि जहां शीत अधिक होती है उन स्थानों पर ठहरना, ग्रीष्म में पर्वत के शिखर, रेत के टीले अथवा चौहट आदि में ठहरना, वर्षा काल में वृक्ष के नीचे ठहरना आदि तीनों ऋतुओं में उपाय करके (राग-द्वेष को उत्पन्न करने वाले आसन, शैय्या आदि का त्याग करना) परिषह सहना तथा परिषह सहने में दृढ रहना विविक्त शय्यासन तप कहलाता है।

(6) **काय क्लेश तप :-** जिस-तिस प्रकार शरीर को कृश करना क्योंकि शरीर को कृश करने से मन भी कृश होता है, उसे काय क्लेश तप कहते हैं।

उपरोक्त बाह्य तपों से (नीचे कहे जाने वाले) अभ्यन्तर तपों का फल विशेष होता है, ऐसा जानना।

(7) **प्रायश्चित तप :-** अपने शुद्ध स्वभाव में, प्रतिज्ञा अथवा संयम आदि में अनजाने में अथवा जानकारी में अल्प अथवा बहुत दोष लग गया हो उसे ज्यों को त्यों गुरु को बताना, दोष को अंश मात्र भी न छुपाना, तथा गुरु जो दंड दे उसे स्वीकार कर पुनः प्रतिज्ञा, संयम, व्रत आदि में हुये छेद को स्थापन करना, उसे प्रायश्चित तप कहते हैं।

(8) **विनय तप :-** श्री अरिहन्त देव, पंच परम गुरु, जिनवाणी, जिनमंदिर, जिनदेव का उत्कृष्ट विनय करना तथा मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका चतुर्विध संघ का विनय अथवा दस प्रकार के मुनि संघ का विनय करना अथवा अपने से सुगुणों में अधिक अव्रत सम्यग्दृष्टि आदि धर्मात्मा पुरुषों का विनय करना विनय तप कहलाता है।

(9) **वैयावृत्य तप :-** मुनि, आर्यिका आदि धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि पुरुषों की वैयावृत्य करके पांव दबाना आदि सेवा करना अथवा आहार देना अथवा उन्हें जिसप्रकार का खेद हो उसे जिस किसी प्रकार दूर करना, रोग हो तो औषध देना इत्यादि विशेष चाकरी करना वैयावृत्य तप है।

(10) **स्वाध्याय तप :-** वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय,

धर्मोपदेश – ये पांच प्रकार के स्वाध्याय के भेद हैं। इनमें वांचना तो शास्त्र को पढना, पृच्छना अर्थात शंका उत्पन्न होने पर विशेष ज्ञानी से प्रश्न करना, अनुप्रेक्षा अर्थात बार-बार चिंन्तन करना, आम्नाय जिस काल में जो स्वाध्याय योग्य है अथवा जो शास्त्र पाठ करने योग्य हो उसका उसी काल में अध्ययन करना, तथा धर्मोपदेश अर्थात धर्म का उपदेश देना। इसप्रकार पांच प्रकार से स्वाध्याय करने को स्वाध्याय तप कहते हैं।

(11) **व्युत्सर्ग अथवा उत्सर्ग तप :–** जब तक जीवन है तब तक के लिये अथवा कुछ काल के लिये प्रमाण करके शरीर का त्याग करना अर्थात शरीर के ममत्व का त्याग करना, बाहुबली मुनि की तरह शरीर का किसी भी प्रकार का संस्कार नहीं करना। अपनी इच्छा से शरीर के अंग-उपांग का हलन-चलन नहीं करने के कारण इसे व्युत्सर्ग अथवा उत्सर्ग तप कहते हैं।

(12) **ध्यान तप :–** ''एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानं'' अर्थात आर्त-रौद्र ध्यानों को तो छोडना एवं धर्म ध्यान अथवा शुक्ल ध्यान करने को ध्यान तप कहते हैं।

इसप्रकार बारह प्रकार के तपों का स्वरूप जानना। अब बारह प्रकार के तपों का फल कहते हैं –

बाह्य तपों का फल :– इनमें अनशन आदि चार तपों के द्वारा यह जीव स्वर्ग स्थान के कल्पवासी देवोपुनीत पद पाता है। मनुष्य पर्याय में थोडी सी भोग सामग्री छोडेगा, उसका अनन्त गुणा फल प्राप्त करेगा जो असंख्यात काल पर्यन्त निर्विघ्नपने रहेगा। महासुन्दर शरीर, अमृत के भोग से तृप्त असंख्यात काल तक निरोग, एक-सा गुलाब के फूल के समान महामनोज्ञ शरीर धारण किये आयु पर्यन्त निर्भय रहेगा। इसकी महिमा वचन अगोचर है, इसलिये कहां तक कहें ? आगे स्वर्ग के सुखों का विशेष वर्णन करेंगे, वहां से जान लेना। विविक्त शय्यासन तथा कायक्लेश से अत्यन्त अतिशयवाला, महा दैदिप्यमान, तेज, प्रताप संयुक्त

इन्द्र, चक्रवर्ती, कामदेव आदि महन्त पुरुषों का शरीर पाता है । इसप्रकार बाह्य तपों का फल कहा ।

अभ्यन्तर तपों का फल :– उपरोक्त से अनन्त गुणा फल अभ्यन्तर छह प्रकार के तपों में जो प्रायश्चित तप है उसका है । बाह्य तपों से तो शरीर कृश होता है तथा शरीर के कृश होने पर मन कृश होता है, इस ही कारण इन्हें (बाह्य तपों को) भी तप कहा है । मन कृश न हो तो शरीर के कृश होने मात्र से तप नाम नहीं होता है ।

धर्मात्मा पुरुष एक मन को कृश करने के लिये ही बाह्य तप करते हैं । अन्यमती शरीर को तो बहुत कृश करते हैं परन्तु मन अंश मात्र भी कृश नहीं होता, अत: उन्हें (अन्य मतियों को) अंश मात्र भी तप नहीं कहा गया है । अभ्यन्तर तपों से मन कृश होता है, मन के कृश होने से कषाय रूपी पर्वत गलता है । ज्यों-ज्यों कषाय की मंदता होती जाती है, वैसे-वैसे ही परिणामों की विशुद्धता बढती है, उस ही का नाम धर्म है, वही मोक्ष का कारण है (मार्ग है) । वही कर्मो को जलाने के लिये ध्यानाग्नि है । संपूर्ण सर्व शास्त्रों का रहस्य मोह कर्म को मंद करने का अथवा नाश करने का है ।

जितने तप, संयम, ध्यान, स्वाध्याय, वैराग्य आदि अनेक कारण बताये हैं वे सब कारण सर्व सराग भावों को छुडाने के लिये हैं । जीव कर्मो से छूटता है तो एक वीतराग भाव से ही छूटता है । अत: सर्व प्रकार से तीन काल, तीन लोक में वीतराग भाव ही मोक्ष का मार्ग है । ''सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्ष-मार्ग:'' ऐसा कहा है वह वीतराग भाव का ही कारण है, कारण में कार्य का उपचार करके ही ऐसा कहा गया है । कारण के बिना कार्य की सिद्धि नहीं होती, इसलिये कारण प्रधान है । यह बात प्रत्यक्ष अनुभव में आती है तथा आगम में स्थान-स्थान पर सारे सिद्धान्त में एक वीतराग भाव को ही सार तथा उपादेय कहा है ।

सम्यक्त्व का महत्त्व :– कर्म वर्गणा से तो सम्पूर्ण तीनों लोक घडे में घी के समान भरे पडे हैं। यदि कर्म वर्गणा से ही बंध हो, तो सिद्धों को भी बंध हो तथा यदि हिंसा से ही बंध होता हो तो श्री मुनिराज को भी बंध हो, यदि विषय भोगों से ही बंध होता हो तो अव्रत सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती, तीर्थंकरों (असंयमी अवस्था में) आदि को भी बंध हो। भरत चक्रवर्ती क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे, वे सम्यक्त्व के माहात्म्य से षटखंड की विभूति, छियानवें हजार रानियों को भी भोग कर निर्बंध ही रहे तथा इस ही कारण दीक्षा के बाद अन्तर्मुहूर्त काल में उनने केवलज्ञान उपार्जित कर लिया। इसलिये सम्यक्त्व का अद्भुत महात्म्य है।

यहां कोई प्रश्न करे :– यदि मुनि महाराज अथवा अव्रत सम्यग्दृष्टि को बंध नहीं है, तो चौथे गुणस्थान तक अनुक्रम से घटता-घटता बंध कैसे कहा है ?

समाधान :– यह कथन तारतम्य की अपेक्षा है। बंध का एक मूल कारण दर्शन मोह है, जैसा बंध दर्शनमोह से है उसका अनन्तवां भाग बंध चारित्रमोह से है। अत: अव्रत सम्यग्दृष्टि से लेकर दसवें गुणस्थान तक जो अल्प बंध है उसे गिना नहीं है। निश्चयरूप से विचारा जावे तो दसवें गुणस्थान तक स्वयमेव रागादि पाये जाते हैं, यह भी शास्त्र में कहा है, सो न्याय (सत्य) ही है। जिस-जिस स्थान में जितना-जितना राग भाव है उतना-उतना मोह से बंध है, यह बात सिद्ध हुई। आठों कर्मो के बंध के लिये एक असाधारण कारण मोह कर्म ही है, अत: पहले मोह का ही नाश करना चाहिये।

प्रायश्चित में धर्मबुद्धि विशेष होती है तथा जिसके धर्म बुद्धि विशेष हो तथा संसार के दु:खों का भय हो, वह ही गुरु से प्रायश्चित तथा दंड लेता है। उसके मन की बात कौन जानता था जिसके कारण उसकी प्रतिज्ञा भंग हुई, परन्तु वह धर्मात्मा परलोक के भय के कारण प्रायश्चित तप अंगीकार करता है। इस तप से भी अनन्त गुणा फल विनय तप का है,

इसमें मान विशेष रूप से गलता (नष्ट होता) है तथा पांचों इन्द्रियां वश में होती हैं अथवा चित्त की एकाग्रता होती है, यही ध्यान है। ज्ञान विशेष होता है । सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र निर्मल होते हैं तथा पुण्य का संचय अत्यन्त अतिशय रूप होता है ।

जितने धर्म के अंग हैं वे ज्ञानाभ्यास से ही जाने जाते हैं, अत: सर्व धर्म का मूल एक शास्त्राभ्यास है, इसका फल केवलज्ञान है । स्वाध्याय से भी अधिक अनन्त गुणा विशेष फल व्युत्सर्ग तथा ध्यान का है, इनका फल मुख्यरूप से मोक्ष है । बाह्य तप जो कहे गये हैं वे भी कषाय घटाने के लिये ही कहे गये हैं । कषाय सहित बाह्य तप करे तो वह तप संसार का ही बीज कारण है, मोक्ष का बीज नहीं है । ऐसा बारह प्रकार के तप का फल जानना ।

आगे तप का विशेष फल कहते हैं :- वह देखो, अन्य मत वाले अथवा तिर्यन्च मंद कषाय के माहात्म्य से सोलहवें स्वर्ग पर्यन्त जाते हैं तो जिनधर्म के श्रद्धानी कर्म काट कर मोक्ष क्यों नहीं जावेंगे । अत: तप से कर्मो की विशेष निर्जरा है, वह ही तत्वार्थसूत्र में कहा है - "तपसा निर्जरा च"। अत: ऐसी निर्जरा हेतु अवश्य ही अभ्यन्तर बाह्य बारह प्रकार के तप अंगीकार करना चाहिये। तप के बिना कर्म कदापि नहीं कटते ऐसा तात्पर्य जानना ।

इसप्रकार तप का कथन पूर्ण हुआ ।

बारह प्रकार का संयम

संयम दो प्रकार का होता है - (1) इन्द्रिय संयम (2) प्राणी संयम। इन्द्रिय संयम छह प्रकार का है तथा प्राणी संयम भी छह प्रकार का है । पांचों इन्द्रियों तथा मन का निरोध करना, छह काय के जीवों की हिंसा का त्याग करना, इनको (क्रमश:) इन्द्रिय संयम और प्राणी संयम कहा जाता है । संयम नि:कषाय के लिये कारण है तथा नि:कषायता ही मोक्ष का मार्ग है । संयम के बिना नि:कषाय कदाचित नहीं होता। नि:कषाय

बिना (कर्म के) बंध, उदय, सत्ता का अभाव नहीं होता, अत: संयम ग्रहण करना योग्य है ।

जिनबिम्ब दर्शन

आगे जिन बिम्ब का दर्शन किस प्रकार करना, क्या भेंट करना, कैसे स्तुति करना, विनय करना, उसका स्वरूप विशेष रूप से कहते हैं –

दोहा :– **मैं बंदों जिनबिंब को, करि अति निर्मल भाव ।**
कर्म बंध के छेदने, और न कछु उपाव ।।

पहले सामायिक करने के बाद, लघु दीर्घ शंका मिटा कर, जल से शुद्धि (स्नान) कर पवित्र वस्त्र पहन कर तथा मनोज्ञ पवित्र एक दो आदि अष्ट द्रव्यों तक रकेबी में रख कर स्वयं नंगे पांव, चमडे, ऊन आदि के स्पर्श से रहित, महा हर्ष पूर्वक मंदिर जाना चाहिये। जिन मंदिर में प्रवेश करते समय ''जय निस्सहि, जय निस्सहि, जय निस्सहि'' कहना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि यदि कोई देव आदि गुप्त (अदृश्य रूप से) यहां मौजूद हों तो वे दूर हों, दूर हों, दूर हों (अर्थात मुझे भी दर्शन करने के लिये स्थान दें)। फिर ''जय जय जय'' शब्द कहे तथा श्रीजी के सम्मुख खडे होकर रकेबी को हाथ में से रख कर दोनों हाथ जोड कर (दोनों हाथों की नारियल जैसी आकृति बनाकर) मस्तक के ऊपर रख कर तीन आवृति करके एक शिरोनति करे तथा अष्टांग नमस्कार करे अर्थात मन-वचन-काय इन तीनों की शुद्धि पूर्वक मस्तक, दो हाथ, दो पांव को नमाने से अष्टांग नमस्कार होता है । नमस्कार करने के बाद पहले तीन प्रदक्षिणा दे।

भावार्थ :– आठों अंगों को ही नमावे । आठ अंगों के नाम – मस्तक, दो हाथ, दो पांव, मन, वचन, काय इसप्रकार आठ अंग हैं तथा उत्तर अवयव – अधर, मुख, आंख, कान, अंगुलियां आदि उपांग जानना। भगवान सर्वोत्कृष्ट हैं अत: उन्हें अष्टांग नमस्कार किया जाता है । जिनवाणी, निर्ग्रन्थ गुरु को पंचांग नमस्कार करते हैं । दोनों घुटने, धरती से लगाकर दोनों हाथ मस्तक से लगाकर, हाथ सहित मस्तक भूमि से

लगाने में छाती, पीठ और नितम्ब को छोडकर पांच ही अंग झुकते हैं, अत: इसे पंचांग नमस्कार कहते हैं ।

फिर (नमस्कार करने के बाद) खडे होकर तीन प्रदक्षिणा दे । एक-एक प्रदक्षिणा में एक-एक दिशा में तीन आवृत्ति सहित शिरोनति करे । खडे होकर स्तुति पाठ पढ़ें तथा अष्टांग दंडवत प्रणाम करके पीछे-पीछे (उल्टे) पांव अपने घर को वापस हो । यदि निर्ग्रन्थ गुरु वहां बिराजे हों तो उन्हें नमोस्तु करके तथा उनके मुख से शास्त्र श्रवण किये बिना घर नहीं लौटना चाहिये।

भावार्थ :- जिन दर्शन करने में आठ तो अष्टांग नमस्कार, बारह शिरोनति तथा छत्तीस आवर्त किये जाते हैं ।

अब स्तुति करने का विधान कहते हैं :-

जैसे राजा आदि बडे पुरुषों के पास कोई दीन पुरुष अपने दु:खों की निर्वृत्ति के लिये जाता है तो उसके सम्मुख खडा होकर, सामने भेंट रख कर फिर वचनालाप करता है। पहले तो राजा आदि की प्रशंसा करता है फिर अपने दु:ख की निर्वृत्ति की इच्छा रखता हुआ इसप्रकार कहता है कि मेरा दु:ख दूर करने की कृपा करें । तब वे महरबान होकर उसका दु:ख दूर करते हैं । इसीप्रकार यह संसारी प्राणी परम दु:खी दीन आत्मा मोह कर्म के द्वारा पीडित किया गया श्री जी के निकट जाकर उनके सम्मुख खडा होकर आगे भेंट रख कर पहले श्रीजी की महिमा का वर्णन करे, श्रीजी के गुणानुवाद गावे, फिर मोह कर्म ने उस स्वयं को अनादि काल से अत्यन्त भयंकर नरक निगोद आदि के दु:ख दिये उनका निर्णय (वर्णन) करे एवं उनकी निर्वृत्ति (उनसे छुडाने) के लिये प्रार्थना करे ।

हे भगवान ! ये अष्ट कर्म मेरे साथ लगे हैं, मुझे महातीव्र वेदना उपजाते हैं, इनने मेरे स्वभाव का घात कर रखा है, उनके दिये दु:ख की बात मैं कहां तक कहूं ? इसलिये अब इन दुष्टों का नाश कर मुझे निर्भय स्थान अर्थात मोक्ष दीजिये, जिससे मैं चिरकाल पर्यन्त सुखी होऊं । तब

भगवान के प्रताप से (भगवान की भक्ति के कारण उपार्जित पुण्य के फल में) यह जीव सहज ही सुखी होता है तथा मोह कर्म सहज ही गलता (नष्ट होता) है । अब इसका विशेष वर्णन करते हैं।

जय, जय, आपकी जय हो, जय भगवान, जय प्रभु, जय नाथ, जय करुणानिधि, जय त्रिलोक्यनाथ, जय संसार समुद्र तारक, जय भोगों से परान्मुख, जय वीतराग, जय देवाधिदेव, जय सच्चे देव, जय सत्यवादि, जय अनुपम, जय बाधा रहित, जय सर्व तत्व प्रकाशक, जय केवलज्ञान-चारित्र, जय त्रिलोक शान्त मूर्ति, जय अविनाशी, जय निरंजन, जय निर्लोभ, जय अतुल महिमा भंडार, जय अनन्त दर्शन, जय अनन्त ज्ञान, जय अनन्तवीर्य, जय अनन्त सुख से मंडित, संसार शिरोमणि, गणधर देवों तथा एक सौ इन्द्रों से पूज्य आप जयवन्त प्रवर्तें । आपकी जय हो, आपकी बहुत वृद्धि हो। जय परमेश्वर, जय सिद्ध, जय आनन्द पुंज, जय आनन्दमूर्ति, जय कल्याण पुंज, जय संसार समुद्र के पारगामी, जय भवदधि जहाज, जय मुक्ति कामिनी कंत, जय केवलज्ञान-केवलदर्शन लोचन, परम सुख परमात्मा, जय अविनाशी, जय टंकोत्कीर्ण, जय विश्वरूप, जय विश्व त्यागी, विश्व ज्ञायक, जय ज्ञान अपेक्षा तीन लोक अथवा तीन काल प्रमाण, अनन्त गुणों के भंडार, अनन्त गुण खान, जय चौसठ ऋद्धि के ईश्वर, जय सुख सरोवर रमण, जय संपूर्ण सुख से तृप्त, सर्व रोग-दुष्ट रहित, जय अज्ञान तिमिर के विध्वंसक, जय मिथ्यात्व वज्र को तोडने, टुकडे-टुकडे करने के लिये परम वज्र, जय तुंग शीश तुम्हारी जय हो।

आप ज्ञानानन्द बरसाने वाले, अमोघ ताप को दूर करने अथवा भव्य जीव रूपी खेत का पोषण करने वाले हैं । आप ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य अंगोपांग सहित तीन लोक के अग्रभाग में स्थित हैं फिर भी तीन लोक को एक परमाणु मात्र भी खेद नहीं होता है । भगवान हम आपके उपकार को नहीं भूले हैं, अत: दयाबुद्धि करके अल्प समय हमें आपके पास बैठने

दें । परन्तु भगवान मैं आपके अनन्तवीर्य का भार मस्तक पर कैसे रख पाऊंगा ? उसका भार मेरे से कैसे सहा जावेगा ?

भगवान आप अनन्त बली है, मुझ असंख्यात बली पर आपके अनन्तबल का भार कैसे ठहरेगा ? अत: आगे बढ कर भगवान की सेवा करूं तो भगवान तो परम दयालु हैं, मुझे खेद नहीं उत्पन्न करावेंगे, जो प्रत्यक्ष दिखाई देता है । भगवान वृद्धि के लिये मेघ सदृश्य हैं । अहो भगवान ! आकाश में यह सूर्य स्थित है, वह क्या है ? मानों आपके ध्यान रूपी अग्नि की कणिका ही है अथवा आपके नख की लालिमा का आकाश रूपी दर्पण में प्रतिबिम्ब ही है । आपके मस्तक पर तीन छत्र शोभित हैं, मानों छत्र के बहाने तीन लोक ही आपकी सेवा करने के लिये आये हैं ।

हे भगवान ! आपके ऊपर चौसठ चमर ढुरते हैं, मानों चमरों के बहाने इन्द्रों का समूह ही नमस्कार करता है । हे भगवान ! ये आपका सिंहासन कैसे शोभित हो रहा है ? मानों यह सिंहासन नहीं है, ये तीन लोक का समुदाय एकत्रित होकर आपके चरण कमलों की सेवा करने आया है । किस प्रकार आपकी सेवा करते हैं? ये भगवान अनन्त चतुष्टय को प्राप्त हुये हैं तथा सिद्ध अवस्था में मेरे मस्तक पर अथवा कंधे पर स्थित होंगे । अहो भगवान ! यह आपके ऊपर अशोक वृक्ष स्थित है, वह तीन लोक के जीवों को शोक रहित करता है ।

हे भगवान ! आपके शरीर की कांति जैसा शरीर वैसी ही भामंडल की ज्योति दसों दिशा में प्रकाश कर रही है, जिसमें भव्य जीवों को सात-सात भव दर्पण की तरह प्रतिभासित होते हैं । हे भगवान ! आपके अभ्यन्तर के आत्मिक गुण तो अनन्तानन्त हैं, उनकी महिमा किससे कही जा सकती है ? आत्मा के अतिशय से शरीर भी ऐसा अतिशय रूप परिणमित हुआ है जिसका दर्शन मात्र से घातिया कर्म शिथिल हो जाते हैं, पाप प्रकृतियां प्रलय को प्राप्त हो जाती हैं, सम्यग्दर्शन जो मोक्ष का

बीज है वह उत्पन्न होता है, इत्यादि सारे अभ्यन्तर-बाह्य विघ्न हैं वे समाप्त हो जाते हैं ।

हे भगवान ! ऐसे शरीर की महिमा सहस्त्रों जिव्हाओं के द्वारा इन्द्र आदि देव क्यों न करें ? तथा हजार नेत्रों के द्वारा आपके रूप का अवलोकन क्यों न करें ? तथा इन्द्रों के समूह अनेक शरीर बना कर भक्तिवान हुये आनन्द रस से भीगे क्यों नृत्य नहीं करें ? आपका शरीर और कैसा है ? उसमें एक हजार आठ लक्षण हैं, जिनका प्रतिबिम्ब आकाश रूपी दर्पण में आ पडा है, वह आपके गुणों का प्रतिबिम्ब तारों के समूह-सा प्रतिभासित होता है । हे भगवान ! आपके चरण कमलों की लालिमा कैसी है ? मानों केवलज्ञान आदि चतुष्टय को उदित कराने के लिये यहां सूर्य ही उगा हो अथवा भव्य जीवों के कर्म रूपी काष्ट को जलाने के लिये आपके ध्यान रूपी अग्नि की चिंनगारी होकर ही अप्राप्त हुआ है अथवा कल्याण वृक्ष के कोपल ही हैं अथवा चिंतामणी रत्न, कल्पवृक्ष, चित्राबेल, कामधेनु, रसकूप का पारस अथवा इन्द्र, धरनेन्द्र, नरेन्द्र नारायण, बलभद्र, तीर्थंकर, चार निकाय के देव, राजाओं का समूह तथा समस्त उत्कृष्ट पदार्थ एवं मोक्ष देने का एक मात्र परम उत्कृष्ट निधि ही है ।

भावार्थ :- सर्वोत्कृष्ट वस्तुओं की प्राप्ति आपके चरणों की आराधना से ही होती है, अत: आपके चरण ही सर्वोत्कृष्ट निधि हैं ।

हे भगवान ! आपका हृदय विशाल है, मानों गुलाब का फूल ही विकसित हुआ है । आपके नेत्रों में ऐसा आनन्द बसा है जिसके एक अंश मात्र आनन्द से निर्मित होकर चार जाति के देवों के शरीर उत्पन्न हुये हैं ।

आपके शरीर की महिमा कहने के लिये तीन लोक में कौन समर्थ है ? परन्तु लाडला पुत्र हो वह माता-पिता को चाहे जैसा बोले पर माता-पिता उसे बालक जानकर उससे प्रीति ही करते हैं तथा उसकी मन मांगी मिष्ट वस्तु खाने के लिये मंगा देते हैं । उसीप्रकार हे भगवान ! आप मेरे उदित माता-पिता हैं, मैं आपका लघु पुत्र हूँ, अत: छोटा बालक

जानकर मुझे क्षमा करें । हे भगवान ! हे प्रभो ! आपके समान मेरा अन्य कोई स्वामी नहीं है ।

हे भगवान ! आप ही मोक्ष लक्ष्मी के कन्त तथा आप ही जगत उद्धारक हैं, आपके चरणारविंद की सेवा करके अनेक जीव तिरे हैं तथा आगे भी तिरेंगे । हे भगवान ! आप ही दु:ख दूर करने में समर्थ हैं। हे भगवान ! हे प्रभो जिनेन्द्र देव ! आपकी महिमा अगम्य है । हे भगवान ! आप समवशरण लक्ष्मी से विरक्त हैं, आप ही कामवाण विध्वंसक हैं, मोह योद्धा को पछाडने के लिये आप ही अद्वितीय योद्धा हैं । जरा मरण आदि रूप काल त्रिलोक के जीवों को निगलता, नाश करता चला आ रहा है, इसका नाश करने में कोई समर्थ नहीं है । समस्त लोक के जीव काल की दाढ में पडे हैं, उनको यह काल निर्भय हुआ दाड से ग्रसता निगलता आज भी तृप्त नहीं हुआ है, उसकी दुष्टता और प्रबलता को जीतने में कौन समर्थ है ? उसे आपने क्षण मात्र में खेल-खेल ही में जीता है । अत: हे भगवान ! आपको हमारा नमस्कार हो ।

हे भगवान ! आपके चरण कमलों के सन्मुख आते ही मेरे पांव पवित्र हुये तथा आपका रूप देखते मेरे नेत्र पवित्र हुये, आपके गुणों की महिमा अथवा स्तुति करते मेरी जिव्हा पवित्र हुई । आपके गुणों की पंक्ति का स्मरण करते मन पवित्र हुआ तथा आपके गुणानुवाद को सुनते कान पवित्र हुये हैं। आपके गुणों का अनुमोदन करते मन विशेष रूप से पवित्र हुआ । आपके चरणों में साष्टांग नमस्कार करते सर्वांग पवित्र हुये। हे जिनेन्द्र देव ! धन्य आज का दिन, धन्य आज की घडी, धन्य यह महिना, धन्य यह वर्ष, जिस काल में आपके दर्शनों के लिये मैं सन्मुख हुआ ।

हे भगवान ! आपके दर्शन करते मुझे ऐसा आनन्द हुआ मानों नवनिधियां मिल गयी हों, मानों मेरे दरवाजे पर कल्पतरु उग आया हो अथवा पारस की प्राप्ति हुई हो अथवा जिनराज ने मेरे हाथ से निरन्तराय आहार लिया हो। ऐसा लगता है जैसे मैने तीन लोक का राज्य ही प्राप्त

किया हो अथवा आज ही मुझे केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी हो। सम्यक् रत्नत्रय तो मेरे सहज ही उत्पन्न हुआ, इसलिये ऐसे सुख की महिमा मैं क्यों न कहूं ? हे भगवान ! आपके गुणों की महिमा करते जिह्वा तृप्त नहीं होती है, आपके रूप का अवलोकन करते नेत्र तृप्त नहीं होते।

हे भगवान ! अभी मेरे कैसे पुण्य का उदय आया है तथा कैसी काल लब्धि आ प्राप्त हुई है जिसके निमित्त से मैने सर्वोत्कृष्ट त्रिलोक्य पूज्य देव को प्राप्त किया, अत: मेरा मनुष्य भव धन्य है जो आपके दर्शन करते सफल हुआ। पहले की अनन्त पर्यायें आपके दर्शन बिना निष्फल गयीं।

हे भगवान ! आपने पूर्व में तीन लोक की संपदा जीर्ण तिनके के समान छोडकर, संसार देह भोगों से विरक्त होकर संसार को असार जानकर, मोक्ष को उपादेय मानकर स्वयमेव भगवती दीक्षा ग्रहण की। तत्काल ही मन:पर्यय ज्ञान उत्पन्न हुआ। फिर शीघ्र ही निरावरण केवलज्ञान सूर्य का उदय हुआ, लोकालोक के अनन्त पदार्थ सर्व द्रव्य-गुण-पर्यायों सहित, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सहित तीन काल के सारे चराचर पदार्थ एक समय में आपके ज्ञान रूपी दर्पण में स्वयं ही बिना खींचे आकर झलके, उनकी महिमा कहने में सहस्त्र जिह्वायें, सौ इन्द्र भी तथा वचन ऋद्धि धारी गणधर आदि महायोगीश्वर भी समर्थ नहीं हो सके।

दिव्यध्वनि की महिमा :– भव्य जीवों के पुण्य के उदय से आपकी दिव्यध्वनि ऐसी प्रकट हुई है, जो एक अन्तर्मुहूर्त में ऐसा तत्व उपदेश करती है जिसकी रचना (उस उपदेश को) शास्त्रों में लिखी जावें तो उन शास्त्रों से अनन्त लोक पूर्ण होजावें। अत: हे भगवान ! आपके गुणों की महिमा कैसे की जा सकती है ? हे भगवान ! आपकी वाणी का अतिशय ऐसा है कि वाणी खिरती तो अनक्षर रूप है तथा अनुभव भाषा रूप होती है पर भव्य जीवों के कानों के निकट वह पुद्गल वर्गणा शब्द रूप परिणम जाती है। चतुर निकाय के असंख्यातों देव-देवांगनाओं ने संख्यात वर्षो पर्यन्त जो प्रश्न विचारे थे तथा संख्यात मनुष्य तिर्यंचों ने बहुत काल से जो

प्रश्न विचार रखे थे (अर्थात् उन्हें तत्व के सम्बंध में जो-जो भी शंकायें थीं) उन सबका उनको उनकी ही भाषा में समाधान मिल जाता है ।

इसके साथ ही अनेक प्रकार का अन्य उपदेश हुआ पर फिर भी अनन्तानन्त तत्व का उपदेश शेष रह गया। जैसे मेघ तो अपरंपार एक ही प्रकार के जल की वर्षा करता है, पर आडू अथवा नारियल आदि जाति के वृक्ष (अर्थात भिन्न-भिन्न जाति के वृक्ष) अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार जल को ग्रहण कर अपने स्वभाव रूप परिणमा लेते हैं। नदी, तलाब, कुआ, बावडी आदि जलाशय अपनी पात्रता के अनुसार जल धारण करते हैं फिर भी बहुत-सा जल व्यर्थ बह जाता है अथवा कुछ जल की कमी भी रह जाती है, उसीप्रकार जिनवाणी का उपदेश जानना । (यहां आशय ऐसा समझना कि जितना उपदेश हुआ है उसमें कुछ तो ऐसा भी होता है जिसे कोई ग्रहण नहीं कर पाता तथा ऐसा भी होता है कि तीर्थंकर भगवान की आयु पूर्ण हो जाने के कारण तत्त्व का सम्पूर्ण उपदेश हो भी नहीं पाता)।

दिव्यध्वनि में उपदेश :- हे भगवान ! उस दिव्यध्वनि में आपने ऐसा उपदेश दिया है कि छह द्रव्य अनादि-निधन हैं । उनमें पांच द्रव्य तो अचेतन हैं, जड हैं । एक जीव नाम का द्रव्य चेतन है । उन छह द्रव्यों में पुद्गल नाम का द्रव्य मूर्तिक है, शेष पांच अमूर्तिक हैं । इन्हीं छह द्रव्यों के समुदाय को लोक कहते हैं । जहां केवल एक आकाश द्रव्य ही है शेष पांच द्रव्य नहीं हैं उसे अलोकाकाश कहते हैं ।

लोक और अलोक के समुदाय रूप आकाश एक अनन्त प्रदेशी है तथा तीन द्रव्य – धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, एक जीव के प्रदेश (प्रदेशों का समूह) – प्रत्येक एक-एक हैं तथा लोक के बराबर असंख्यात प्रदेशी हैं तथा काल के कालाणु असंख्यात हैं जो प्रत्येक एक-एक प्रदेश मात्र है । जीव द्रव्य में प्रत्येक जीव असंख्यात प्रदेशी, तीन लोक के प्रदेशों के बराबर प्रदेश वाला है तथा जीवों की संख्या से अनन्त गुणे पुद्गल द्रव्य हैं

जो अनन्त हैं तथा एक प्रदेश से लेकर अनन्त प्रदेश वाले तक हैं । इनमें चार द्रव्य तो अनादि से स्थिर, ध्रुव स्थित हैं (हिलते-डुलते नहीं हैं) पर जीव तथा पुद्गल द्रव्य गमनागमन भी करते हैं । ये तीनों लोक आकाश द्रव्य के बीच में स्थित हैं । इनका कर्त्ता कोई नहीं है तथा ये छहों द्रव्य अनन्त काल तक स्वयं सिद्ध बने रहेंगे इनमें से किसी का भी कभी भी नाश नहीं होगा।

जीव अपने रागादि भावों के कारण पुद्गल पिंड रूप प्रकृति, प्रदेश, *स्थिति, अनुभाग रूप चार प्रकार के बंध से स्वयं बंधता है। उनके उदय में* जीव की दशा विभाव-भाव रूप होती है। उसके ज्ञानानन्द मय निज स्वभाव घाता जाता है । जीव तो अनन्त सुख का पुंज है, कर्म के उदय के कारण महा आकुल हुआ परिणमन करता है, उसके दु:ख की कथा कहने में कोई समर्थ नहीं है । पाप से निर्वृत्ति का उपाय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है ।

हे भगवान ! उनका उपदेश करने वाले आप ही हैं, आप ही संसार समुद्र में डूबते प्राणियों को हस्तावलंब हैं । आपका उपदेश न होता तो ये सर्व प्राणी संसार में डूबे ही रहते, तो बडा गजब हो जाता। परन्तु धन्य आप, धन्य आपका उपदेश, धन्य आपका जिनशासन, धन्य आपका बताया मोक्ष मार्ग ।

आपका अनुसरण करने वाले मुनि आदि सत्पुरुष भी उसकी महिमा करने में समर्थ नहीं हैं । कहां तो नरक निगोद के दु:ख तथा ज्ञान-वीर्य की न्यूनता एवं कहां मोक्ष का सुख तथा ज्ञान-वीर्य की अधिकता (पूर्णता)? हे भगवान ! आपके प्रसाद से यह जीव चतुर्गति के दु:खों से छूट कर मोक्ष सुख को प्राप्त करता है, ऐसे परम उपकारी आप ही हैं, अत: हम आपको नमस्कार करते हैं ।

करणानुयोग का उपदेश :– हे भगवान ! आपने ऐसा तत्वोपदेश किया है – यह अधोलोक है, यह मध्यलोक है, यह ऊर्ध्व लोक है । ये

तीन वातवलयों से वेष्टित हैं तथा तीन लोक एक महास्कंध रूप है। उसमें आठ पृथ्वी, स्वर्ग के विमान, ज्योतिष विमान स्थित हैं। इतने एकेन्द्रिय जीव, इतने दो इन्द्रिय जीव, इतने तीन इन्द्रिय जीव, इतने चार इन्द्रिय जीव, इतने पंचेन्द्रिय जीव, इतने नारकी, इतने तिर्यंच, इतने मनुष्य, इतने देव, इतने पर्याप्त, इतने अपर्याप्त, इतने सूक्ष्म, इतने बादर, इतने निगोद के जीव, इतने अतीत काल के समय हैं जो अनन्त हैं तथा उनसे अनन्त वर्गणा स्थान गुणे जीव राशि का प्रमाण है।

उनसे भी अनन्त वर्गणा स्थान गुणा पुद्गल राशि का प्रमाण है। उनसे भी अनन्त वर्गणा स्थान गुणा अनन्त काल का प्रमाण है। उनसे भी अनन्त वर्गणा स्थान गुणा आकाश द्रव्य के प्रदेशों का प्रमाण है। उससे भी अनन्त वर्गणा स्थान गुणा धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य के अगुरुलघु नामक गुण के अविभागी प्रतिच्छेदों का प्रमाण है। उससे भी अनन्त गुणा (किन्तु) सर्व जीवों से कम तथा अनन्त वर्गणा स्थान गुणा, एक अलब्ध पर्याप्तक जीव के एक अक्षर के अनन्तवें भाग ज्ञान (के अविभागी प्रतिच्छेद हैं) है, जिसका नाम पर्याय ज्ञान है।

उससे कम (ज्ञान) किसी भी जीव का त्रिलोक तथा तीन काल में होता नहीं है तथा इतना यह ज्ञान निरावरण रहता है, उसके ऊपर ज्ञानावरणी कर्म का आवरण नहीं आता। यदि आवरण आ जावे तो सर्व ज्ञान का घात हो जावे, सारा ज्ञान घाते जाने पर (जीव) जड हो जावे, जो हो सकता नहीं। इसप्रकार इस पर्याय ज्ञान में जितने अविभागी प्रतिच्छेद पाये जाते हैं, उनसे अनन्त गुणे जघन्य क्षायिक सम्यक्त्व के अविभागी प्रतिच्छेद होते हैं, ऐसा ही उपदेश आपने दिया है।

एक सुई की नोक पर असंख्यात लोक प्रमाण स्कंध होते हैं। एक-एक स्कंध में असंख्यात लोक प्रमाण अंडर होते हैं। एक-एक अंडर में असंख्यात लोक प्रमाण आवास होते हैं। एक-एक आवास में असंख्यात लोक प्रमाण पुलवी होते हैं।

एक-एक पुलवी में असंख्यात लोक प्रमाण शरीर होते हैं । एक-एक शरीर में अनन्त काल के समयों से अनन्तानन्त गुणे जीव होते है । एक-एक जीव से अनन्तानन्त कर्म वर्गणा लगी है । एक-एक वर्गणा में अनन्तानन्त परमाणु होते हैं । एक-एक परमाणु के साथ अनुक्रम रूप से समस्त जीव राशि से अनन्त गुणे विस्रसोपचय रूप परमाणु पाये जाते हैं । एक-एक परमाणु में अनन्तानन्त गुण तथा पर्यायें पाई जाती हैं । एक-एक गुण व पर्याय के अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं । ऐसी विचित्रता एक सुई की नोक के ऊपर निगोद राशि के जीव में पायी जाती है । ऐसे जीव, ऐसे परमाणुओं से वेष्टित अथवा वर्गणा से आच्छादित जीवों से तीन लोक घडे में घी के समान अत्यन्त (लबालब) भरा है ।

एक निगोदया शरीर के अन्दर के जीवों के अनन्तवें भाग भी निरन्तर मोक्ष जाते रहें तो भी तीन काल में कभी-कमी न आवे ऐसा उपदेश भी आपने दिया है । उसी सुई की नोक जितने आकाश में अनन्तानन्त परमाणु भी एक-एक भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र स्थित हैं । अनन्त स्कंध दो-दो परमाणु वाले भी स्थित है । इसप्रकार एक-एक परमाणु बढते तीन परमाणुओं के स्कंध से लेकर अनन्त परमाणुओं के स्कंध पर्यन्त अनन्त जाति के स्कंध वे भी सुई की नोंक पर अनन्तानन्त स्थित हैं ।

उन प्रत्येक में अनन्त गुण, अनन्त पर्यायों, अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदों एवं तीन काल सम्बन्धी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की अवस्था सहित एक समय में हे जिनदेव आपने ही देखे हैं, आपने ही जाने हैं, आपने ही बताये हैं । इन परमाणुओं के परस्पर रुक्षता तथा स्निग्धता के दो अंश अथवा तीन चार आदि अंशों वालों में से दो दो की अधिकता वाले संग होकर संयुक्त बंध, विषम जाति बंध ऐसे परमाणुओं के परस्पर बंधने के लिये कारण अथवा अकारण रूप रूक्ष तथा स्निग्ध अंशों का स्वरूप भी आपके ही ज्ञान में झलका है तथा दिव्यध्वनि के द्वारा कहा गया है ।

हे भगवान ! आपका ध्यान रूपी दर्पण कितना बडा है ? उसकी महिमा कहाँ तक कहें ? हे भगवान, हे कलानिधान, हे दयामूर्ति ! हम क्या करें, प्रथम तो हमारा स्वरूप हमको दिखता नहीं है तथा हमको दु:ख देने वाला प्रतीत नहीं होता, उसका हम क्या कहें ? हमने पूर्व में अपराध किये हैं, जिनके कारण हमको कर्म तीव्र दु:ख देते हैं। ये कर्म किसप्रकार उपशान्त हों यह भी हमको दिखता नहीं है । हमारा निज स्वरूप कैसा है, कैसा है हमारा ज्ञान, कैसा है हमारा दर्शन, कैसा है हमारा सुख-वीर्य।

हम कौन हैं, हमारे द्रव्य-गुण-पर्याय क्या हैं, पूर्व में हम किस क्षेत्र में किस पर्याय में थे ? अब यहां इस क्षेत्र, इस पर्याय में किस कारण आ पहुंचे हैं तथा अब हमारा कर्तव्य क्या है, किस रूप परिणम रहे हैं, उसका फल अच्छा होगा या बुरा, फिर हम कहां जावेंगे, कैसी-कैसी पर्याय धारण करेंगे, यह हम कुछ जानते नहीं है । अत: ज्ञान बिना हमारे सुखी होने का उपाय कैसे बने ? हमें इतना ज्ञान का क्षयोपशम होने पर भी हमें परम सुखी होने का उपाय भासित नहीं हो पाता तो फिर एकेंन्द्रिय, अज्ञानी तिर्यंच जीव अथवा नारकी जीव जो महाक्लेश से पीडित हैं, जिनको आंख के फडकने मात्र समय के लिये भी निराकुलता नहीं है, उन जीवों को तो दूषण ही क्या ?

परन्तु धन्य है आपकी दयालुता, धन्य है आपका सर्वज्ञ ज्ञान, धन्य है आपका अतिशय, धन्य है आपकी परम पवित्र बुद्धि, धन्य है आपकी प्रवीणता तथा विचक्षणता, जिससे आपने दया करके सर्व प्रकार वस्तु का स्वरूप भिन्न-भिन्न दिखाया। आत्मा का निज स्वरूप है वह अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य का धनी है तथा आपके स्वयं के सदृश्य है यह बताया। पर-द्रव्यों से रागादि भाव के कारण उलझाव है यह बताया। जीव अपने राग-द्वेष-मोह भावों के कारण कर्मो से बंधता है तथा उनके उदय काल में महादु:खी होता गया। वीतराग भावों से कर्म से निर्बंध, निराश्रव होता है यह दिखाया। वीतरागी भावों

से ही पूर्व में दीर्घ काल से संचित कर्मों की निर्जरा होना बताया तथा निर्ज़रा के द्वारा निज आत्मा को यथाजात केवलज्ञान, केवलसुख होना प्रकट दिखाया तथा उसी का नाम मोक्ष कहा हित अथवा भिन्न रूप कहा।

जीव नरक में जा पहुंचता है। यदि किसी क्षेत्र विशेष से मोक्ष की सिद्धि होती हो तो सर्व सिद्धों की अवगाहना में अनन्त पांचों स्थावर, सूक्ष्म, बादर पाये जाते हैं, वे महा दु:खी नहीं होते। अत: निश्चय से अपने ज्ञानानन्द स्वभाव के घाते जाने का नाम ही बंध है। ज्ञानावरण आदि कर्मो का अभाव होने से (ज्ञानानन्द स्वभाव) स्फूरायमान हुआ जैसे सूर्य का प्रकाश बादलों से रुका हुआ था। बादलों का अभाव होने पर पूर्ण प्रकाश विकसित हुआ, तब जीव ऊर्ध्व जा स्थित हुआ।

जीव का ऊर्ध्व गमन स्वभाव है, इसलिये ऊर्ध्वगमन किया। आगे धर्म द्रव्य का अभाव है अत: आगे गमन नहीं किया, यहां ही स्थित हुआ। अनन्त काल पर्यन्त सदैव परम सुख रूप रहेगा। तीन लोक, तीन काल तथा लोकालोक को देखने रूप ज्ञान दर्शन नेत्रों सहित अनन्त बल, अनन्त सुख के धारक सिद्ध महाराज तीन लोक द्वारा तीन काल पर्यन्त पूज्य हुये तिष्ठेंगे। हे भगवान ! ऐसा उपदेश भी आपने ही दिया है। आपके उपकार की महिमा हम कहां तक कहें।

हम आपकी क्या भक्ति, पूजा, वंदना करें ? हम सब प्रकार से आपकी भक्ति, पूजा, वंदना आदि करने में असमर्थ हैं। आप परम दयालु हैं, अत: हमें क्षमा करें। हमको यह बडी असंभव चिंता है, हम आपकी स्तुति महिमा करते लज्जित होते हैं, पर हम क्या करें ? आपकी भक्ति ही मुझे वाचाल (वाध्य) करती है तथा आपके चरणों में नम्रीभूत करती है, अत: आपके चरणों में बारंबार नमस्कार हो, ये आपके चरण युगल ही मुझे संसार समुद्र में डूबने से बचाने वाले हैं।

अग्निकाय के जीव असंख्यात लोक के प्रदेश प्रमाण हैं, उनसे असंख्यात लोक वर्ग स्थान आगे निगोद का शरीर प्रमाण है, उनसे

असंख्यात लोक वर्ग स्थान आगे योगों के अविभागी प्रतिच्छेद हैं। वह भी असंख्यात का ही एक भेद है । हे भगवान ! ऐसा उपदेश भी आपने ही दिया है ।

पुनः यह असंख्यात द्वीप, समुद्र हैं, ये अढाई द्वीप प्रमाण मनुष्य क्षेत्र है, उसका भी निरूपण आपने ही किया है। ये ज्योतिष मंडल है, उसके प्रमाण का तथा अलग-अलग द्वीप समुद्रों को आपने ही बताया है । पुद्गल के परमाणु का प्रमाण, द्विअणुक स्कंध के प्रमाण से लेकर महास्कंध पर्यन्त आपने ही कहे हैं । इत्यादि अनन्त द्रव्यों के तीन काल सम्बन्धी द्रव्य-गुण-पर्याय तथा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सहित अन्य भी स्थान लिये अनन्त विचित्रता एक समय में आपने ही देखी है । आपके ज्ञान की महिमा अद्भुत है, आपके ही ज्ञान गम्य है, अतः आपके ज्ञान को मेरा पुनः नमस्कार हो ।

हे भगवन ! आपकी महिमा अथाह है । आपके गुणों की महिमा देख-देख कर आश्चर्य होता है, आनन्द का समूह उत्पन्न होता है, उससे हम अत्यन्त तृप्त हैं । हे भगवन ! दया अमृत के द्वारा भव्य जीवों का आप ही पोषण करते हैं, आप ही तृप्त करते हैं । आपके उपदेश के बिना सारा लोकालोक शून्य हुआ, उसमें ये सब जीव शून्य हो गये हैं । अब आपके वचन रूपी किरण से मेरा अनादि काल का मोह तिमिर दूर हो गया है । अब मुझे आपके प्रसाद से तत्त्व-अतत्त्व का स्वरूप भासित हुआ है, मेरे ज्ञान लोचन खुल गये हैं, उनके सुख की महिमा कही नहीं जाती। अतः हे भगवन ! आप संसार के संकटों को काटने के लिये अद्वितीय परमवैद्य प्रतीत होते हैं । अतः आपके चरणार्विन्द से बहुत अनुराग हो गया है ।

हे भगवान ! भव-भव में, पर्याय-पर्याय में एक आपकी ही चरणों की सेवा करूं । वे पुरुष धन्य हैं जो आपके चरणों की सेवा करते हैं, आपके गुणों की अनुमोदना करते हैं, आपके रूप को निरखते हैं, आपका गुणानुवाद गाते हैं । आपके वचनों को सुनते हैं तथा मन में निश्चय

(निर्णय) कर धारण करते हैं अथवा आपकी आज्ञा शिरोधार्य करते हैं। आपके चरणों के अतिरिक्त अन्य को नमन नहीं करते हैं। आपके अतिरिक्त अन्य का ध्यान नहीं करते हैं। आपके चरण पूजते हैं, आपके चरणों में अर्घ अर्पण करते हैं, आपकी महिमा गाते हैं,आपके चरण कमलों की रज अथवा गंधोदक मस्तक अथवा नाभि के ऊपर के उत्तम अंगों पर लगाते हैं। आपके सम्मुख खडे होकर हाथ जोड कर नमस्कार करते हैं। आपके ऊपर चमर ढोलते हैं, छत्र चढाते हैं, वे ही पुरुष धन्य हैं। उनकी महिमा इन्द्र आदि देव भी गाते हैं। वे कृतकृत्य हैं, वे ही पवित्र हैं, उन्होंने ही मनुष्य भव का लाभ लिया है, जन्म सफल किया है, भव समुद्र को तिलांजलि दी है।

हे जिनेन्द्र देव, हे कल्याण पुंज, हे त्रिलोक तिलक! अनन्त महिमावंत, परम भट्टारक, केवलज्ञान-केवलदर्शन रूप युगल नेत्रों के धारक, सर्वज्ञ वीतराग आप जयवंत वर्तें। धन्य है मेरी पर्याय जिस पर्याय में आप जैसे अद्वितीय पदार्थ को पाया। आपकी अद्भुत महिमा किस से कहें,आप ही माता, आप ही पिता, आप ही बंधु, आप ही मित्र, आप ही परम उपकारी, आप ही छह काय का रक्षक, आप ही भव समुद्र में डूबते प्राणियों के आधार हैं। अन्य कोई तीन काल में भी आधार नहीं है। आप ही आवागमन रहित करने में समर्थ हैं, मोह पर्वत को चकनाचूर करने के लिये वज्रायुध हैं। घातिया कर्मो को चकनाचूर करने में आप ही अनन्तबली हैं।

हे भगवन ! आपने दोनों हाथ क्या पसार रखे हैं, भव्य जीवों को संसार समुद्र में से निकालने के लिये हस्तावलंबन ही दिया है। हे परमेश्वर, हे परम ज्योति, हे चिद्रूप मूर्ति ! आनन्दमय अनन्त चतुष्टय से मंडित, अनन्त गुणों से पूर्ण, वीतराग मूर्ति, आनन्द रस से आल्हादित, महामनोज्ञ, अद्वैत, अकृत्रिम, अनादि निधन, त्रिलोक पूज्य आप कैसे शोभित हैं ? उसका अवलोकन करते नेत्र और मन तृप्त नहीं होते हैं।

हे केवलज्ञान सूर्य ! छह द्रव्य, सात तत्त्व, नव पदार्थ, पंचास्तिकाय, चौदह (14) गुणस्थान, (14) चौदह मार्गणास्थान, बीस (20) प्ररूपण, चौबीस (24) ठाणा, व्रतों के बारह (12) भेद, प्रतिमा के ग्यारह (11) भेद, दश- (10)लक्षण धर्म, सोलह (16) कारण भावना, बारह (12) तप, बारह (12) संयम, बारह (12) अनुप्रेक्षा, अट्ठाईस (28) मूलगुण, चौरासी (84) लाख उत्तर गुण, मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस (336) भेद, शील के अठारह (18) हजार भेद, प्रमाद के साढे सैंतीस हजार (37500) भेद, अरिहन्त के छयालीस (46) गुण, सिद्धों के आठ (8) गुण, आचार्यों के छत्तीस (36) गुण, उपाध्याय के पच्चीस (25) गुण, साधु के अठाईस (28) गुण, श्रावक के बारह (12) गुण (व्रत), सम्यक्त्व के आठ (8) अंग, आठ (8) गुण तथा पच्चीस (25) मल दोष, मुनि के आहार के छियालीस (46) दोष, बाईस (22) अन्तराय - दस (10) मल दोष, नवधा भक्ति, दाता के सात (7) गुण, चार (4) प्रकार के आहार, चार (4) प्रकार का दान, तीन प्रकार के पात्र, एक सौ अडतालीस (148) कर्म प्रकृतियाँ, बंध, उदय, सत्ता, उदीरणा, सत्तावन (57) आश्रव, तिरेपन (53) क्रिया, इनकी षट (6) त्रिभंगी, एक सौ (100) पाप प्रकृतियां, अडसठ (68) पुण्य प्रकृतियां (वर्ण की बीस प्रकृतियां पुण्य तथा पाप दोनों रूप होने से दोनों में गिनी जाती हैं), घातिया कर्मो की सैतालीस (47) प्रकृतियों में सर्वघाति प्रकृतियां इक्कीस (21) तथा देशघाति प्रकृतियां छब्बीस (26), क्षेत्र विपाकी चार (4) प्रकृतियां, भव विपाकी चार (4), जीव विपाकी अठहतर (78) प्रकृतियां, पुद्गल विपाकी बासठ (62) प्रकृतियां, दस (10) करण चूलिका, नव (9) प्रश्न चूलिका, पांच (5) प्रकार भागाहार, स्थिति-अनुभाग-प्रदेश-प्रकृति बंध इत्यादि इनका भिन्न-भिन्न निरूपण आपने ही किया है तथा उपदेश दिया है ।

अन्य अनुयोगों का कथन :- प्रथमानुयोग, करणानुयोग,

चरणानुयोग, द्रव्यानुप्रयोग, चार विकथायें, चार सुकथायें, तीन सौ तिरेसठ (363) कुवाद के धारक, ज्योतिष, वैद्यक, मंत्र, तंत्र अथवा आठ प्रकार का निमित्त ज्ञान, न्याय नीति, छन्द, व्याकरण, गणित, अलंकार, आगम, अध्यात्म शास्त्रों का भी आपने निरूपण किया है । चौदह (14) धारा, तेईस (23) प्रकार की वर्गणा, ज्योतिष-व्यन्तर-भवनवासी- कल्पवासी चार प्रकार के देव, सप्त (7) नारकी तथा उनकी आयु, बल, पराक्रम, सुख, दु:ख का निरूपण आपने ही किया है ।

अढाई द्वीप के क्षेत्र, कुलाचल, द्रह, कुंड, नदी, पर्वत, वन-उपवन क्षेत्र की मर्यादा, आर्य-अनार्य, कर्मभूमि-भोगभूमि की रचना, उनके आचरण, अवसर्पिणि-उत्सर्पिणि काल का चक्र, पल्य-सागर आदि आठ तथा संख्यात-असंख्यात-अनन्त के इक्कीस (21) भेद तथा पांच प्रकार के परावर्तन इनका स्वरूप भी आपने ही बताया है । हे भगवान, हे जिनेन्द्र देव, हे अरिहन्त देव, हे त्रिलोक गुरु ! आपका ज्ञान कैसा है ? इतना ज्ञान आपको एक समय में कैसे हुआ, इसका मुझे आश्चर्य है । आपके ज्ञान के अतिशय की महिमा हजार जिव्हा से भी नहीं कही जा सकती । मैं तो एक ज्ञेय को एक काल में स्थूल रूप से मुश्किल से जान पाता हूं । इसलिये हे दयालु मूर्ति ! आप जैसा मुझे भी करें । मुझे ज्ञान की बहुत चाह है ।

आप परम दयालु हैं, मन वांछित वस्तु के देने वाले हैं, अत: मेरा भी मनोरथ सिद्ध करें, इसमें देर न करें । हे संसार समुद्र से तारने वाले, मोह-लहर के विजयी, घातिया कर्मों के विध्वंसक, काम शत्रु के नाशक, संसार लक्ष्मी से विरक्त वीतराग देव ! आपको सर्व प्रकार सामर्थ्यवान जानकर तथा आपका तारण-विरद सुनकर अपनी कथा आपको सुनाता हूं, आपके चरणों की शरण में आया हूं, अत: हे जगतबंधु ! हे माता-पिता ! हे दया भंडार ! मुझे चरणों की शरण में रखें, रक्षा करें, रक्षा करें, मोह कर्म से छुडावें ।

यह मोह कर्म कैसा है ? लोक के समस्त जीवों को अपने पौरुष से समस्त जीवों की समस्त ज्ञानानन्द, पराक्रम आदि स्वाभाविक निधि-लक्ष्मी को छीनकर शक्ति हीन कर जेल में डाल दिया है। कईयों को तो एकेन्द्रिय पर्याय में डाला है, जिनके लिये सुना है कि वे घोर दु:ख पाते हैं। उनके दु:ख का स्वरूप (की हालत) तो ज्ञानी जीवों को भासित होता है, पर वचनों में कहा नहीं जा सकता है। कई जीवों को दो इन्द्रिय पर्याय में महा दु:ख दिये, जिनके दु:ख प्रत्यक्ष इन्द्रिय गोचर हैं, तथा आपने सिद्धान्त में निरूपण भी किया है, आपके वचनों को अनुमान प्रमाण से सत्य जाना है।

बहुत जीव नरकों में पडे-पडे बहुत तडपते हैं, रोते हैं, हाय-हाय करते हैं, वे तो अन्यों को मारते हैं तथा अन्यों द्वारा उन्हें मारा जाता हैं। वहां छेदन-भेदन-मारण-ताडण-शूलीरोपण, इन पांच प्रकार के दु:खों से अत्यन्त पीडित हैं तथा भूमि की असहय वेदना से परम आकुलित हैं। करोडों रोगों से पीडित हो रहे हैं, ऐसे दु:खों को सहने में नारकी ही समर्थ हैं। वे कायर हैं, दीर्घायु के कारण सागरों पर्यन्त ऐसे दु:खों को भोगते रहते हैं। इसप्रकार मोह के वशीभूत हुये फिर-फिर मोह का ही सेवन करते हैं, मोह को ही भला मानते हैं, मोह की ही शरण में रहना चाहते हैं तथा (फिर भी) परम सुख की इच्छा रखते हैं। यह भूल कैसी है ?

इस भूल को आपके उपदेश बिना अथवा आपके गुण माने बिना, आपकी आज्ञा सर पर धारण किये बिना कैसे जानें त्रिकाल त्रिलोक में मोह कर्म को दु:ख का कारण कैसे जानें तथा मोह को जीते बिना दु:ख से निर्वत्ति नहीं हो सकती, निराकुल सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। (यह भी कैसे जानें)।

मेरे अवगुणों का क्या देखना ? मैं तो अनादि से अवगुणों का पुंज ही बना हूँ। यदि मेरे अवगुण ही देखते रहेंगे तो (मुझे) परम कल्याण की सिद्धि नहीं होगी। आप जैसे सत्पुरुष ही अवगुणों को गुणों में परिवर्तित

करते हैं। कुदेव आदि नीच पुरुषों ने तो गुणियों पर भी अवगुण ही किये हैं। मैने तो उनको बहुत अच्छा जानकर सेवा की थी, वंदना की थी, स्तुति की थी, तो भी उन्होंने मुझे अनन्त संसार में रुलाया। उन दु:खों की वार्ता वचनों द्वारा कही नहीं जा सकती।

सत्पुरुष तथा नीच पुरुष कैसे हैं उसका दृष्टान्त देते है – जैसे पारस को लोहे का घन (हथोडा) टुकडे-टुकडे कर देता है पर वह पारस तो उसे लोहे के घन को स्वर्णमय ही करता है। चन्दन को जैसे-जैसे घिसा जाता है वैसे-वैसे वह सुगन्ध ही देता है। गन्ने को ज्यों-ज्यों पेरा जाता है त्यों-त्यों वह तो अमृत ही देता है। जल स्वयं जलता है तथा दूध को बचाता है, ऐसा इनका जाति-स्वभाव ही है, किसी का मिटाया मिटता नहीं। इसके विपरीत सर्प को दूध पिलाओ, परन्तु वह उस दूध पिलाने वाले के प्राणों का ही नाश करता है। सर्प अपना चमडा उतरवा कर भी अन्यों को बांधता ही है, मक्षिका अपने प्राण तज कर भी अन्यों को बाधा ही उत्पन्न करती है। इन्ही के सदृश्य उन दुर्जन कुदेवादि पुरुषों का स्वभाव जानना। इनका स्वभाव भी मेटा नहीं मिटता। स्वभाव की कोई औषध (बदलने के लिये विधि) नहीं है, मंत्र-तंत्र नहीं है, अत:. स्वभाव का कभी नाश नहीं होता।

कुदेवादिक मान्यता का त्याग :– हे जिनदेव ! आपके प्रसाद से उन कुदेव आदि का स्वरूप भली प्रकार जाना, अत: मैं इन्हें विषधर के समान दूर से ही छोडता हूँ। धिक्कार हो ! भ्रष्ट पुरुषों को और उनके आचरण को तथा उनका सेवन करने वालों को तथा मेरी पूर्व अवस्था को भी धिक्कार हो। अब मैने जिनेन्द्र देव को प्राप्त किया है, उनकी श्रद्धा हुई अब मेरी बुद्धि धन्य है। मैं धन्य हूं, मेरा जन्म सफल हुआ, मैं कृतकृत्य हुआ, मैने जो करने योग्य था वह कर लिया, अब कुछ करना नहीं रहा। संसार के दु:खों को तिलांजलि दी। ऐसा तीन लोक में तीन काल में कौन सा पाप है, जो श्रीजी के दर्शन से, पूजा से, ध्यान से, स्मरण से, स्तुति से,

नमस्कार से, आज्ञा मानने से, जिनशासन का सेवन करने से दूर न हो जाता हो ।

कोई अज्ञानी पुरुष जिसकी बुद्धि मोह से ठगी गयी है, ऐसे अरिहन्त देव को छोडकर कुदेव आदि की सेवा करके, पूजा करके भी मन वांछित फल चाहता है तो वह मनुष्य नहीं राक्षस है । इस लोक में तथा परलोक में उसका बुरा ही होता है । जैसे कोई अज्ञानी अमृत को छोडकर विषय-विष को पीता है, चिन्तामणी रत्न को छोडकर कांच के टुकडे को पल्ले से बांधता है, कल्पवृक्ष को काट कर धतूरा बोता हो, उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि जीव श्री जिनदेव को छोडकर कुदेव का सेवन करता है । बहुत क्या कहें ?

भगवान की विनय :- हे भगवान ! ऐसा करिये कि मैं जन्म-मरण के दु:खों से निर्वृत हो जाऊं । अब मुझसे दु:ख सहन नहीं होते । उन दु:खों का स्मरण करने मात्र से ही दु:ख उत्पन्न होता है, तब कैसे सहा जावे ? अत: करोडों बात की एक बात यह है कि मेरा आवागमन निवारिये, अष्ट कर्मो से मुक्त करिये। केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवल सुख, अनन्तवीर्य यह जो मेरा चतुष्टय स्वरूप है उसका घात हुआ है वह घातिया कर्मो का नाश होकर मुझे प्राप्त हो जावे । मुझे स्वर्ग आदि की चाह नहीं है । मैं तो परमाणु मात्र का भी त्यागी हूं । मैं तीन लोक में स्वर्ग, चक्रवर्ती, कामदेव, तीर्थंकर तक के पद भी नहीं चाहता हूं । मुझे तो मेरे स्वभाव की ही वांछा है, किसी भी प्रकार बस स्वभाव की ही प्राप्ति हो जावे ।

सुख आत्मा का स्वरूप भाव (स्वभाव भाव) है तथा मैं एक सुख का ही अर्थी हूँ, अत: निज स्वरूप की प्राप्ति अवश्य चाहता हूँ। आपके अनुग्रह अथवा सहायता के बिना ये कार्य सिद्ध नहीं होगा तथा तीन लोक त्रिकाल में आप के अतिरिक्त अन्य कोई सहाय नहीं है, अत: अन्य कुदेव आदि को छोड आपकी ही शरण में आया हूँ । मेरा कर्तव्य था वह मैं कर

चुका अब आपका ही कर्तव्य बाकी रहा है । आपने तारणतरण नाम धराया है, अत: आप अपना नाम रखना चाहें तो मुझे अवश्य तारें क्योंकि दु:खियों को तारने के कारण ही आपकी कीर्ति त्रिलोक में फैली है तथा आगे अनन्त काल तक रहेगी ।

हे भगवन ! आपने अद्वैत व्रत (ऐसा कोई दूसरा नहीं, इसप्रकार का नाम) धारण किया है, आपने अनन्त जीवों को मोक्ष दिया है । अंजन चोर जैसे अधर्मी पुरुषों को तो आपने शीघ्र ही अल्प काल में मोक्ष दिया तथा भरत चक्रवर्ती जैसे बहुत (बाह्य) परिग्रही को एक अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान दिया। श्रेणिक महाराजा, जिनधर्म का अविनय करने वाले बौद्धमति, ने मुनि के गले में सर्प डाला। उस पाप से सातवें नरक की आयु का बंध किया, उसे तो आपने कृपा करके एक भवतारी कर दिया। आपने बहुत से अनन्त जीवों को तारा है सो अब हे प्रभो! मेरे बारे में देर क्यों कर रखी है, इसका कारण क्या है यह मैं नहीं जानता ? आप तो वीतराग परम दयालु कहलाते हैं, तो फिर मुझ पर दया क्यों नहीं आती ? मेरे बारे में ऐसा कठोर परिणाम क्यों किया, आपको यह उचित नहीं है । मैं बहुत पापी था, उन पापों की भी आपके पास पहले ही क्षमा करा चुका हूँ, अत: अब मेरा कोई अपराध भी नहीं रहा है । इसलिये अब मैं नियम से ऐसा मानता हूँ कि मेरे थोडे ही भव बाकी रहे हैं, वह एक आपका ही प्रताप है । आपके ऐसे यश गाने से कैसे तृप्त हुआ जा सकता है ? धन्य आपका केवलज्ञान, धन्य आपका केवलदर्शन, धन्य आपका केवल सुख, धन्य आपका अनन्त वीर्य, धन्य आपकी वीतरागता, धन्य आपका रत्नत्रय धर्म, धन्य आपके गणधर आदि मुनि। श्रावक, इन्द्र आदि सम्यग्दृष्टि देव-मनुष्य, जिन्होंने आपकी आज्ञा सर पर धारण की है आपकी महिमा गाते हैं । धन्य आपकी महिमा कहां तक कहें ? आप जयवन्त प्रवर्तें तथा हम भी आपके चरणों के निकट सदैव बसैं एवं मेरी महा प्रीति भी जयवन्त प्रवर्तें ।

प्रतिमाजी की विनय :- आगे और भी कथन करते हैं। मार्ग में जितने भी जिनमंदिर हों, उन सब के दर्शन किये बिना आगे नहीं जाना चाहिये। यदि बार-बार जिनमंदिर के निकट ही समागम करना (से जाना-आना) पडता है तथा बार-बार दर्शन करना संभव न हो तो बाहर से नमस्कार करके ही आगे बढना चाहिये, नमस्कार किये बिना आगे नही जाना चाहिये। मंदिरजी में इधर-उधर गमन करते जितनी बार प्रतिमाजी दिखाई पडे उतनी बार दोनों हाथ जोड मस्तक से लगाकर नमस्कार करना चाहिये। यदि स्वयं सवारी पर आये हों तो जब से जिनमंदिर दिखाई देने लग जावे वहां से सवारी से उतरकर पैदल चलना चाहिये, ऐसा नहीं कि सवारी पर चढे-चढे ही मंदिर तक चले जावें। इसमें बहुत अविनय है, अविनय ही महापाप है तथा विनय ही धर्म है। देव, धर्म, गुरु के अविनय से बडा अथवा कुदेव आदि के विनय से बडा पाप तीन लोक में नहीं है न होगा।

उसीप्रकार इससे उल्टा सच्चे देव, धर्म, गुरु के विनय से बडा तथा कुदेव आदि की अवहेलना-अवज्ञा से बडा धर्म तीन लोक में न हुआ न होगा। अत: देव, धर्म, गुरु के अविनय का विशेष भय रखना चाहिये, यदि उसमें भूल हुई तो कहीं ठिकाना नहीं है। बहुत क्या शिक्षा दें, एक करोड उपवास का फल जितना फल एक दिन जिनमंदिर के दर्शन का होता है। करोडों उपवास करने के बराबर फल एक दिन पूजन का होता है। अत: जो निकट भव्य हैं वे नित्य श्रीजी का दर्शन पूजन करें।

दर्शन किये बिना कदापि भोजन करना उचित नहीं। दर्शन किये बिना कोई मूढ, शठ, अज्ञानी भोजन करता है तो उसका मुख पाखाने (लैटरिन) के बराबर अथवा सर्प के बिल बराबर है। जिव्हा है वह सर्पिणी है, मुख है वह बिल है तथा यदि कुभेषी, कुलिंगी जिनमंदिर में रहते हों तो उस मंदिर में भूल कर भी नहीं जाना चाहिये। वहां जाने से श्रद्धा रूपी रत्न जाता रहता है। वहां जिनदेव आदि का विशेष अविनय

होता है तथा अविनय देखने से महापाप उत्पन्न होता है । जहां कुभेषी रहते हों वहां श्रीजी के विनय का अभाव है । शुभ फल तो एक श्रीजी का विनय का ही है । एक बार ही विनय पूर्वक श्रीजी के दर्शन करने से महापुण्य बंध होता है तथा अविनय सहित बार-बार दर्शन करे तो भी त्यों-त्यों बहुत पाप उत्पन्न होता है।

अपने माता-पिता का कोई दुष्ट पुरुष अविनय करता हो तो यदि स्वयं में सामर्थ्य हो तो उसका निग्रह करके माता-पिता को छुडा ले तो उसने अपने माता-पिता का विशेष विनय किया तथा यदि सामर्थ्य न हो तो उस मार्ग में न जावे तथा उसका बहुत खेद रहे । उसीप्रकार श्री वीतराग देव के जिनबिम्ब का कोई दुष्ट पुरुष अविनय कर रहा हो तो उसका निग्रह करके जिनबिम्ब का विशेष विनय करना चाहिये तथा यदि सामर्थ्य न हो तो उनके अविनय के स्थान पर न जावे ।

कुभेषियों का संसर्ग भी नहीं करना :- जहां कुभेषी रहते हैं वहां अत्यन्त घोर अनेक तरह के पाप होते हैं । वहां जाने (रहने) वाले कुभेषियों के गृहस्थ शिष्य भी उनके उपदेश से पापी तथा उन जैसे ही होते हैं तथा अज्ञानी, मूढ, तीव्र कषायी, वज्र मिथ्यात्वी होते हैं, अत: उनका संसर्ग दूर से ही त्यागने योग्य है । यदि पहले अल्प मिथ्यात्व (अगृहीत मिथ्यात्व मात्र), कषाय हो तो वहां जाने पर उल्टे तीव्र हो जाने से धर्म कहां से होगा ?

धर्म के लुटेरों के पास से जो पुरुष किसी भी प्रकार धर्म चाहे तो वह अवश्य पागल ही हो गया है । जैसे सर्प को दूध पिलाकर कोई उसके मुख से अमृत चाहे तो अमृत की प्राप्ति कैसे हो सकेगी, विष ही की प्राप्ति होगी । उसीप्रकार कुभेषियों के संसर्ग से अधर्म की ही प्राप्ति होती है । वे धर्म के निंदक हैं, परम बैरी हैं, अधर्म का पोषण करने वाले हैं, मिथ्यात्व के सहायक हैं । यदि अंश मात्र भी प्रतिमाजी का अविनय करता है तो उसकी होनहार क्या है यह हम तो नहीं जानते सर्वज्ञ ही जानते हैं ।

प्रतिमाजी की विनय :– प्रतिमाजी के केसर, चन्दन आदि लगाना अयोग्य है, उसका नाम विलेपन है, जिसका अनेक शास्त्रों में निषेध किया है । कोई भवानी, भैरव आदि कुदेवों की मूर्ति अपने सम्मुख स्थापित कर उसकी पूजा करे, नमस्कार करे, तथा श्रीजी की प्रतिमा का विचार (आदर) नहीं करे, ऊंचे सिंहासन पर बैठा कर जगत से स्वयं को पुजवाये, मालियों (एक स्पर्श शूद्र जाति विशेष) से अनछना जल मंगाकर मैले वस्त्र से प्रतिमाजी का प्रक्षाल करें तथा जितने स्त्री-पुरुष आवें वे सब विषय-कषाय की वार्ता करते रहें, धर्म का तो लेष मात्र काम नहीं, इत्यादि अविनय का कहां तक वर्णन करें ? पहले वर्णन किया ही है तथा प्रत्यक्ष देखने में आरहा है, उसको क्या लिखना ?

सुभौम चक्रवर्ती एवं हनुमानजी की माता (अंजना ने पूर्व भव में) एवं श्रेणिक महाराजा ने नमोकार मंत्र का, प्रतिमाजी का, निर्ग्रन्थ गुरु का तनिक अविनय किया था जिससे उनको कैसा पाप उत्पन्न हुआ ? तथा मैढक एवं शूद्र माली की लडकी ने, जो श्री जी के मंदिर की देहली पर पुष्प चढाते थे अथवा चढाने का अल्प सा भाव किया था, स्वर्ग पद पाया। जिनधर्म का प्रभाव महा अलौकिक है, अत: प्रतिमाजी, शास्त्रजी, निग्रन्थ गु रु की अविनय का विशेष भय रखना चाहिये।

यहां कोई प्रश्न करे – प्रतिमाजी तो अचेतन है, उसे पूजने से क्या फल निकलेगा ?

उसका समाधान – हे भाई ! मंत्र-तंत्र-यंत्र-औषध-चिन्तामणि रत्न-कामधेनु-चित्राबेल-पारस-कल्पवृक्ष अचेतन हैं, क्या वे मनवांछित फल नहीं देते हैं ? तथा चित्र में बनी स्त्री काम भाव जगाने में कारण होती है जिसका फल नरक निगोद लगता है । उसीप्रकार प्रतिमाजी जो निराकार, शान्त मुद्रा, ध्यान अवस्था को धारण किये हैं उसका दर्शन करने से या पूजन करने से मोह कर्म गलता है, राग-द्वेष भाव दूर होते हैं तथा ध्यान का स्वरूप जाना जाता है । तीर्थंकर देव अथवा सामान्य केवली की छवि

याद आती है तथा उसे देखने से ज्ञान-वैराग्य में वृद्धि होती है । ज्ञान-वैराग्य ही निश्चय मोक्षमार्ग है ।

शास्त्र की विनय :- शास्त्र हैं वे भी अचेतन हैं; किन्तु इनके अवलोकन (स्वाध्याय से) प्रत्यक्ष ज्ञान-वैराग्य की वृद्धि होती देखी जाती है । जितने भी धर्म के अंग हैं वे सब शास्त्र से ही जाने जाते हैं, जानने पर हेय वस्तु का त्याग सहज ही होता है, उपादेय वस्तु का ग्रहण सहज ही रह जाता है । इन्हीं परिणामों से मोक्षमार्ग सधता है एवं मोक्षमार्ग से निर्वाण की प्राप्ति होती है । अत: यह बात सिद्ध हुई कि इष्ट अनिष्ट फल के लिये कारण शुद्ध अशुद्ध परिणाम ही हैं । शुद्ध-अशुद्ध परिणामों के लिये कारण अनेक प्रकार के ज्ञेय पदार्थ हैं । कारण के बिना तीन काल में भी कार्य की सिद्धि नहीं होती, जैसा कारण मिलता है वैसा ही कार्य होता है । अत: प्रतिमाजी का पूजन-स्मरण, ध्यान, अभिषेक आदि उत्सव परम महिमा सहित विशेष रूप से करना योग्य है । जो कोई मूर्ख, अज्ञानी अवज्ञा करता है वह अनन्त संसार में भ्रमण करता है ।

चार निकाय के देवों का तो मुख्य धर्म श्रीजी की पूजा करना ही है । अत: मेरा भी सर्व प्रकार से बारंबार त्रिलोक के जिनबिम्बों को नमस्कार हो, भव-भव में मुझे इन्हीं की शरण हो, इन्हीं की सेवा प्राप्त हो । इनकी सेवा के बिना एक समय भी न जावे । मैने तो अनादि काल से संसार में भ्रमण करते महाभाग्य के उदय से, काल लब्धि के योग से यह निधि पाई है । जैसे दीर्घ काल का दरिद्र चिन्तामणि रत्न पाकर सुखी होता है वैसे ही मैं श्री जिनधर्म पाकर सुखी हुआ हूं । अब मोक्ष प्राप्ति तक यह जिनधर्म मेरे हृदय में एक समय मात्र भी अन्तर पडे बिना सदैव रहे । मेरी यह प्रार्थना श्री जिनबिम्ब पूर्ण करें । बहुत क्या प्रार्थना करूं, दयालु पुरुष थोडी प्रार्थना को ही बहुत मानते हैं ।

इति जिन-दर्शन संपूर्णम्

—●—

सप्तम अधिकार : सामायिक का स्वरूप

आगे अपने इष्ट देव को विनय पूर्वक नमस्कार करके सामायिक के स्वरूप का निरूपण करते हैं, उसे हे भव्य जीव ! तू सुन –

दोहा – **साम्यभाव युत वंदिकैतत्त्व प्रकाशन सार ।**
वे गुरु मम हिरदै वसौ, भवदधि–तारनहार ।।

सामायिक नाम साम्य भाव का है । सामायिक कहो, साम्य भाव कहो, शुद्धोपयोग कहो, वीतराग भाव कहो अथवा नि:कषाय भाव कहो अथवा इन सब को एक ही कार्य कहो । ये सब तो कार्य हैं तथा कार्य सिद्धि के लिये बाह्य क्रिया साधन कारणभूत हैं । कारण के बिना कार्य की सिद्धि नहीं होती । अत: बाह्य कारणों का संयोग करना अवश्य योग्य है । वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चार प्रकार से है ।

द्रव्य शुद्धि :– द्रव्य में तो श्रावक एक लंगोट तथा छोटे पहने (चौडाई) की तीन अथवा साडे तीन हाथ की धोती तथा मोर–पिच्छी रखे तथा शीतकाल आदि में शीत का परिषह नंगे शरीर से न सहा जावे तो एक बडे मोटे श्वेत वस्त्र से शरीर ढंक जावे उतना पास रखे, इससे अधिक परिग्रह न रखे तथा चौकी, पाटे अथवा शुद्ध भूमि पर स्थित होकर सामायिक करे, इतने परिग्रह से अधिक परिग्रह नहीं रखे ।

क्षेत्र शुद्धि :– जिस क्षेत्र में विशेष कोलाहल न हो तथा स्त्री–पुरुष–तिर्यंच आदि का गमन न हो, पास–पडोस में भी मनुष्यों का शब्द न हो, ऐसे एकान्त निर्जन स्थान अथवा अपने घर अथवा जिनमंदिर अथवा सामान्य भूमि, वन, गुफा, पर्वत के शिखर आदि शुद्ध क्षेत्र में सामायिक करे । इसप्रकार क्षेत्र का प्रमाण कर ले कि जिस क्षेत्र में स्थित हुआ हो यह क्षेत्र उठने, बैठने, नमस्कार करने में दसों दिशायें स्पर्श में आवे, इतना

क्षेत्र बहुत है । इस अपने प्रमाण से अधिक क्षेत्र का सामायिक के काल पर्यन्त के लिये त्याग करे ।

काल शुद्धि :– जघन्य दो घडी (48 मिनिट), मध्यम चार घडी, उत्कृष्ट छह घडी का प्रमाण करे । सुबह दिन उगने से एक घडी (24 मिनिट) पहले से एक घडी बाद तक अथवा मध्यम सामायिक में दिन उगने से दो घडी पहले से लेकर दो घडी बाद तक अथवा उत्कृष्ट सामायिक में दिन उगने से तीन घडी पहले से तीन घडी बाद तक सामायिक का काल है । इस ही प्रकार मध्यान्ह में एक घडी पहले से एक घडी बाद तक अथवा दो घडी पहले से दो घडी बाद तक अथवा तीन घडी पहले से तीन घडी बाद तक मध्यान्ह की सामायिक का काल है ।

इसीप्रकार संध्या के समय दिन एक घडी बाकी रहे तब से एक घडी रात हो जाने तक अथवा दिन दो घडी बाकी रहे तब से दो घडी रात हो जाने तक अथवा दिन तीन घंडी बाकी रहे तब से तीन घडी रात हो जाने तक संध्या की सामायिक का काल है । जितने काल सामायिक करने की प्रतिज्ञा की हो उससे भी कुछ अधिक काल तक जब तक मन निश्चल रहे, बीतने के बाद सामायिक से उठें।

भाव शुद्धि :– भावों में आर्त, रौद्र ध्यान को छोडकर धर्म ध्यान को ध्यावे ।

इसप्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की शुद्धता जानना ।

आसन शुद्धि :– पद्मासन अथवा कायोत्सर्ग आसन रखे । अंगों को न हिलावे, इधर-उधर देखे नहीं, अंगों को मोडे नहीं, अंगों का हलन-चलन न हो, घूमें नहीं, नींद न लें, शीघ्रता से न बोलें, शब्दों को इसप्रकार धीरे-धीरे उच्चारण करे कि अपना शब्द स्वयं ही सुने दूसरा कोई न सुने। अन्यों के शब्द भी स्वयं राग-भाव से न सुने, अन्यों को राग-भाव से देखे भी नहीं, अंगुलियां न चटकावे, इत्यादि शरीर की प्रमाद क्रियाओं का त्याग करे । सामायिक काल में मौन रखे अथवा जिनवाणी के अतिरिक्त

अन्य कुछ न पढ़ें। सामायिक विशेष विनय पूर्वक करे। आगे भी सामायिक करने का उत्साह बना रहे, सामायिक करने के बाद पछतावा न हो कि दो, चार, घडी का काल निरर्थक गया, इसमें कोई दो, चार घर गृह-स्थापना (गृहस्थीपने) के कार्य हो सकते थे, जिनसे कुछ अर्थ (धन) की सिद्धि होती, उसप्रकार के भाव न आवें। ऐसे भाव भी न आवें कि मैं अभी यों ही उठ गया, मेरे परिणाम तो बहुत अच्छे थे, यदि इसीप्रकार रहता तो विशेष रूप से कर्मो की निर्जरा होती। सामायिक में पंच परमगुरुओं को दो बार पंचांग नमस्कार करे, बारह आवर्त सहित चार शिरोनत्ति करे, नौ बार णमोकार मंत्र पढे, इतने काल बाद एक बार खडा होकर कायोत्सर्ग करे। नमस्कार तो सामायिक के आदि तथा अन्त में करे।

भावार्थ :– चार शिरोनत्ति, बारह आवर्त सहित एक कायोत्सर्ग ये तीन क्रियायें श्रावक सामायिक के बीचं में करता है, उसका विस्तार - सामायिक के पाठ की चौबीस (24) संस्कृत-प्राकृत पाटी है, उनमें जैसा विधान है वह उन में देख लेना। सामायिक करते समय प्रभात की सामायिक में बैठते समय पहले रात्रि में निद्रा, कुशील आदि क्रिया करते जो पाप उत्पन्न हुये थे उनसे निर्वृति के लिये श्री अरिहन्त देव से क्षमा मांगें। स्वयं निंदा करे कि मैं बहुत पापी हूं, मुझसे ये पाप छूटता नहीं, वह समय कब आवेगा जब मैं इनका त्याग कर सकूंगा। इनका फल तो अत्यन्त कडुआ है, हे जीव! तू इसे कैसे भोगेगा ? यहां तो तनिक-सी वेदना सहने में असमर्थ है, तो परभव में नरक आदि के घोर दुःख, तीव्र वेदना दीर्घकाल तक कैसे सहेगा ? पर्याय छूट जाने पर जीव का नाश तो होता नहीं, वह तो अनादि-निधन अविनाशी है, अतः परलोक का दुःख अवश्य ही भोगना पडेगा।

परलोक गमन कैसा है ? जैसे ग्राम से ग्रामान्तर, क्षेत्र से क्षेत्रान्तर, देश से देशान्तर किसी प्रयोजन वश गमन करे, सो जिस क्षेत्र को छोडा वहां तो उस जीव का अस्तित्व रहा नहीं तथा जिस क्षेत्र में पहुंचा, वहां

तो उस जीव का अस्तित्व ज्यों का त्यों है, अत: उस (जिस क्षेत्र को छोडा है) को उस पुरुष का क्षेत्र तो माना नहीं जा सकता तथा जिस क्षेत्र को जा प्राप्त हुआ, वहां उसका उत्पाद नहीं कहा जा सकता, केवल पर्याय का पलटना ही है । पिछले क्षेत्र में तो बालक था इस क्षेत्र में वृद्ध हुआ अथवा पूर्व में दु:खी था अब सुखी हुआ अथवा पूर्व में सुखी था अब दु:खी हुआ। इसप्रकार परभव की पर्याय का स्वरूप जानना । पहले मनुष्य क्षेत्र में था फिर नरक की दु:खदायी पर्याय हो गयी अथवा पूर्व में मनुष्य भव में दु:खी था अब देव पर्याय में सुखी हुआ । इसप्रकार भव-भव में अनेक पर्यायों की परिणति जानना । जीव तो सदा शाश्वत है, अत: हे जीव! ये पाप कार्य छोडे तो भला है । इसप्रकार पश्चाताप करता हुआ दोनों हाथ जोडकर मस्तक से लगाकर श्रीजी को परोक्ष नमस्कार कर इसप्रकार प्रार्थना करता है।

सामायिक में भगवान से प्रार्थना :- हे भगवान ! मेरे ये पाप निर्वृत करें, आप परम दयालु हैं, अत: मेरे अवगुणों पर ध्यान नहीं दें, मुझे दीन, अनाथ जानकर क्षमा करें तथा मेरा जिसप्रकार भी हो सके भला ही करें । हे जिनेन्द्र देव ! मेरे पर अनुग्रह करें, पाप-मल को दूर करें । आपके अनुग्रह बिना पाप-पर्वत नष्ट नहीं होगा, मुझ पर विशेष कृपादृष्टि कर मेरे समस्त पापों का क्षय करें । इसप्रकार पूर्व के पापों को हल्का कर, जीर्ण कर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव (जिनका स्वरूप पहले कह चुके हैं) बांध कर, उस अनुसार उन्हें प्रतिज्ञा पूर्वक त्याग कर पूर्व दिशा में अथवा उत्तर दिशा में मुख कर पीछी से भूमि का शोधन कर पंच परम गुरु को नमस्कार कर पद्मासन अथवा पालथी मांड कर बैठ जावें। पश्चात् तत्त्वों का चिन्तवन करें, आपा-पर (स्व-पर) का भेद विज्ञान करे, निज स्वरूप का भेदरूप अथवा अभेद रूप अनुभवन करें, अथवा संसार का स्वरूप दु:ख रूप है ऐसा विचार करें। संसार से भयभीत होकर बहुत वैराग्य दशा आदरे तथा मोक्ष के उपाय का चिन्तवन करें। संसार के दु:खों से निर्वृत्ति

चाहते हुये पंच परम गुरु का स्मरण करें। उनके गुणों की बारंबार अनुमोदना करें, गुणगान गावें, उनके स्तोत्र पढ़ें अथवा आत्मा का ध्यान करें अथवा वैराग्य का विशेष विचार करें।

मेरा क्या होगा ? मैं इस घनघोर संसार के महादु:खों से कब छूटूंगा। वह समय मेरे लिये कब आवेगा जब दिगम्बर दशा धारण कर, परिग्रह की गठरी उतार कर बनवासी होकर दूसरों के घर आहार लूंगा। बाईस परिषह सहूंगा (को जय करूंगा), दुर्द्धर तप करूंगा, मोह-वज्र का नाश कर पंचाचार आचरूंगा तथा अपने निज स्वरूप का अनुभव करूंगा। उसके अतिशय से वीतराग भाव की वृद्धि होगी, मोह कर्म नष्ट होगा, घातिया कर्म शिथिल होकर क्षय होंगे। अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्त वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय प्रकट होगा तथा मैं सिद्धों के समान लोकालोक को देखने-जानने वाला हो जाऊंगा। अनन्तसुख, अनन्तवीर्य के पुंज, कर्म-कलंक से रहित महा निराकुल, आनन्दमय सर्व दु:खों से रहित कब होऊंगा।

कहां तो मेरी (स्वभाव रूप) यह दशा तथा कहां नरक-निगोद आदि महापाप की मूर्ति, महादु:ख मयी आकुलता का पुंज, नाना पर्यायों को धारण करने वाली दशा। मैने जिनधर्म के अनुग्रह के बिना अनादि काल से अब तक सिंह, सर्प, कौआ, कुत्ता, चिडिया, कबूतर, चींटी, मकडी आदि महा अनिष्ट सर्व पर्यायों को धारण किया है। एक-एक पर्याय अनन्त बार धारण की तो भी जिनधर्म के बिना संसार दु:खों का अब तक अन्त आया नहीं। अब किसी महाभाग्य के उदय से यह सर्वश्रेष्ट महारसायन, अद्वैत अपूर्व श्रीजिनधर्म पाया है उसकी महिमा कौन कह सकता है ?

या तो मैं ही जानता हूं या सर्वज्ञ ही जानते हैं। अत: यह वीतराग प्रणीत जिनधर्म जयवन्त प्रवर्ते, फूलेफले, वृद्धि को प्राप्त हो, मुझे संसार समुद्र से निकाले। बहुत क्या प्रार्थना करूं ? ऐसे चिन्तवन सहित सामायिक

का काल पूर्ण करे । किसी प्रकार का राग-द्वेष नहीं रखे। स्व-पर की सम्हाल करके यह चिन्मूर्ति, साक्षात् सबको देखने-जानने द्वारा ज्ञाता-दृष्टा, अमूर्तिक, आनन्दमय, सुख का पुंज,असंख्यात प्रदेशी, तीन लोक प्रमाण, परद्रव्यों से भिन्न मैं अपने निज स्वभाव का कर्त्ता-भोक्ता, परद्रव्यों का अकर्त्ता, ऐसा मेरा स्वसंवेदन रूप है जिसकी क्या-क्या महिमा कहूँ ?

यह जीव तीन लोक में भी पुद्गल द्रव्य पिंड का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है । मोह के उदय के कारण भ्रम-बुद्धि से झूंठ ही उस पुद्गल पिंड को अपना मान रखा है, जिसके कारण भव-भव में नरकादि में परम क्लेश प्राप्त करता है । अत: मैं अब सर्वप्रकार से शरीर आदि पर-वस्तुओं का ममत्व छोडता हूँ । यह पुद्गल द्रव्य चाहे जैसे परिणमें मुझे इससे राग-द्वेष नहीं है । यह पुद्गल द्रव्य का प्रसार है वह चाहे छीजे (कम हो) चाहे भीजे, चाहे प्रलय को प्राप्त हो, चाहे एकत्रित हो, मैं इसका गुलाम नहीं हूँ । इसके योग से मेरे ज्ञानानन्द की वृद्धि नहीं होती, ज्ञानानन्द तो मेरा निज स्वभाव है, जो तो उल्टा पर-द्रव्य के निमित्त से घाता गया है । ज्यों-ज्यों पर-द्रव्य के निमित्त से निर्वृत होती है त्यों-त्यों ज्ञानानन्द की वृद्धि होती है जो प्रत्यक्ष अनुभव में आती है ।

अत: व्यवहार से तो घातिया कर्मो का चतुष्टय ही मेरा परम बैरी है तथा निश्चय से तो मेरा अज्ञान भाव ही मेरा परम बैरी है । अथवा मैं ही मेरा बैरी हूं तथा मैं ही मेरा मित्र हूं । अज्ञान भाव से मैने जो कुछ किया है उसके कारण वैसा ही आकुलतामय फल उत्पन्न हुआ है । नरक में परम दु:खी हुआ, उस दु:ख की बात किससे कहूँ ? सर्व जगत के जीव मोह भ्रम रूप परिणम रहे हैं, भ्रम के कारण अनादि काल से अत्यन्त प्रचुर परम दु:ख पाते हैं । मैं भी उन्हीं के साथ अनादि काल से ऐसा ही दु:ख पाता था, अब किसी महा परमयोग से श्री अरिहन्त देव के अनुग्रह तथा जिनवाणी के प्रताप से मुनि महाराज आदि परम धर्मात्मा, दयालु पुरुषों का मिलाप हुआ है तथा उनके वचन रूप अमृत का पान किया है ।

उनके अतिशय से मोह ज्वर मिटा, कषाय की आताप मिटी, परिणाम शान्त हुये, काम पिशाच भागा, इन्द्रियों रूप मछलियां ज्ञान जाल में पकडी गयीं, पांच अव्रतों का विध्वंस हुआ तथा संयम भाव से मेरा आत्मा ठंडा हुआ है । सम्यग्दर्शन-ज्ञान रूप नेत्रों से साक्षात मोक्षमार्ग देखने में आया है । अब मैं धीरे अथवा शीघ्रता से मोक्ष-मार्ग में गमन करने लगा हूँ। मोह की सेना लुटती जा रही है, घातिया कर्मो का जोर मिटता जा रहा है, मेरी ज्ञान ज्योति प्रकट होती जा रही है । मेरे अमूर्तिक असंख्यात प्रदेशों पर से कर्म-रज झडती-गिरती-गलती जा रही है, जिससे मेरा स्वभाव, आत्मा उज्जवल होता जा रहा है । अब मैं चारित्र ग्रहण करके मोह कर्म का शीघ्र ही निपात करूंगा, मोह पर्वत को चूर करूंगा ऐसा मेरा परम उत्साह वर्तता है ।

केवलज्ञान लक्ष्मी को देखने की अत्यन्त अभिलाषा, (चाह) वर्त रही है । मेरा यह मनोरथ कब सिद्ध होगा ? तथा मेरा यह आत्मा (मैं) इस शरीर रूपी बंदीग्रह से छूटकर अनन्त चतुष्टय संयुक्त तीन लोक के अग्रभाग में सिद्ध भगवन्तों के कुटुम्ब में जा स्थित होगा तथा लोकालोक सम्बन्धी द्रव्य-गुण-पर्याय सहित समस्त द्रव्य पदार्थो का एक समय में अवलोकन करेगा, मेरी ऐसी दशा कब होगी ? मैं ऐसे परम ज्योति मय स्व-द्रव्य को देख लिया है अन्य किस को देखूं ?

समस्त ज्ञेय पदार्थ जड के पिंड हैं, उनसे मेरी क्या मित्रता, उनसे क्या प्रयोजन ? जैसे की संगति होती है वैसा ही फल लगता है। जड से एकत्व किया था सो उसने मुझे भी जड कर डाला । कहाँ तो मेरा केवलज्ञान स्वभाव और कहाँ एक अक्षर के अनन्तवें भाग ज्ञान तथा कहाँ नरक पर्याय के सागरों पर्यन्त आकुलता सहित दुःख तथा कहाँ वीर्यान्तराय का नाश होने पर केवलज्ञान दशा में अनन्तवीर्य का पराक्रम, अनन्तानन्त को उठा लेने जैसी सामर्थ्य ?

कुछ पर्यायों की शक्ति तो रुई के तार के अग्रभाग के असंख्यातवें भाग सूक्ष्म एकेन्द्रिय के शरीर रूप है जो इन्द्रिय गोचर भी नहीं तथा जो

(वह सूक्ष्म एकेन्द्रिय शरीर) वज्र आदि पदार्थो में भी अटकता नहीं है, न अग्नि से जलता, न पानी में गलता, इन्द्र महाराज के वज्र से भी नष्ट होने योग्य नहीं है, ऐसे सूक्ष्म शरीर को लेकर चल सकने ग्रहण करने की सामर्थ्य एकेन्द्रिय (लब्ध अपर्याप्तक) की नहीं है । इसी कारण इसका नाम स्थावर संज्ञा है।

दो इन्द्रिय आदि पंचेन्द्रिय पर्यन्त, ज्यों-ज्यों वीर्यान्तराय का क्षयोपशम अधिक होता है, वैसे-वैसे ही शक्ति प्रकट होती है । दो इन्द्रिय जीव अपने शरीर को लेकर चलता है, किंचित मात्र खाने की वस्तु मुख में लेकर भी चल सकता है । इस ही प्रकार सर्वार्थसिद्धि के देव, तीर्थंकर महाराज आदि ऋद्धि धारी मुनियों की शक्ति की अधिकता जानना तथा केवली भगवान के सम्पूर्ण वीर्य का पराक्रम जानना । जितना आकाश द्रव्य का प्रमाण है उतने रोमों का लोक हो तो, ऐसे बडे अनन्तानन्त लोक उठाने की सामर्थ्य तो सिद्ध भगवान की है तथा इतनी ही सामर्थ्य सर्व केवलियों में है । दोनों को ही वीर्यान्तराय का नाश होने से सम्पूर्ण सुख (बल) प्रकट हुआ है । मेरे स्वरूप की भी महिमा ऐसी ही है, वह मुझे प्रकट हो ।

मैने अज्ञानता में यह क्या अनर्थ किया ? कैसी-कैसी पर्यायें धारण करके परम दु:खी हुआ, अत: धिक्कार हो मेरी भूल को तथा मिथ्यात्वी लोगों की संगति को । धन्य है जिनधर्म को तथा पंच परम गुरु एवं श्रद्धानी पुरुष जिनके अनुग्रह से मैंने अपूर्व मोक्षमार्ग प्राप्त किया है । मोक्षमार्ग कैसा है ? स्वाधीन है, अत: अत्यन्त सुगम है । मैने तो महाकठिन जाना था, परन्तु श्री परमगुरु ने तो सुगम मार्ग बताया है । अब मुझे ऐसे मोक्षमार्ग में चलने में खेद नहीं होगा, भ्रम से ही खेद माना था । अहो परमगुरु ! आपकी महिमा, अनुमोदना कहां तक करूं ? मैंने मेरी महिमा को जो सिद्धों के समान है आपके निमित्त से ही जाना है ।

इति सामायिक स्वरूप सम्पूर्णम् ।

-●-

अष्टम अधिकार : स्वर्ग का वर्णन

आगे अपने इष्ट देव को विनय पूर्वक नमस्कार कर तथा गुण-स्तवन कर सामान्य रूप से स्वर्ग की महिमा का वर्णन करता हूं। उसे हे भव्य ! तू सावधान होकर सुन –

दोहा – **जिन चौबीसौं वंदि कै, वंदौ सारद माय।**
गुरु निर्ग्रन्थहि वंदि पुनि, ता सेवैं अघ जाय ।।
पुण्य कर्म विपाक तैं, भये देव सुर राय।
आनन्दमय क्रीडा करें, बहु विध भेष बनाय ।।
स्वर्ग संपदा लक्ष्मी, को कवि कहत बनाय।
गणधर भी जाने नहीं, जाने शिव जिनराय ।।

ऐसा विनयवान होकर शिष्य प्रश्न करता है, वह ही कहते हैं – हे स्वामी! कृपानाथ, दयानिधि, परम उपकारी, संसार समुद्र तारक, दयामूर्ति, हे कल्याण पुंज, आनन्द स्वरूप, तत्त्व ज्ञायक, मोक्ष-लक्ष्मी के अभिलाषी, संसार से परान्मुख, परम वीतराग, जगत बन्धु, छहों काय के पिता (संरक्षक), मोह विजयी, अशरण की शरण, स्वर्गों के सुख का स्वरूप बताने की कृपा करें।

शिष्य कैसा है ? परम विनयवान है, आत्म कल्याण का अर्थी है, संसार के दुःखों से भयभीत है, व्याकुल वचनों वाला है, उसका मन कंपायमान हुआ है अथवा कोमल हुआ है, ऐसा होता हुआ श्री गुरु की प्रदक्षिणा देकर, दोनों हाथ जोडकर, मस्तक से लगाकर श्री गुरु के चरणों में बारंबार नमस्कार कर, उनके चरणों में मस्तक रखकर तथा उनके चरणों की रज मस्तक से लगाकर अपने को धन्य मानता है, कृतकृत्य मानता है, विनय पूर्वक हाथ जोडकर सन्मुख खडा है तथा अवसर पाकर श्री गुरु से

बारम्बार दीनता के वचन कह कर उनसे स्वर्गों के सुख का स्वरूप पूछता है । शिष्य और कैसा है ? अत्यन्त पुण्य के फल को जानने की उसकी अभिलाषा है ।

ऐसा प्रश्न होने पर श्रीगुरु अमृत वचनों में कहते हैं । कैसे हैं वे परम निर्ग्रन्थ वनवासी ? उनका चित्त दया से भीगा है । वे इसप्रकार कहने लगे – हे पुत्र ! हे भव्य ! हे सरल चित्त ! तुमने बहुत अच्छा प्रश्न किया है, बहुत भला किया। अब तू सावधान होकर सुन, मैं तुझे जिनवाणी के अनुसार कहता हूं ।

यह जीव जिनधर्म के प्रभाव से स्वर्गों में जाकर उत्पन्न होता है। यहां की पर्याय का नाश कर अन्तर्मुहूर्त काल में वहां उत्पन्न हो जाता है । जैसे मेघ पटल का विघटन होते ही दैदिप्यमान सूर्य बादलों के बाहर निकलता है, वैसे ही उपपाद शैय्या का पटल दूर होते ही वह पुण्याधिकारी सम्पूर्ण कला संयुक्त, ज्योति का पुंज, आनन्द, सौम्यमूर्ति, सबको प्यारा, सुन्दर देव (उपपाद शय्या पर) उत्पन्न होता है। जैसे बारह वर्ष का राजहंस (राजा का बेटा) महा मूल्यवान आभूषण पहने निद्रा से जाग उठा हो ।

वह देव कैसा है ? छहों पर्याप्तियां पूर्णकर शरीर की कांति सहित, रत्नमय आभूषण-वस्त्र पहने सूर्य के समान उदित होता है । अनेक प्रकार के वैभव देखकर विस्मय सहित दसों दिशाओं को देखता है। मन में यह विचार करता है कि मैं कौन हूँ, कहां था, कहां से आया हूँ, यह स्थान कौन सा है ? ये अपूर्व एवं रमणीक, अलौकिक, मन रमने योग्य, अद्भुत सुख का निवास, ऐसा अद्भुत यह कौन सा स्थान है ? यहां रत्नों की ज्योति से जगमगाता उद्योत हो रहा है, यह मेरा देव जैसा सुन्दर आकार किस कारण हुआ है ? जहां-तहां सुन्दर तथा मन को मनोज्ञ देवियों जैसी दिखने वाली ये कौन हैं, जो बिना बुलाये ही आकर मेरी स्तुति कर रही हैं। नम्र होकर नमस्कार विनयपूर्वक मीठे वचन बोल रही हैं, ये कौन हैं ? यह संदेह कैसे मिटे ? ऐसी सामग्री कदाचित सच भी हो सकती है ?

ये स्त्री-पुरुष कैसे हैं ? इनका मुख गुलाब के फूल जैसा है, इनकी सौम्य मूर्ति चन्द्रमा के सदृश्य है। इनका प्रताप सूर्य के सदृश्य है,अद्भुत लावण्य लिये हैं । सभी की एकाग्र दृष्टि मुझ पर है, मुझे पति के समान मानती हुई हाथ जोडे खडी है तथा अमृतमय, मीठे, कोमल, विनय सहित मेरे मन के अनुसार वचन बोल रही हैं। इनकी महिमा का क्या कहना ? धन्य है यह स्थान तथा धन्य है इन जैसे स्त्री-पुरुष, धन्य है इनका रूप, धन्य है इनका विनय गुण, सौजन्यता तथा वात्सल्य गुण ।

वे स्त्री-पुरुष कैसे हैं ? पुरुष तो सब कामदेव के सदृश्य हैं तथा स्त्रियां इन्द्राणियों के समान हैं । इनके शरीर की सुगन्ध से सर्वत्र सुगन्ध फैल रही है । इनके शरीर के प्रकाश से सर्व ओर प्रकाश फैल रहा है । जहां-तहां रत्न-माणिक-पन्ना-हीरा-चिन्तामणि रत्न, पारस, कामधेनु, चित्राबेल, कल्पवृक्ष इत्यादि अमूल्य अपूर्व निधियों के समूह ही दिखते हैं। अनेक प्रकार के मांगलिक वाध्य यंत्र बज रहे हैं । कोई गा रहा है, कोई ताल-मृदंग बजाता है, कोई नृत्य करता है, कोई अद्भुत कौतुहल करता है । कोई देवांगनायें रत्नों को चूर कर मांगलिक स्वस्तिक पूर (बना) रहीं हैं । कोई उत्सव जैसा कर रही हैं । कोई यश गाते हैं, कोई धर्म की महिमा गाता है, कोई धर्म के उत्सव कर रहा है, यह बडा आश्चर्य है ।

ये क्या हैं मैं क्या जानूं ? ऐसी आनन्दकारी अद्भुत चेष्टायें मैने पूर्व में कभी देखी नहीं, मानों यह परमेश्वरपुरी है अथवा परमेश्वर का निवास है अथवा यह मात्र स्वप्न ही है अथवा मुझे भ्रम उत्पन्न हुआ है अथवा कोई इन्द्रजाल है । ऐसा विचार करते-करते उस पुण्याधिकारी देवता के सर्व आत्म प्रदेशों में शीघ्र ही अवधिज्ञान स्फुरायमान हो जाता है। उसके होने पर वह (देव) निश्चय से अपने पूर्व भव को देखता है तथा उसे (पूर्व भव को) देखने पर सारा भ्रम नष्ट हो जाता है । तब फिर ऐसा विचार करता है – मैनें पूर्व भव में जिनधर्म का सेवन किया था, उसका यह फल है, न स्वप्न है न ही भ्रम है, न ही इन्द्रजाल है । मेरे मृत शरीर को ले जाकर

प्रत्यक्ष मेरे कुटुम्ब परिवार श्मशान भूमि में जला रहे हैं; ऐसा नि:संदेह है इसमें संदेह नहीं ।

वे देव-देवांगना कैसे हैं , कैसा वैभव है तथा कैसा मंगलाचरण करते हैं ? यहां जन्म कैसे (क्यों) हुआ है यह जान जाता है तथा शीघ्र ही (वहां पहले से उपस्थित देव) उत्साह पूर्वक आते हुये ऐसे वचन कहते हैं – जय जय स्वामी ! जय जय नाथ ! जय प्रभो ! आप जयवन्त प्रवर्तें, आनन्द में वृद्धि हो। आज की घडी धन्य है कि आपका जन्म हुआ, हम इतने दिन अनाथ थे अब सनाथ हुये। अब हम आपका दर्शन पाकर कृतकृत्य हुये। हे प्रभो ! यह संपदा आपकी, राज्य आपका, यह विमान आपका, ये देवांगनाओं का समूह आपका है । ये हाथी आपका, ये चमर आपके हैं, ये सारा रत्नों के समूह का ढेर आपका है । यह सात जाति की सेना अथवा उनचास (49) जाति की सेना आपकी है । ये रत्नमयी महल आपका है, ये दस जाति के देव आपके हैं, ये मखमली बिछायत आपकी है, ये रत्नों से भरे रत्नमयी मंदिर आपके हैं तथा हे नाथ ! हे प्रभु ! हम आपके दास हैं, आप हमें आज्ञा करें वही हमें स्वीकार है ।

हे प्रभो ! हे नाथ ! हे स्वामिन ! हे दयामूर्ति ! हे कल्याण पुंज ! आपने पहले क्या पुण्य किया था, कैसी षटकाय जीवों की दया पाली थी अथवा कौन प्रकार ठीक से श्रद्धान किया था तथा कौन से अणुव्रत अथवा महाव्रत पाले थे ? कैसे शास्त्राभ्यास किया था अथवा एकलविहारी होकर तपश्चरण किया था। बाईस परिषह सहे (जीते) थे अथवा जिनगुणों में अनुरक्त हुये थे अथवा जिनवाणी सर पर रखी थी (जिनवचनों के अनुसार श्रद्धान-ज्ञान-आचरण किया था) इत्यादि।

जिनप्रणीत जिनधर्म के बहुत अंगों का आचरण किया था, जिसके प्रसाद से आप हमारे नाथ होकर अवतरित हुये हैं ? हे प्रभो ! यह स्वर्ग स्थान है जो आपके पुण्य का फल है । हम देव-देवांगनाये हैं तथा आपने उस मनुष्य लोक से जिनधर्म के प्रभाव से देव पर्याय प्राप्त की है, इसमें

संदेह न करें । हम क्या सेवा करें, आपने भी अवधिज्ञान से सारा वृतांत जान ही लिया है । धन्य है आपकी अपूर्व बुद्धि ! धन्य है आपका मनुष्य भव, जिसमें आपने संसार को असार जानकर निज आत्म कल्याण के लिये जिनधर्म की आराधना की तथा यह फल पाया है ।

जिन धर्म की महिमा :– धन्य है जिनधर्म जिसके प्रसाद से सर्वोत्कृष्ट वस्तु भी प्राप्त हो जाती है । जिनधर्म के अतिरिक्त संसार में अन्य कोई भी सार पदार्थ नहीं है । ससांर में जितना भी सुख है वह एक जिनधर्म से ही प्राप्त होता है, अत: जिनधर्म ही एक कल्याण रूप है, उसकी महिमा वचन अगोचर है । हजारों जिह्वाओं से सुरेन्द्र भी जिनधर्म की महिमा कहने का पार नहीं पाते हैं, तो इसमें क्या आश्चर्य है ।

जिनधर्म का फल तो सर्वोत्कृष्ट मोक्ष की प्राप्ति है, जहां अनन्त काल तक अविनाशी, अतिन्द्रिय, बाधा रहित, अनुपम, निराकुल, स्वाधीन, संपूर्ण सुख मिलता है तथा लोकालोक को प्रकाशित करने वाला ज्ञान प्राप्त होता है । अनन्त–चतुष्टय संयुक्त आनन्द–पुंज अरिहन्त तथा सिद्ध ऐसे मोक्ष सुख का निरन्तर भोग करते हैं अत: अत्यन्त तृप्त हैं तथा तीन लोक में जगत के द्वारा पूज्य हैं। उनको पूजने वाले उनके ही सदृश्य हो जाते हैं, अत: हे प्रभो ! जिनधर्म की महिमा हमसे तो कही नहीं जाती।

आप धन्य हैं जिन्होंने ऐसे जिनधर्म को पिछले भव में आराधा था, जिसके माहात्म्य से यहां आकर अवतार लिया है, यह आपकी पूर्व कमाई के फल हैं, इसे निर्भय चित्त से अंगीकार करें तथा मनवांछित देवोपुनीत सुख भोगें, मन की आकांक्षा को दूर से ही त्यागें । हे प्रभो ! हे नाथ ! हे दयालु ! जिनधर्म वत्सल, सबको प्यारे मेरे जैसे देवों द्वारा पूज्य, असंख्यात देवांगनाओं के स्वामी अब आप ही हैं, अपने किये कार्य का फल धारण करें ।

हे प्रभो ! हे सुन्दर आकारवाले देवों के प्रिय ! हमें आज्ञा करें, वही हम

पालन करेंगे। ये असंख्यात देव-देवांगनायें आपके दास-दासी हैं, उन्हें अपना जानकर अंगीकार कर अनुगृह करें। ऐसे जिनधर्म बिना इसप्रकार के पदार्थ कोई प्राप्त कर नहीं पाता। अत: हे प्रभो ! अब शीघ्र ही अमृत के कुंड में स्नान कर, मनोज्ञ वस्त्रों सहित आभूषण पहन तथा दूसरे अमृत कुंड से रत्नमयी झारी भर कर तथा उत्कृष्ट देवोपुनीत अष्ट-द्रव्य अपने कर-युगल में लेकर मन-वचन-काय की शुद्धता कर महा अनुराग सहित महा उत्सव पूर्वक पहले जिनमंदिर में पूजा के लिये चलें फिर अन्य कार्य करें।

अन्य कार्यों से पहले जिनपूजा करें फिर अपनी संपदा को सम्हाल कर अपने अधीन करें। इसप्रकार अपने निज कुटुम्ब का उपदेश पाकर अथवा स्वयं अपनी इच्छा से अथवा पूर्व की धर्म-वासना से शीघ्र ही बिना प्रेरणा (वह देव) महा उत्सव से जिनपूजन के लिये जिनमंदिर में जाता है।

जिन मन्दिर और जिनबिम्ब का वर्णन

वे जिनमंदिर तथा जिनबिम्ब कैसे हैं ? वह बताते हैं – एक सौ योजन लम्बे, पचास योजन चौडे तथा पिचेहतर (75) योजन ऊंचे प्रसाद में भीतर पूर्व दिशा की तरफ द्वार वाला उतंग जिनमंदिर शोभित है। मन्दिर के अन्दर एक सौ आठ गर्भ-गृह हैं। एक-एक गर्भ-गृह में तीन कटनियों के ऊपर गंधकुटियां बनी हैं जिनमें भिन्न-भिन्न तथा पांच सौ धनुष ऊंचे एक-एक जिनबिम्ब आसन सिंहासन पर विराजमान हैं। वेदी पर ध्वजा, अष्ट मंगलद्रव्य, धर्मचक्र आदि अनेक आश्चर्यकारी वस्तुओं का समूह है। गंधकुटी कैसी है ? उसमें श्रीजी अद्भुत शोभा सहित विराजमान हैं। एक-एक गर्भ-गृह में एक-एक शाश्वत, अनादिनिधन, अकृत्रिम जिनबिम्ब स्थित हैं।

वे जिनबिंब कैसे हैं ? जिनबिम्बों के संस्थान समचतुरस्र हैं तथा करोडों सूर्यों की ज्योति को मलिन करते हैं। गुलाब के फूल के सदृश्य महामनोज्ञ हैं, शान्तिमूर्ति ध्यान अवस्था धारण किये हैं। जिनबिम्ब और

कैसे हैं ? तपाये हुये स्वर्ण जैसी रक्त जिह्वा, होंठ, हथेली, पगथली है। स्फटिक मणि जैसी दांतों की पंक्ति तथा हाथ हैं। पांवों के नख अत्यन्त उज्जवल निर्मल हैं। श्याममणि मय महा उज्जवल नरम, महा सुगन्धित मस्तक के केशों की आकृति है। मुडी वक्र मूंछों की रेखा तीर्थंकरों के केशों सदृश्य यथावत शोभित है ।

जिनबिम्ब और कैसे हैं ? कई तो स्वर्ण मय हैं, कई रक्त माणिक के हैं, कई हरितमणि पन्ने के हैं, कई श्यामवर्ण मणि के बने हैं । मस्तक पर तीन छत्र विराजमान है मानों छत्र के बहाने तीन लोक ही सेवा करने आये हैं । यक्ष जाति के देवताओं के चौसठ रत्नमयी आकार खडे हैं जिनके हाथों में चौसठ ही चमर हैं । उनमें से बत्तीस श्रीजी के बांयी ओर खडे हैं शेष बत्तीस दांयी ओर हैं । धूपों के अनेक घडे तथा लाखों करोडों रत्नमयी क्षुद्र घंटे हैं । लाखों करोडों रत्नों के दंडों पर कोमल वस्त्र सहित उन्नत ध्वजायें फहरा रही हैं । अनाज के पर्वत जैसे ढेरों की भांति हजारों रत्नों के स्तूप शोभित हैं ।

जिनमंदिर अनेक चन्द्रकान्त मणियों की शिलाओं की बावडियों, सरोवरों अथवा कुंडों, नदी, पर्वत, महलों की पंक्तियों, वन तथा फुलवारियों सहित शोभित हैं । जिनमंदिर और कैसे हैं ? एक बडा द्वार पूर्व दिशा के सन्मुख देखता है, दो द्वार दक्षिण उत्तर की ओर देखते हैं । पूर्व की ओर की रचना सैकडों हजारों योजन आगे तक चली गयी है तथा उसीप्रकार दक्षिण-उत्तर विस्तार में सभामंडप आदि रचना चली गयी है । विशेष इतना है कि पूर्व के द्वार आदि की रचना का जो लम्बाई-चौड़ाई-ऊंचाई का प्रमाण है उससे आधा दक्षिण-उत्तर आदि के द्वार आदि का है । अत: उत्तर द्वार को शल्यक द्वार कहते हैं ।

समस्त रचना सहित बाह्य चार-चार द्वारों सहित तीन ऊंचे महाकोट हैं । जिनमंदिर के लाखों करोडों अनेक रत्नों से निर्मित महा उतंग स्तम्भ लगे हैं । तीनों ओर सैकडों हजारों योजन तक अनेक प्रकार की रचना

चली गयी है । कहीं सभा-मंडप है, कहीं ध्यान मंडप है, कहीं जिनगुण स्तवन करने का तथा कहीं चर्चा करने का स्थान है । कहीं छत है, कहीं महलों की पंक्तियां हैं, कहीं रत्नमय चबूतरे हैं । द्वारों पर तोरण द्वार हैं । कहीं द्वारों के आगे के भाग में मानस्तम्भ हैं जो ऐसे हैं कि महामानी का मान भी दूर हो जाता है ।

मानस्तम्भ अत्यन्त ऊंचे हैं आकाश को स्पर्श करते हैं । स्थान-स्थान पर असंख्यात मोतियों की, स्वर्ण की अथवा रत्नों की मालायें झूम रही हैं । संख्यात लाखों-करोडों धूप का घडे हैं जिनमें धूप खेई जाती है । स्थान-स्थान पर असंख्यात ध्वजाओं तथा महलों की उत्तुंग पंक्तियां शोभित हैं।

महल कैसे हैं ध्वजा कैसी है ? मानों (ध्वजा) के वस्त्रों के हिलने के द्वारा स्वर्ग लोक के इन्द्र आदि देवों को इशारे से बुला रही हैं ।

क्या कह कर बुलाती हैं ? कहती हैं – यहां आओ, यहां आओ, श्रीजी के दर्शन करो, पूजन करो जिससे महापुण्य उपार्जित होगा, पूर्व के कर्म कलंक को धोओ ।

कहीं पर्वत जैसे ऊंचे रत्नों के पुंज जगमगा रहे हैं, कहीं रंग भूमियां हैं। कहीं माणिक्य की भूमि है कहीं स्वर्ण चांदी की भूमि है, कहीं भिन्न-भिन्न रंग के रत्नों की भूमि है । किसी मंडप में स्तम्भ हीरे के हैं कई पन्ने के हैं, कई अनेक रत्नों के हैं । कोई मंडप स्वर्ण रूपा के हैं । किसी स्थान पर कल्पवृक्षों के वन हैं, कहीं सामान्य वृक्षों के वन हैं । कहीं आगे पुष्पों की बाडी है जिसमें रत्नों के पर्वत, शिला, महल, बावडी, सरोवर, नदी शोभित हैं तथा चार-चार अंगुल की हरी दूब सर्वत्र हरे पन्ने के सदृश्य महासुगंधित, कोमल, मीठी शोभा दे रही है, मानों सावन-भादों की हरियाली सदृश्य शोभित है अथवा आनन्द के अंकुर ही हैं । कहीं जिनगुण गाये जा रहे हैं, कहीं नृत्य हो रहा है, कहीं राग आलाप कर जिनस्तुति की जा रही है, कहीं देव-देवियां चर्चा कर रही हैं ।

कहीं मध्य लोक के धर्मात्मा स्त्री-पुरुषों की प्रशंसा की जा रही है। ऐसे जिन-मंदिर में संख्यात अथवा असंख्यातों देव-देवांगनायें दर्शन करने के लिये आते हैं तथा दर्शन कर वापस चले जाते हैं। उनकी महिमा वचन अगोचर हैं, देखते ही बनती है। अत: ऐसे जिनदेव को हमारा नमस्कार हो। बहुत अधिक कहने से पूर्णता (बस) हो।

जिनबिंब और कैसे हैं? मानों बोल रहे हों अथवा मुस्करा रहे हों, अथवा हंस रहे हों अथवा स्वभाव में स्थित हों, मानों ये साक्षात् तीर्थंकर ही हैं। जिनबिंब के शरीर के अंग-उपांग नख से शिखा तक के पुद्गल स्कंध तीर्थंकर के शरीर के समान ही हैं। हाथ-पांव, मस्तक आदि सर्वांग वर्ण, गुण, लक्षण मय स्वयमेव अनादि निधन परिणमित होते हैं, अत: तीर्थंकर के सदृश्य हैं, पर अन्तर इतना है कि तीर्थंकर महाराज के शरीर में केवलज्ञानमय लोकालोक का ज्ञायक आत्म द्रव्य अनन्त चतुष्टय मंडित विराजमान है, जो (यह आत्म द्रव्य) जिनबिम्ब में नहीं है।

प्रतिमाजी के दर्शन का फल :- जिनबिम्ब का दर्शन करते ही मिथ्यात्व का नाश होता है तथा निज स्वरूप की प्राप्ति होती है। ऐसे जिनबिम्ब को वे देव पूजते हैं, मैं भी पूजता हूं तथा अन्य भव्य जीव भी पूजा करें। एक (व्यवहार) नय से तीर्थंकरों के पूजन तथा जिनबिम्ब के पूजन से बहुत फल होता है, किस भांति ? वह कहते हैं -

जैसे कोई पुरुष राजा की छवि को पूजता है, जब वह राजा विदेश से आता है तो उस पुरुष पर बहुत प्रसन्न होता है तथा विचार करता है कि यह मेरी छवि की ही पूजा करता है तो मेरी पूजा तो करेगा ही करेगा, अत: ऐसी भक्ति जानकर बहुत प्रसन्न होता है। इसप्रकार प्रतिमाजी के पूजन में अनुराग होने से यह सूचित होता है कि फल तो एक परिणामों की शुद्धता का ही है।

परिणाम होते हैं वे कारण के निमित्त से होते हैं, जैसा कारण मिलता है वैसा ही कार्य होता है। नि:कषाय पुरुष के निमित्त से पूर्व की कषायें भी

नष्ट हो जाती हैं, जैसे अग्नि के निमित्त से दूध उछलकर बर्तन के बाहर निकलता है तथा जल के निमित्त से बर्तन में ही निमग्न हो जाता है, उसीप्रकार प्रतिमाजी की शान्त मुद्रा देखकर नियम से परिणाम निर्विकार शान्त रूप होते हैं, यही परम लाभ जानना चाहिये।

ऐसा ही निमित्त-नैमितिक संबंध लिये वस्तु का स्वभाव स्वयमेव बना है, जिसका निवारण करने में कोई समर्थ नहीं है। अन्य भी उदाहरण कहते हैं – जैसे वही जल की बूंद गर्म तवे पर पडने से नाश को प्राप्त होती है। सर्प के मुख में पडने से विष हो जाती है, कमल के पत्र पर पडने से मोती सदृश्य शोभित होती है। सीप में पडने पर मोती हो जाती है तथा अमृत के कुंड में पडने पर अमृतमय हो जाती है। इत्यादि अनेक प्रकार जल की बूंद परिणमित होती है, उसकी अद्भुत विचित्रता केवली भगवान ही जानते हैं, देश मात्र (अल्प मात्रा में) सम्यग्दृष्टि पुरुष भी जानते हैं।

यहां कोई प्रश्न करे – प्रतिमाजी तो जड है, अचेतन है, स्वर्ग मोक्ष कैसे देगी ?

उनको कहते हैं – हे भाई ! प्रत्यक्ष ही संसार में अचेतन पदार्थ फल देते देखे जाते है। चिन्तामणी, कल्पवृक्ष, पारस, कामधेनु, चित्राबेल, नव निधियां आदि अनेक वस्तुयें फल देती दिखाई देती हैं। भोजन से क्षुधा मिटती है, जल पीने से प्यास मिटती है, अनेक औषधियों के निमित्त से अनेक जाति के रोग उपशांत होते हैं, सर्प अथवा अन्य विष से प्राणान्त होता है। सच्ची स्त्री के शरीर के स्पर्श मात्र से पाप लगता है, उसीप्रकार प्रतिमाजी के दर्शन करने से मोह कर्म गलता है। वही वीतराग भाव का होना है, उसी का नाम धर्म है। अत: प्रतिमाजी का दर्शन स्वर्ग-मोक्ष का कारण है। प्रतिमाजी के दर्शन से अनन्त जीव तिरे हैं तथा आगे भी तिरेंगे।

प्रतिमाजी की पूजा-स्तुति करना है वह तीर्थंकर देव के गुणों की अनुमोदना है तथा जो पुरुष गुणों की अनुमोदना करते हैं उन पुरुषों को उसी सदृश्य गुण प्रकट होते हैं एवं अवगुणी पुरुषों की अनुमोदना करने पर

उस सदृश्य अवगुण रूप फल ही होता है । इसीप्रकार धर्मात्मा पुरुषों की अनुमोदना करने पर धर्म का फल स्वर्ग-मोक्ष मिलता है । प्रतिमाजी में साक्षात तीर्थंकर देव की छवि है, उनकी पूजा-भक्ति करने पर महाफल उत्पन्न होता है ।

यहां पुन: कोई प्रश्न करता है :- अनुमोदना करना था तो उनका स्मरण करके ही अनुमोदना की होती, आकार क्यों बनाया ?

आकार की अनुमोदना :- स्मरण करने पर तो तीर्थंकर देव का परोक्ष दर्शन होता है । सदृश्य आकार बनाने पर प्रत्यक्ष दर्शन होता है । परोक्ष की अपेक्षा प्रत्यक्ष में अनुराग विशेष उत्पन्न होता है, आत्म द्रव्य तो किसी का भी दिखता नहीं है। किसी का (समवशरण में भी तीर्थंकर देव का) वीतराग मुद्रा स्वरूप शरीर ही दिखता है । अत: भक्त पुरुष को तो मुख्य रूप से वीतराग के शरीर का ही उपकार है, चाहे जंगम प्रतिमा हो चाहे थावर प्रतिमा हो, दोनों का उपकार एक समान है ।

जंगम प्रतिमा अर्थात तीर्थंकर का शरीर तथा थावर अर्थात जड प्रतिमा । जैसे नारद ने रावण के समक्ष सीता के रूप का वर्णन किया तब तो रावण थोडा ही आसक्त हुआ, बाद में सीता का चित्र दिखाया तो वह विशेष आसक्त हुआ। इस ही प्रकार परोक्ष-प्रत्यक्ष का तात्पर्य जानना । वहां पर तो दृष्टान्त में तो चित्रपट केवल पत्र रूप ही था, यहां प्रतिमाजी का आकार विनय पूर्वक यथावत बनाया गया है, अत: प्रतिमाजी का दर्शन करने पर तीर्थंकर का स्वरूप याद आता है । इसप्रकार परमेश्वर (जिनबिम्ब) की पूजा करके वे देव क्या करते हैं तथा वे कैसे हैं यह बताते हैं। जैसे बारह वर्ष का राजहंस पुत्र शोभायमान दिखता है उससे भी असंख्यात अनन्त गुणें तेज प्रताप को लिये शोभित हैं । उनका शरीर और कैसा है ? हड्डियां तथा मांस, मल-मूत्र के समूह से रहित हैं। करोडों सूर्यों की ज्योति को लिये महासुन्दर हैं। रेशम-मखमल से भी अनन्त गुणा कोमल स्पर्श है, अमृत के सदृश्य मीठा है, बावन चंदन (एक विशेष

जाति का अत्यन्त सुगंधित (सर्वश्रेष्ठ चन्दन) अथवा कस्तूरी अथवा करोडों रुपये तोला के इत्र से भी अनन्त गुणा सुगंधित शरीर है तथा इस ही प्रकार की सुगंध उनके स्वांस-उस्वांस में आती है। उनका रंग स्वर्णमय अथवा तपे हुये स्वर्ण के समान लाल अथवा ऊगते सूर्य के समान लाल अथवा स्फटिक मणि के समान सफेद है।

वे अनेक प्रकार के रत्नमय आभूषण पहने हैं तथा मस्तक पर मुकुट शोभित है। हजारों वर्ष बाद मानसिक अमृतमय आहार लेते हैं तथा कई महिनों बाद स्वांस लेते हैं, करोडों चक्रवर्ती के समान बल है। अवधिज्ञान से अगले-पिछले भवों को, दूरवर्ती पदार्थो को, गुप्त पदार्थो को तथा सूक्ष्म पदार्थो को स्पष्ट निर्मल जानते हैं। आठ ऋद्धियों, अनेक विद्याओं तथा विक्रियाओं से संयुक्त हैं। जैसी इच्छा हो वैसा कौतुहल करते हैं। विमान की भूमि भी रेशम से असंख्यात गुणी कोमल है। धूल अनेक प्रकार के रत्नों के चूर्ण के सदृश्य कोमल है। मिट्टी गुलाब, अम्बर, केवडे, केतकी, चमेली, सेवती, रायबेल, सोनजुही, मोगरा आदि पुष्पों के चूर्ण समान सुगन्धित है।

कहीं अनेक प्रकार के फूलों से सुगन्धित बावडी है। प्रकाश करोडों सूर्यों के ताप रहित शान्तिमय है। मंद सुगंध पवन चलती है, अनेक प्रकार के रत्नमय चित्र हैं। अनेक प्रकार के रत्नों की शोभा को लिये दोनों कोट शोभित हैं तथा निर्मल जल से भरी खाईयां शोभित होती हैं। अनेक जाति के कल्पवृक्षों आदि से संयुक्त वन शोभित हैं। वे वन अनेक बावडियों, जलाशयों, पर्वतों, शिलाओं से शोभायमान हैं तथा वहां जाकर देव क्रीडा करते हैं।

देवों के निवासों में अनेक प्रकार के रत्न लगे हैं अर्थात वे रत्नमय हैं। उन (निवासों) पर ध्वजदंड शोभित हैं, ध्वजायें इसप्रकार हिलती हैं मानों धर्मात्मा पुरुषों को हार्दिक रूप से आमंत्रित करती हैं – आओ, आओ, यहां ऐसा सुख है जैसे तीन लोक में अन्यत्र दुर्लभ है। अत: यहां

आकर सुख भोगो, अपने किये का फल भोगो। करोडों प्रकार के वाद्ययंत्र बजते हैं, नृत्य होता है, नाटिकायें होती हैं तथा अनेक कला चतुराईयों सहित हाव भाव के द्वारा कोमल शरीर वाली देवांगनाओं के कटाक्ष हैं।

देवांगनाओं के स्वरूप का वर्णन :- वे देवांगनायें निर्मल, सुगंधमय, चन्द्रमा की किरणों से असंख्यात गुणी प्रकाशमय तथा सुख देनेवाली हैं। देवांगनायें और कैसी हैं ? तीक्ष्ण कोकिल के जैसा कंठ है, मिष्ट मधुर वचन बोलती हैं। तीखे मृग के सदृश्य बडे नेत्र हैं, चीते जैसी कटि है, स्फटिक के समान दांत हैं, उगते सूर्य जैसी हथेलियां तथा पगतलियां हैं। देवांगनायें और कैसी हैं ? बारह वर्ष की राजपुत्री जैसी शोभित होती है उससे भी असंख्यात गुणी अतुलनीय शोभा को लिये सम्पूर्ण आयु पर्यन्त एक दशा रूप रहती हैं। भावार्थ यह है कि वे तरुणाई तथा वृद्धपने को प्राप्त नहीं होती हैं, उनकी दशा बालिका के समान सदैव एक-सी बनी रहती है। देवांगनायें और कैसी हैं ? मानों समस्त सुगंधों का पिंड है, मानों सारे गुणों का समूह ही हैं। सर्व विद्याओं की ईश्वर (जानकार) हैं, सर्व कला चतुराईयों की अधिपति है, सर्व लक्ष्मी की स्वामी हैं, अनेक सूर्यों की कांति को जीतती हैं, अनेक कामदेवों के शरीरों से उनका शरीर उत्पन्न हुआ है।

देव-देवियां और कैसी हैं ? देव तो देवांगनाओं के मन को हर्षित करते हैं तथा देवांगनायें देवों के मन को हरती हैं एवं हंस की चाल को जीतती हैं। विक्रिया के द्वारा अनेक शरीर बनाती हैं तथा अनेक तरह के नृत्य करती हैं। ऐसी देवांगनायें जो अनेक शरीर बना लेती हैं उन्हें देव युगपत एक काल में सारी देवांगनाओं को भोगते हैं। वे देव भी अनेक शरीर बनाकर भिन्न-भिन्न महलों में सुगंधित, महाकोमल, करोडों चन्द्रमा-सूर्य के प्रकाश के सदृश्य शान्तिमय, मन को प्रसन्न करने वाले प्रकाश से देदिप्यमान अनेक प्रकार के कल्पवृक्षों के फूलों से आभूषित सेज पर विराजते हैं।

वे देवांगनायें अनेक प्रकार के आभूषण पहन अलग-अलग महलों में जाती हैं तथा दूर से ही देव को हाथ जोडकर तीन बार नमस्कार करती हैं तथा देव की आज्ञा पाकर सेज पर विराजमान होती हैं। देव उन्हें कभी गोद में लेते हैं, कभी हाथों से स्पर्श करते हैं, कभी नृत्य करने की आज्ञा देते हैं। उनमें (नृत्यों में) देवांगनायें ऐसे भाव लाती हैं कि हे प्रभो ! मैं काम से दग्ध हूं, आप भोग कर शान्त करें। आप मेरा काम दाह मिटाने में मेघ के सदृश्य हैं। कभी देव का गुणानुवाद गाती हैं, कभी कटाक्ष करती हैं, कभी आकर एकत्रित होती हैं, कभी पांवों पर लोट जाती हैं, कभी बुलाने पर भी नहीं आती हैं।

यह तो स्त्रियों का मायाचार स्वभाव ही है कि मन में तो अत्यन्त चाह रहने पर भी बाहर में अचाह दिखाती रहें। कभी नृत्य करती धरती पर झुक जाती हैं, कभी आकाश में उड जाती हैं अथवा चक्राकार घूमने लगती हैं, भूमि पर अति शीघ्र पावों को चलाती है। कभी देव की ओर देखकर मुस्करा देती हैं, कभी वस्त्र से मुंह ढक लेती हैं तो कभी वस्त्र को दूर कर मुंह उघाड देती हैं। ऐसा लगता है जैसे चन्द्रमा कभी बादलों से आच्छादित होकर, कभी बादलों से रहित होकर अपने को दिखाता है तो कभी देव देवांगना पर मुठ्ठी भर कर फूल फेंक देता है। कभी सुगंध अथवा इत्र आदि से देवांगना के शरीर को भिगो देता है तो कभी देवांगना देव पर फूल उछाल कर भय से दूर भाग जाती हैं। फिर अनुराग पूर्वक देव के शरीर से आ लिपटती हैं, फिर दूर चली जाती हैं।

कभी बहुत सी देवांगनायें मिल कर इन्द्र के साथ चक्र में घूमती हैं, कभी ताल, मृदंग, बीन आदि बजाकर देव को रिझाती हैं। कभी सेज पर आकर लेट जाती हैं तो कभी उठ कर भाग जाती हैं तथा आकाश में जाकर नृत्य करने लगती हैं। ऐसा लगता है मानों आकाश में बिजली सी चमक रही हो। आकाश में चन्द्रमा के साथ तारों की पंक्ति शोभित होती है उसीप्रकार देवों के साथ देवांगनायें शोभित होती हैं। जैसे चन्द्रमा के

साथ चन्द्रिका गमन करती शोभित होती है उसीप्रकार देव के साथ देवांगना गमन करती शोभित होती हैं । इत्यादि अनेक प्रकार की आनन्द की क्रीडायें कर देव-देवांगनायें मिलकर कौतुहल करते हैं ।

देवांगनायें नृत्य करती हुई पवन को भूमि पर अथवा आकाश में अपने नेवर आदि पावों में पहनने के आभूषणों की झंकार से चलाती हैं, उसका कथन करते हैं – झिमि-झिमि, झिण-झिण, खिण-खिण, तिण-तिण आदि अनेक रागों सहित शब्दों के समूह पांवों के आभूषणों से होते हैं, मानों देव की स्तुति ही करती हों। कोमल सेज पर देव का आलिंगन करती हैं जिससे परस्पर पुरुष (दोनों) के संयोग से ऐसा सुख उत्पन्न होता है मानों नेत्रों को बंद कर सुख का अनुभवन करते हैं – ऐसे शोभित होते हैं । पर तिर्यन्च अथवा मनुष्य की तरह भोग करने के बाद शिथिल नहीं होते, अत्यन्त तृप्त होते हैं, मानों पंचामृत का पान किया हो ।

देवों की शक्ति :- देवों में ऐसी शक्ति होती है कि कभी तो शरीर को सूक्ष्म करलें, कभी शरीर को बडा करलें। कभी शरीर को भारी कर लें, कभी हल्का कर लें । कभी आंख फरकने जितने समय में असंख्यात योजन दूर चले जाते हैं, कभी विदेह क्षेत्र में जाकर श्री तीर्थंकर देव की वंदना करते हैं तथा स्तुति करते हैं –

देव स्तुति :– जय ! जय ! जय! जय भगवान ! जय त्रिलोकीनाथ ! जय करुणानिधि ! जय संसार समुद्र तारक ! जय परम वीतराग ! जय ज्ञानानन्द ! जय ज्ञान स्वरूप ! जय मोक्ष लक्ष्मी के कंत ! जय आनन्द स्वरूप ! जय परम उपकारी ! जय लोकालोक के प्रकाशक ! जय स्वभावमय मोदित ! जय स्वपर प्रकाशक ! जय ज्ञान स्वरूप ! जय चैतन्य धातु ! जय अखंड सुधारस पूर्ण ! जय ज्वलित मचलित ज्योति ! जय निरंजन ! जय निराकार ! जय अमूर्तिक ! जय परमानन्द ! जय परमानन्द के कारण रूप सहज स्वभाव ! जय सहज स्वरूप ! जय सर्व विघ्न विनाशक ! जय सर्व दोष रहित ! जय नि:कलंक ! जय परस्वभाव भिन्न ! जय भव्य जीव

तारक ! जय अष्ट कर्म रहित ! जय ध्यानारूढ ! जय चैतन्यमूर्ति ! जय सुधारस मय ! जय अतुल ! जय अविनाशी ! जय अनुपम ! जय स्वच्छ पिंड, जय सर्व तत्व ज्ञायक ! जय अनन्त गुण भंडार ! जय निज परिणति में रमणहार ! जय भव समुद्र के तिरनहार ! जय सर्व दोष हरण हार ! जय धर्मचक्र के धारणहार !

हे देव ! आप ही पूर्ण देव हैं । हे प्रभो ! आप ही देवों के देव हैं । हे प्रभो ! आप ही मोक्षमार्ग को चलाने वाले हैं । आप ही भव्य जीवों को प्रफुल्लित करने वाले हैं । हे प्रभो ! आप ही जगत का उद्धार करने वाले हैं । आप ही जगत के नाथ हैं । आप ही भव्य जीवों का कल्याण करने वाले हैं । आप ही दया भंडार हैं । हे भगवान ! समवशरण जैसी लक्ष्मी से आप ही विरक्त हैं । हे प्रभो ! आप ही जगत को मोहने में समर्थ हैं । आप ही उद्धार करने में समर्थ हैं । हे प्रभो ! आपका रूप देखकर नेत्र तृप्त नहीं होते ।

हे भगवान ! आज की घडी धन्य है, आज का दिन धन्य है कि आपके दर्शन प्राप्त किये । आपके दर्शन से मैं कृतकृत्य हुआ, पवित्र हुआ, जो कार्य करना था वह मैने आज किया, अब कुछ कार्य करना रहा नहीं । हे भगवान ! आप की स्तुति करके जिव्हा पवित्र हुई, वाणी सुनकर कान पवित्र हुये, दर्शन करके नेत्र पवित्र हुये, ध्यान करके मन पवित्र हुआ, अष्टांग नमस्कार करके सर्व अंग पवित्र हुये । अब हे भगवान ! मेरे इन प्रश्नों का समाधान कीजिये, आपके मुखारविंद से ही समाधान जानना चाहता हूं ।

हे प्रभो ! सप्त तत्व का स्वरूप बतावें, चौदह गुणस्थान, चौदह मार्गणा का स्वरूप कहें । हे स्वामी ! अष्ट कर्मों का स्वरूप कहें, उनकी उत्तर प्रकृतियों का स्वरूप कहें । हे स्वामी ! प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग का स्वरूप कहें । हे स्वामी ! काल तथा लोकालोक का स्वरूप कहें, मोक्षमार्ग का स्वरूप कहें । हे स्वामी ! पुण्य-पाप का स्वरूप कहें, चार गतियों का स्वरूप कहें, जीवों की दया-अदया का स्वरूप कहें, देव-गुरु-धर्म का स्वरूप कहें ।

हे स्वामी, हे नाथ ! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप कहें, ध्यान का स्वरूप कहें, आर्तध्यान, रौद्रध्यान का स्वरूप तथा धर्मध्यान, शुक्लध्यान का स्वरूप कहें । चौसठ ऋद्धियों का स्वरूप कहें । तीन सौ तिरेसठ (363) कुवाद के धारकों का स्वरूप कहें, बारह अनुप्रेक्षा का स्वरूप कहें, दशलक्षण धर्म तथा सोलह कारण भावनाओं का स्वरूप कहें। सप्त नय, सप्त भंगी का तथा द्रव्यों के सामान्य गुण तथा विशेष गुणों का स्वरूप कहें तथा अधोलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक की रचना बतावें, द्वादशांग का स्वरूप तथा केवलज्ञान का स्वरूप बतावें । इन सहित मैं सर्व तत्वों का स्वरूप जानना चाहता हूँ ।

हे भगवान ! जीव कौनसे पाप करने के फल में नरक जाता है, तिर्यन्च किस पाप के करने से होता है। किन परिणामों से मनुष्य होता है, किस पुण्य के उदय में देव पर्याय पाता है निगोद क्या करने से जाता है, वह बतावें ? विकलत्रय क्या करने से होता है, असैनी कौन से पाप करने से होता है। सम्मूर्छन, अलब्ध पर्याप्तक, स्थावर किन खोटे परिणामों से होता है ? अंधा, बहरा, गूंगा, लूला किन पापों के कारण होता है। बौना, कूबडा, विकलांग, अधिक अंगी कौन से पाप से होता है । कोढी, दीर्घ रोगी, दरिद्र, कुरूप शरीर किन पापों से होता है ? मिथ्यात्वी, कुव्यसनी, अज्ञानी, अभागा, चोर, कषायी, जुवारी, निर्दय, अक्रियावान, धर्म से परान्मुख, पाप कार्यों में आसक्त, अधोगामी किन पापों से होता है?

शीलवान, सन्तोषी, दयावान, संयमी, त्यागी, वैरागी, कुलवान, पुण्यवान, रूपवान किन पुण्य से होता है ? निरोग, बुद्धिमान, विचक्षण, पंडित, अनेक शास्त्रों का पारगामी, धीर, साहसिक, सज्जन पुरुषों के मन को मोहनेवाला, सबका प्यारा, दानेश्वर, अरिहन्त देव का भक्त, सुगतिगामी कैसे पुण्य में होता है? इत्यादि प्रश्नों का स्वरूप (समाधान) आपकी दिव्यध्वनी से सुनना चाहता हूं । मुझ पर अनुग्रह कर, दया बुद्धि से मुझे बतायें।

हे भगवान ! मेरे पूर्व भव तथा अगले भव कहें, मेरा कितना संसार बाकी है, कब दीक्षा धारण करूंगा तथा आप जैसा कब बनूंगा, मुझे यर्थाथ स्वरूप कहें ? मुझे इनको जानने की बहुत इच्छा अभिलाषा है ? ऐसे प्रश्न होने पर श्री भगवान की वाणी खिरने लगी तथा सर्व प्रश्नों के उत्तर (समाधान) एक साथ ज्ञान में भासित हुये जिन्हें सुनकर अत्यन्त तृप्त होकर अपने स्वर्ग के स्थान में चला जाता है ।

फिर कभी नन्दीश्वर द्वीप जाकर वहां के चैत्यालयों तथा प्रतिमाजी की पूजा करता है, कभी अनेक प्रकार के भोगों को भोगता है। कभी सभा में सिंहासन पर बैठकर राजकार्य करता है तो कभी धर्म की चर्चा करता है। कभी चारों अथवा सात जातियों की सेना सजाकर भगवान के पंच कल्याणक में जाता है अथवा वनों में अथवा मध्यलोक में क्रीडा करने जाता है ।

वहां ऐसे नाटक होते हैं – कभी देवांगना देव के अंगूठे पर नृत्य करती है, कभी हथेली पर नृत्य करती है, कभी भुजा पर नृत्य करती है, कभी आंख की भौहों पर नृत्य करती है । कभी देवांगना आकाश में उछल जाती है, कभी धरती में डूब जाती है, कभी अनेक अनेक शरीर बना लेती है, कभी बालक हो जाती है, कभी देव की स्तुति करती है ।

क्या स्तुति करती है ? – हे देव ! आपको देखने से नेत्र तृप्त नहीं होते। *हे देव ! आपके गुण चिन्तवन करने से मन तृप्त नही होता । हे देव ! आपके* संयोग में कभी अन्तर न पडे, आपकी सेवा जयवन्त वर्ते । आप महान कल्याण के कर्त्ता हैं, आप जयवन्त वर्ते । आप हमारी मनोवांछा पूर्ण करें। देवांगना और देव और कैसे हैं ? उनको नेत्र टिमकारना नहीं होता, शरीर की छाया नहीं पडती, क्षुधा नहीं लगती, प्यास नहीं लगती । हजारों वर्षो बाद किंचित मात्र क्षुधा-तृषा लगती है जो मन से ही तृप्त हो जाती है ।

कोई देव मंद सुगंधित पवन चलाता है, कोई देव वाध्य यंत्र बजाता है, कोई देव सुगंधित जल बरसाता है, कोई इन्द्र पर चंवर ढोरता है। चवंर

कैसे हैं ? मानों चमरों के बहाने नमस्कार ही करते हैं, ऐसे शोभित होता है । कितने ही देव छत्र लिये हैं, कितने ही देव अनेक आयुध लिये दरवाजे पर स्थित हैं । कुछ देव अभ्यन्तर सभा में विराजमान हैं, कुछ मध्य की सभा में विराजमान हैं, कुछ बाहर की सभा में स्थित हैं; कुछ देव दर्शक ही होते हैं। देखो उस विमान की शोभा, देखो देव-देवांगनाओं की शोभा, देखो उत्कृष्ट राग, नृत्य, वाद्य यंत्रों की ध्वनि, उत्कृष्ट सुगन्ध आ रही है । सब शोभायें आ एकत्रित हुई है । कैसे एकत्रित हुई हैं ? कहीं तो देव मिलकर गायन कर रहे हैं, कहीं क्रीडा कर रहे हैं, कहीं देवांगनायें आ एकत्रित हुई हैं, मानो सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, ग्रह, तारों की पंक्तियां एकत्रित होकर दसों दिशाओं को प्रकाशित कर रही हों ।

कुछ देवांगनायें रत्नों के चूर्ण से मांगलिक स्वस्तिक पूर रही हैं, कुछ देवांगनायें मीठे स्वर में गा रही हैं, कुछ मंगल गाती हैं मानो मंगल के बहाने मध्यलोक से धर्मात्मा पुरुषों को बुला रही हैं । कुछ देवांगनायें देव के पास हाथ जोडे खडी हैं, कुछ हाथ जोडे देव की स्तुति कर रही हैं, कोई देवांगना देव के तेज को देखकर भयभीत हो रही हैं। कोई थरथर कांप रही हैं तथा हाथ जोडकर मधुर-मधुर धीरे-धीरे बोलती जाती हैं । कुछ देवांगनायें कह रही हैं – हे प्रभो ! हे नाथ ! हे दयामूर्ति ! क्रीडा करने चलो, हमें तृप्त करो ।

स्वर्ग और कैसा है ? कहीं तो धूप से सुगंध फैल रही है, कहीं पन्ने के सदृश्य हरियाली शोभित है, कहीं पुष्प वाटिका से शोभा हो रही है, कहीं भंवरों की हुंकार शोभित है । कहीं चन्द्रकांत शिला से शोभा है, कहीं कांच के सदृश्य निर्मल शिला भूमि शोभित है, मानों जल की नदी ही है, जिसको देखकर ऐसी शंका होती है कि कहीं इसमें डूब न जावें । कहीं रत्नों के सदृश्य हरी शिलाभूमि शोभित है, कहीं माणिक्य जैसी लाल, स्वर्ण जैसी पीली भूमि तथा शिलायें शोभित हैं । कहीं तेल से बनाये गये काले काजल सदृश्य अथवा बदली की घटा के समान भूमि शोभित है,

मानों पाप के भय से छिपकर रहने के लिये अंधकार की जननी ही है । इत्यादि नाना प्रकार के रत्नों को लिये स्वर्ग की भूमि देवों के मनों को प्रमुदित करती हैं । सर्वत्र पन्ने जैसी है, अमृत से मीठी, रेशम सी कोमल, चन्दन सी सुगंधित, सावन भादवे की हरियाली सदृश्य पृथ्वी शोभती है, जो सदा एक जैसी रहती है ।

स्थान-स्थान पर ज्योतिष देवों के विमानों के सदृश्य उज्जवल आनन्द भवन, शिलायें, पर्वतों के समूह बने हुये हैं जिनमें देव रहते हैं । कहीं स्वर्ण-रूपा के पर्वत शोभित हैं, कहीं वैडूर्यमणि, पुखराज, लहसनिया तथा मोतियों के समूह अनाज के ढेरों के समान पडे हैं । कहीं आनन्द मंडप है, कहीं क्रीडा मंडप है, कहीं चर्चा मंडप है, कहीं केलि करने के निवास हैं।

कहीं ध्यान धरने के स्थान हैं तो कहीं चित्राबेल है और कहीं कामधेनु है, कहीं रस-कूपिका के कुंड भरे हैं। कहीं अमृत के कुंड भरे हैं, कहीं नव निधियां पडी हैं, कहीं हीरों के ढेर पडे हैं तो कहीं माणिक्य के समूह पडे हैं। कहीं पन्ने की ढेरियां हैं तो कहीं नीलमणि आदि मणियों के ढेर पडे हैं । इत्यादि अनेक-अनेक प्रकार के रत्नों से तथा सुगन्ध एवं अनेक वाद्य यंत्रों की राग से विमान व्याप्त हो रहे हैं । इत्यादि सुख सामग्री स्वर्गों में पाई जाती है । स्वर्ग लोक के सुखों का वर्णन करने में गणधर भी समर्थ नहीं हैं, केवलज्ञान गम्य है । ऐसे में ये जीव धर्म के प्रभाव से सागरों पर्यन्त सुख पाते हैं ।

अत: हे भाई ! तू निरन्तर धर्म का ही सेवन कर, धर्म के बिना ऐसे भोग कभी नहीं मिल सकते हैं । अपने हित के वांछक पुरुषों को धर्म (व्यवहार धर्म) परम्परा से मोक्ष का कारण है । ऐसे सुखों को भी आयुबल पूर्ण होने पर छोडकर देव वहां से भी च्युत हो जाता है । आयु पूर्ण होने में छह मास बाकी रह जाने पर यह देव अपने मरण को जान जाता है । वहां माला अथवा मुकट अथवा शरीर की कांति की ज्योति के मंद पडने से देव अपने

मरण को जानकर बहुत दु:खी होता है । तब विलाप करता है हाय ! हाय ! अब मैं मर जाऊंगा, यह भोग सामग्री (आगे) कहां से भोग पाऊंगा ।

मैं किस गति में जाऊंगा ? मुझे अब यहां रख सकने में कोई भी समर्थ नहीं है । अब मैं क्या करूं, किस की शरण में जाऊं, मेरा दु:ख किससे कहूं। मेरे जैसा दु:ख किसी को नहीं है । ये सारे भोग मेरे दुश्मन थे, जो अब सब मिलकर मुझे दु:ख देने आये हैं । ये नरक जैसे मानसिक दु:ख कैसे भोगूंगा ? कहां तो स्वर्ग के सुख तथा कहां एकेन्द्रिय पर्याय आदि के दु:ख ? जहां एक कौडी (एक नये पैसे से भी कम) में अनन्तों (एकेन्द्रिय) जीव बिकते हैं तथा जो कुलहाडियों से छेदे जाते हैं, हांडियों में डालकर पकाये जाते हैं । मैं भी अब ऐसी पर्याय को प्राप्त होऊंगा । हाय! हाय! यह कैसा अनर्थ है ? ऐसे देवों को भी ऐसी एकेन्द्रिय दशा हो जाती है ।

तब वह अपने परिवार के देवों से कहता है – हे देवो ! आज मुझ पर दुष्ट काल ने जमकर कोप किया है, मुझसे ऐसे देव पद के सुखों को छुडा रहा है, खोटी गति में डाल रहा है, अब आप मुझे बचावें । मैं ऐसे दु:ख सहने में असमर्थ हूँ । बहुत क्या कहूँ ? मेरे दु:ख की बात सर्वज्ञ देव जानते हैं, अन्य कोई जानने में समर्थ नहीं है ।

तब परिवार के देव कहने लगते हैं – ऐसे दीनपने के वचन क्यों कहते हो, ऐसी दशा तो सबकी होती है । काल पर किसी का जोर नहीं चलता, समस्त लोक के जीव इस काल के वश में हैं । अब एक धर्म ही शरण है, अत: धर्म की शरण ग्रहण करें तथा आर्तध्यान को छोडें । आर्तध्यान से खोटी तिर्यंच गति मिलती है तथा परम्परा से अनन्त संसार का भ्रमण होता है, अभी कुछ नहीं बिगडा है, अब भी आपने को सम्हालें, सावधान हो जावें तथा अपने सहजानन्द की सम्हाल करें ।

स्वरूप का रसपान करें, जिससे जन्म-मरण के दु:ख मिट जावें तथा शाश्वत सुख को प्राप्त होवें । इस संसार से तीर्थंकर देव भी डरे, राज संपदा को छोडकर वन में जा बसे, अत: अब आपको भी यह ही कार्य

करना योग्य है । छल कपट, विलम्ब करना उचित नहीं हैं। सो अब वह देव इस उपदेश को पाकर कुछ दिन वहां श्रीजी की पूजा करने लगा तथा बारम्बार श्रीजी को याद करते हुये धर्म बुद्धि में ही रहते हुये बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करने लगा । क्या चिन्तवन करने लगा ?

बारह भावना (अनुप्रेक्षा)

(1) **अनित्य अनुप्रेक्षा :–** देखो भाई ! कुटुम्ब परिवार है वह बादल की भांति विलय हो जावेगा । जैसे दसों दिशाओं से आकर संध्या के समय वृक्ष पर पक्षी विश्राम लें तथा प्रातः होते ही पुनः उड जावें अथवा बाजार में अथवा मेले में अनेक व्यापारी एवं तमाशा करने वाले आ एकत्रित हो जाते हैं तथा मेला हाट समाप्त होने पर चले जाते हैं, उसीप्रकार कुटुम्ब परिवार है । माया (धन संपत्ति) है वह बिजली की चमक के समान चंचल है, जीवन है वह ओस की बूंद के समान है । आयुबल है वह अंजुली के जल के समान है । इस ही प्रकार सर्व ठाठ विनाशशील हैं, क्षण भंगुर हैं, कर्म जनित हैं, पराधीन हैं । इस सामग्री में मेरा कुछ भी नहीं है, केवल मेरा चैतन्य स्वरूप ही सदा अविनाशी (सदा मेरे साथ रहने वाला) है । मैं किसका सोच करूं (किस के सम्बन्ध में चिंता करूं)।

(2) **अशरण अनुप्रेक्षा :–** फिर अशरण अनुप्रेक्षा का चितवन करता है । देखो भाई ! संसार में देव, विद्याधर अथवा इन्द्र, धरणेन्द्र, नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र, रुद्र, चक्रवर्ती, कामदेव आदि को भी कोई शरण नहीं है । ये सब भी काल के वश हैं तब अन्य किसी को कोई कैसे शरण हो सकता है । अतः बाह्य में तो मुझे पंचपरमेष्ठी शरण हैं तथा निश्चय से तो मेरा निज स्वरूप ही मुझे शरण है, अन्य कोई मुझे त्रिकाल में भी शरण नहीं है ।

(3) **संसार अनुप्रेक्षा :–** अब संसार अनुप्रेक्षा का चिंतवन करता है। देखो भाई ! ये जीव भूल से मोह के वशीभूत हुआ व्यर्थ ही संसार के

कैसे-कैसे दु:खों को सहता है ? कभी तो नरक में जाता है, कभी तिर्यंच गति में जाता है, कभी मनुष्य तो कभी देव गति में जाता है । अत: संसार से उदासीन होकर निश्चय-व्यवहार धर्म का ही निरन्तर सेवन करना योग्य है ।

(4) **एकत्व अनुप्रेक्षा :–** अब एकत्व अनुप्रेक्षा का चिंतवन करता है । देखो भाई ! यह जीव तो सदा अकेला है, इसके परिवार कुटुम्ब है नहीं । नरक में गया तो अकेला गया, यहां आया तो अकेला आया, यहां से जावेगा तो अकेला जावेगा । ऐसे में हमारे अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त सुख, अनन्तवीर्य यह ही शाश्वत परिवार है, जो मेरे साथ है और सदैव साथ रहेगा ।

(5) **अन्यत्व अनुप्रेक्षा :–** अब अन्यत्व अनुप्रेक्षा का चिंतवन करता है । देखो भाई ! ये छह द्रव्य अनादि काल से भिन्न-भिन्न अलग-अलग एक क्षेत्रावगाह एकत्रित हैं, फिर भी कोई किसी से मिलता नहीं है । ऐसा अनादि से ही वस्तु का स्वभाव है, इसमें जरा भी संदेह नहीं है । *मैं तो चैतन्य स्वरूप अमूर्तिक हूँ तथा ये शरीर जड मूर्तिक है । इससे मैं* किसप्रकार मिल सकता हूँ (अर्थात् मैं और शरीर भिन्न-भिन्न हैं तथा सदैव भिन्न-भिन्न रहेंगे) । इसका स्वभाव अलग है मेरा स्वभाव अलग है, इसके प्रदेश अलग हैं, मेरे प्रदेश अलग हैं । इसके द्रव्य-गुण-पर्याय अलग हैं तथा मेरे द्रव्य-गुण-पर्याय इससे अत्यन्त भिन्न हैं, अत: मैं इससे अभिन्न कैसे हो सकता हूँ ? मैं तो त्रिकाल भिन्न ही हूँ ।

(6) **अशुचि अनुप्रेक्षा :–** अब अशुचि अनुप्रेक्षा का चिंतवन करता है । देखो भाई ! यह शरीर अत्यन्त अशुचि है घिनावना है । इतने दिन इस शरीर का पोषण किया पर जब काम पडा तो इसने धोखा ही दिया । इस शरीर को सारे द्वीप-समुद्रों के पानी से नहलाओ, धोओ तब भी पवित्र नहीं होता है । यह जड अचेतन का अचेतन ही रहा । इसलिये बुद्धिमान व्यक्ति ऐसे शरीर से कैसे प्रीति करें ? अर्थात् कभी नहीं करते ।

(7) **आस्रव अनुप्रेक्षा :–** अब आस्रव अनुप्रेक्षा का चिंतवन करता है। देखो भाई ! मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय तथा योगों के द्वारा कर्मो का द्रव्यास्रव करके (यह जीव) संसार समुद्र में डूब रहा है। किसप्रकार डूब रहा है। जैसे जहाज के पेंदे में छिद्र हो जाने पर जहाज समुद्र में डूबता है वैसे ही डूब रहा है।

(8) **संवर अनुप्रेक्षा :–** अब संवर अनुप्रेक्षा का चिंतवन करता है। देखो भाई ! तप, संयम, धर्म ध्यान के द्वारा संवर होता है, जैसे जहाज के छिद्र को बन्द कर देने पर जल का जहाज में आना रुक जाता है वैसे ही तप, संयम, धर्मध्यान आदि के द्वारा कर्मों का आना बन्द हो जाता है।

(9) **निर्जरा अनुप्रेक्षा :–** अब निर्जरा अनुप्रेक्षा का चिंतवन करता है। देखो भाई ! आत्मा का चिंतवन करने से पूर्व में बंधे कर्म नाश को प्राप्त होते हैं। जैसे जहाज में भर गये जल को निकाल देने पर जहाज पार हो जाता है, उसीप्रकार आत्मा को कर्मों रूपी बोझ से हल्का कर दिये जाने पर आत्मा भी मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

(10) **लोक अनुप्रेक्षा :–** अब लोक अनुप्रेक्षा का चिंतवन करता है। देखो भाई ! ये तीनों लोक छह द्रव्यों से ही बने हैं, अन्य कोई इनका कर्त्ता नहीं है। इन छह द्रव्यों ने ही मिलकर इन तीनों लोकों को उत्पन्न किया है।

(11) **धर्म अनुप्रेक्षा :–** अब धर्म अनुप्रेक्षा का चिंतवन करता है। देखो भाई ! धर्म ही संसार में सार है, धर्म ही अपना मित्र है, धर्म ही अपना स्वजन है, धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई हित करने वाला नहीं है। अत: धर्म का ही साधन करो करूं, अब धर्म को ही आराधो। त्रिलोक में जितने भी उत्कृष्ट सुख हैं वे धर्म के प्रसाद से ही प्राप्त होते हैं, धर्म से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है। धर्म ही मेरा निज लक्षण है, धर्म ही मेरा निज स्वभाव है। अत: यह ही मुझे ग्रहण करना है अन्य कुछ नहीं ग्रहण करना, अन्य से मुझे क्या ?

(12) **बोधि दुर्लभ अनुप्रेक्षा :–** अब बोधि दुर्लभ अनुप्रेक्षा का चिंतवन करता है । देखो भाई ! संसार में एकेन्द्रिय पर्याय से दो इन्द्रिय पर्याय पाना दुर्लभ है । दो इन्द्रिय से तीन इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय से चार इन्द्रिय, इससे असैनी पंचेन्द्रिय, इससे भी सैनी पंचेंन्द्रिय पर्याय तथा उसमें भी मनुष्य पर्याय फिर मनुष्य पर्याय में भी धर्म की संगति, धर्म का संयोग दुर्लभ से दुर्लभतर है, ऐसा जानना । इससे भी सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति महादुर्लभ है ।

इसप्रकार वह देव भावना भाता हुआ आयुबल पूर्ण होने पर मनुष्य पर्याय में उच्च पद पर आ आसीन होता है ।

धर्म ही संसार में सार है । धर्म के समान अन्य कोई हितकारी नहीं है, मित्र नहीं है । अत: शीघ्र ही पाप कार्यों को छोडो, उसमें विलम्ब मत करो। अपने हित के इच्छुक पुरुष धर्म की ही इच्छा रखें, धर्म की ही शरण ग्रहण करो । बहुत कहने से क्या ? इसप्रकार श्री गुरु ने प्रश्न का उत्तर दिया, उपदेश दिया, आशीर्वाद दिया।

इन शुभ भावों को ज्ञाता (सम्यग्दृष्टि) मात्र जानता ही है ।

इसमें भूल-चूक हो गयी हो तो शास्त्रों के अनुसार जान लें, तथा बुद्धिमान व्यक्ति इसे शुद्ध कर लें। मेरा दोष ग्रहण न करना ।

इति स्वर्ग सुखों का वर्णन पूर्ण हुआ ।

–●–

नवम अधिकार : समाधिमरण का स्वरूप

अब यहां अपने इष्टदेव को नमस्कार कर अंतिम समाधिमरण के स्वरूप का वर्णन करते हैं। जिसे हे भव्य ! तू सुन, पहले उसके लक्षण का वर्णन करते हैं।

समाधि नि:कषाय शान्त परिणामों को कहते हैं। आगे और विशेष कथन करते हैं। सम्यग्ज्ञानी पुरुषों का तो यह सहज स्वभाव ही है कि वे समाधिमरण ही को चाहते हैं, उनको निरन्तर ऐसी ही भावना रहती है। मरण का अवसर आने पर वे इसप्रकार सावधान होते हैं, मानों सोये हुये सिंह को किसी पुरुष ने ललकारा हो। हे सिंह ! अपना पुरुषार्थ कर, तुझ पर दुश्मन की सेना आ रही है, अत: शीघ्र गुफा के बाहर निकल। जब तक बैरियों का समूह दूर है, तब तक निकलकर बैरियों की सेना को जीत ले। महन्त पुरुषों की यही रीति है।

उठते ही पहले उधर (सामने) से ऐसे वचन सुनकर शार्दुल सिंह तत्काल उठा तथा ऐसी गुंजार की (गरजा) कि मानों अषाढ के माह में इन्द्र ही गरजा है। सिंह की ऐसी गरज सुनकर बैरियों की फौज में से जो हाथी घोडे थे वे कांपने लगे तथा आगे पैर नहीं बढाया। कैसा है हाथियों का समूह ? हाथियों के हृदय में सिंह का आकार घुस गया है जिससे हाथी अब धीरज नहीं रख पा रहे हैं ? कैसा धीरज नहीं रख पा रहे हैं ? क्षण-क्षण में निहार कर रहे हैं, उनसे सिंह का पराक्रम सहा नहीं जा रहा है।

इसीप्रकार सम्यग्ज्ञानी पुरुष रूपी शार्दुल सिंह, अष्ट कर्म रूपी बैरी जो मरण समय विषयों के विशेषपने से (सम्यग्ज्ञानी को) जीतने का उद्यम कर रहे थे, ऐसे कर्मो को आया जानकर सिंह की ही भांति सावधान होते

हैं, कायरपने को दूर से ही छोडते हैं । सम्यग्ज्ञानी पुरुष कैसे हैं ? उनके हृदय में आत्म स्वरूप दैदिप्यमान प्रकट प्रतिभासित हो रहा है । कैसा प्रतिभासित हो रहा है ? ज्ञान-ज्योति को लिये आनन्द रस से झरता हुआ साक्षात पुरुषाकार अमूर्तिक चैतन्य का घनपिंड, अनन्त गुणों से पूरित चैतन्य देव मैं हूँ, ऐसा जानते हैं । उनको (अपने चैतन्य स्वरूप के) अतिशय से पर-द्रव्यों में रंच मात्र भी राग नहीं होता है । क्यों नहीं होता है ?

अपने निज स्वरूप को वीतराग, ज्ञाता-दृष्टा, पर-द्रव्यों से भिन्न, शाश्वत, अविनाशी जाना है, तथा उसके अतिशय से पर-द्रव्यों का (स्वभाव) गलना-बनना, क्षणभंगुर, अशाश्वत, अपने स्वभाव से भली प्रकार भिन्न अच्छी तरह जाना है । अत: सम्यग्ज्ञानी पुरुष मरण से क्यों डरें ? इस ही कारण सम्यग्ज्ञानी पुरुष मरण के अवसर पर क्या भावना भाते हैं तथा क्या विचार करते हैं ?

ऐसा जानते हैं कि अब इस शरीर का आयुबल अल्प रह गया है, यह चिन्ह मुझे प्रतिभासित हो रहे हैं, अत: मुझे सावधान होना उचित है, विलम्ब करना उचित नहीं है । जैसे सुभट रण-भेरी बजने के बाद दुश्मनों पर चढने में क्षण भर की भी देर नहीं करता, उसे वीर-रस चढ जाता है। मैं कब जाकर बैरियों से भिडूं तथा कब उन बैरियों को जीतूं, ऐसा जिसका अभिप्राय जाग रहा है ।

उसीप्रकार अब मुझे भी काल को जीतने का अभिप्राय है । इसलिये हे परिवार, कुटुम्ब बंधुओ ! आप सुनो, अहो देखो इस पुद्गल-पर्याय का चारित्र जो आंखों देखते उत्पन्न हुआ था उसीप्रकार अब विनश जावेगा । मैं तो पहले ही इसका स्वभाव विनाशशील जानता था । अब यह अवसर प्राप्त हुआ है । अब इस शरीर की आयु तुच्छ रह गयी है, उसमें भी यह क्षण-क्षण गलता (क्षीण होता) जा रहा है, इसे मैं ज्ञाता-दृष्टा हुआ देख रहा हूँ ।

मैं इसका पडौसी हूँ अत: पडौसी की ही भांति देख रहा हूँ कि शरीर का आयुबल कैसे पूर्ण होता है तथा शरीर का कैसे नाश होता है ? उसे मैं दर्शक बना टकटकी लगाकर देख रहा हूँ तथा इसका चारित्र (स्वरूप-स्वभाव) देखता हूँ । अनन्त पुद्गल परमाणुओं ने एकत्रित होकर इस पर्याय को उत्पन्न किया है, बनाया है । शरीर इनसे भिन्न कोई अन्य पदार्थ नहीं है । मेरा स्वरूप तो एक चैतन्य स्वभाव शाश्वत अविनाशी है तथा उसकी महिमा अद्भुत है, मैं किसको बताऊं ? देखो इस पुद्गल पर्याय का महात्म्य कि अनन्त परमाणुओं का एकसा परिणमन इतने दिनों तक रहा, यह बडा आश्चर्य है । अब ये पुदगल परमाणु भिन्न-भिन्न अन्य-अन्य स्वभाव रूप परिणमन करने लगें तो यह आश्चर्य नहीं है ।

जैसे लाखों पुरुष एकत्रित होकर मेला नाम की पर्याय बनाते हैं, कुछ दीर्घकाल पर्यन्त वह मेला पर्याय रहती है तो उसका आश्चर्य होता है कि इतने दिनों लाखों मनुष्यों का परिणमन एक-सा (कैसे) रहा, इसका विचार कर देखने वाले पुरुष को आश्चर्य होता है । फिर वे मनुष्य भिन्न-भिन्न दसों दिशाओं में चले जाते हैं तब मेले का नाश होता है । इतने पुरुषों का भिन्न-भिन्न परिणमन होना तो स्वभाव ही है, इसमें आश्चर्य कैसा ?

इसीप्रकार अब यह शरीर अन्य प्रकार परिणम रहा है तो अब यह स्थिर कैसे रहेगा ? अब इस शरीर पर्याय को रखने में कोई समर्थ नहीं है । वही कहते हैं – त्रिलोक में जितने भी पदार्थ हैं वे अपने-अपने स्वभाव रूप परिणमन करते हैं, कोई किसी अन्य को परिणमन नहीं कराता, कोई किसी का कर्त्ता नहीं है तथा कोई किसी का भोक्ता भी नहीं है । स्वयं आते हैं, स्वयं जाते हैं, स्वयं मिलते हैं, स्वयं बिछुडते हैं, स्वयं गलते हैं, स्वयं बनते हैं, अत: मैं इनका कर्त्ता, भोक्ता कैसे ? मेरे रखने की चेष्ठा से यह शरीर कैसे रहेगा तथा मेरे दूर करने से यह शरीर कैसे दूर होगा ?

इसमें मेरा कोई कर्तव्य है ही नहीं, झूंठ ही अपने को कर्त्ता मानता था, जिसके कारण मैं अनादि काल से खेद-खिन्न, आकुल होकर महा

दु:ख पाता था ? यह बात तो न्याय संगत ही है कि जिसका किया तो कुछ हो नहीं, वह पर का कर्त्ता कैसे हो ? पर-द्रव्य को अपनी इच्छा के अनुसार परिणमाना चाहे तो दु:ख ही होगा क्योंकि पर-द्रव्य तो अपने स्वभाव के अनुसार परिणमेगा, इसकी इच्छा के अनुसार तो परिणमेगा नहीं, तब दु:ख ही होगा ।

इसलिये मैं तो केवल मेरे एक ज्ञायक स्वभाव का ही कर्त्ता हूं तथा उसी का भोक्ता हूं, उसी का वेदन करता हूं, उसी का अनुभव करता हूं । इस शरीर के चले जाने से मेरा कुछ भी बिगाड नहीं है तथा शरीर के रहने से भी मुझे कुछ लाभ नहीं है । इस शरीर में जो जानपने रूप चमत्कार है वह तो मेरा स्वभाव है, इस शरीर का स्वभाव नहीं है । शरीर तो प्रत्यक्ष मुर्दा है, मेरे इस शरीर में से निकलते ही इस शरीर को मुर्दा जानकर जला दिया जावेगा । मेरे कारण ही जगत इस शरीर का आदर करता है । जगत को इसका ज्ञान नहीं की आत्मा तो अलग है तथा शरीर अलग है । इस अज्ञान के कारण ही जगत भ्रम बुद्धि से इस शरीर को अपना जानकर इसमें ममत्व करता है, इसके जाने पर बहुत दु:खी होता है, बहुत शोक करता है । क्या शोक करता है ?

हाय ! हाय ! मेरा पुत्र तू कहां गया ? हाय ! हाय ! मेरा पति तू कहां गया ? हाय ! हाय ! पुत्री तू कहां गयी ? हाय ! हाय ! माता तुम कहां गई ? हाय ! हाय ! पिता तू कहां गया हाय ! हाय ! इष्ट भ्राता तू कहां गया ? इत्यादि अनेक प्रकार विरह का विलाप करके अज्ञानी जीव इस पर्याय को सत्य जानकर विलाप करता है तथा महा दु:ख और क्लेश पाता है ।

ज्ञानी पुरुष इसप्रकार विचार करता है – अहो ! किसका पुत्र, किसकी स्त्री, किसका पति, किसकी पुत्री, किसकी माता, किसका पिता, किसकी हवेली, किसका मंदिर, किसका धन, किसका माल, किसके आभूषण, किसके वस्त्र इत्यादि सारी सामग्री दिखती तो बहुत रमणीक सी हैं, परन्तु

वस्तु-स्वभाव को विचारने से किसी के कुछ भी नहीं हैं । जो वस्तु सारभूत होती तो वह स्थिर रहती, नाश को क्यों प्राप्त होती ? अत: मैं ऐसा जानकर सर्व लोक में पुद्गल की जितनी पर्यायें हैं उनका ममत्व छोडता हूं तथा उसीप्रकार इस शरीर का भी ममत्व छोडता हूं । शरीर के जाने का मेरे परिणामों में अंश मात्र भी खेद नहीं है । ये शरीर आदि जो-जो सामग्री हैं वे चाहे जैसे परिणमन करें, मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है । चाहे ये छीजें, चाहे भीजें, चाहे प्रलय को प्राप्त हों, चाहे अब आ मिलें, चाहे जाती रहें, मुझे कुछ भी मतलब नहीं है ।

देखो ! मोह का प्रत्यक्ष स्वभाव, ये सब वस्तुयें पर हैं तथा विनाशीक भी हैं, पर-भव में तथा इस भव में दु:खदायी हैं, फिर भी यह संसारी जीव इन्हें अपनी जानकर इनकी रक्षा ही करने की चेष्टा करता है । मैं तो इनका ऐसा परिणमन देख कर ज्ञाता-दृष्टा हुआ हूँ । मेरा तो एक ज्ञान-स्वभाव है, उस ही का अवलोकन करता हूँ । मृत्यु का आगमन देखकर मैं डरता नहीं हूँ । काल तो इस शरीर का होगा, मेरा नहीं । जैसे मक्खी दौड-दौड कर मिष्ट आदि वस्तुओं पर ही जा कर बैठती है, अग्नि पर कभी नहीं बैठती, वैसे ही यह मृत्यु दौड-दौड कर शरीर ही का भक्षण करती है, मुझ से दूर ही भागती है ।

मैं तो अनादि काल का अविनाशी चैतन्यदेव लोक द्वारा पूज्य ऐसा पदार्थ हूँ, जिसपर काल का जोर चलता नहीं है । अत: अब कौन मरेगा, कौन जीवेगा, कौन मरण का भय करे । मुझे तो मरण दिखता नहीं है । जो मरेगा वह तो पहले ही मरा (जड) था तथा जो जीता है वह पहले से ही जीता था वह कभी मरेगा नहीं । मोह के कारण अन्यथा भासित होता था सो अब मेरा मोह कर्म नष्ट हो गया है, इसलिये जैसा वस्तुका स्वभाव है वैसा ही मुझे प्रतिभासित हो रहा है । उसमें जन्म-मरण तथा सुख-दु:ख कुछ दिखते नहीं हैं, अत: अब मैं क्यों सोच करूं ? मैं तो एक चैतन्य

धातुमय मूर्ति सदा शाश्वत बना हूँ, उसका अवलोकन करते मरण आदि का दु:ख कैसे व्याप्त हो सकेगा ?

मैं और कैसा हूँ ? ज्ञानानन्द निजरस से पूर्ण हूँ, शुद्धोपयोगी हूँ, ज्ञान रस का आचमन करता हूँ। ज्ञान अंजुलि के द्वारा शुद्धामृत का पान करता हूँ। यह निज शुद्धामृत मेरे स्वभाव से ही उत्पन्न हुआ है, अत: स्वाधीन है, पराधीन नहीं है अत: इसके भोग में कुछ भी परेशानी नहीं हैं। मैं और कैसा हूँ ?

अपने निज स्वभाव में स्थित हूँ, अडोल हूँ, अकंप हूँ। स्वरस के अतिशय रूप से भरा हूँ तथा ज्वलित अर्थात दैदिप्यमान ज्ञान ज्योति से प्रकट अपने ही निज स्वरूप में स्थित हूँ। देखो ! इस चैतन्य स्वरूप की अद्भुत महिमा जिसके ज्ञान स्वभाव में समस्त ज्ञेय पदार्थ स्वयमेव आकर झलकते हैं, पर वह ज्ञान स्वभाव ज्ञेय रूप नहीं परिणमित होता है। उसको जानते हुये भी अंश मात्र भी विकल्पता नहीं होती है, अत: निर्विकल्प, अभोगित, अतीन्द्रिय, अनुपम, बाधा रहित होने से उससे जो अखंड सुख उत्पन्न होता है वैसा सुख संसार में दुर्लभ है। अज्ञानी जीव को तो सुख का आभास मात्र है।

मैं और कैसा हूँ ? ज्ञानादि गुणों से भरपूर हूँ। उन गुण आदि से गुणमय एक वस्तु हूँ अथवा अनन्त गुणों की खान हूँ। और कैसा हूँ ? मेरा चैतन्य स्वरूप ही जहां-तहां सर्वांग में व्याप्त है। जिसप्रकार नमक की डली में नमक (खारापन) व्याप्त होता है अथवा शक्कर (मिश्री) की डली में सर्वत्र मीठापन व्याप्त होता है अथवा जैसे शक्कर की कणिका में अकेला एक अमृत ही व्याप्त होता है, वैसे ही मैं भी एक ज्ञान का बना हुआ पिंड हूँ।

मेरे सर्वांग में ज्ञान ही ज्ञान का पुंज है तथा इसीप्रकार मानों शरीर का निमित्त पाकर शरीर के आकार रूप मेरा ही आकार है तथा वस्तु द्रव्य-

स्वभाव को विचारने पर तीन लोक प्रमाण मेरा आकार है । अवगाहना शक्ति के कारण वर्तमान आकार में इसका आकार ही समा गया है । एक-एक प्रदेश में असंख्यात प्रदेश भिन्न-भिन्न स्थित है । सर्वज्ञ देव ने इसीप्रकार अलग-अलग देखे हैं । इनमें संकोच विस्तार की शक्ति है ।

मेरा निज स्वरूप और कैसा है ? अनन्त आत्मिक सुख का भोक्ता है, केवल सुख की ही मूर्ति है चैतन्य पुरुषाकार है । जिसप्रकार मिट्टी के सांचे (शुद्ध रूपा अर्थात चांदी डालकर) एक शुद्ध चांदी मय धातु का पिंड रूप बिम्ब बनाया जाता है, उसीप्रकार शरीर में आत्माकार स्वभाव से ही जानना । मिट्टी का सांचा समय पाकर गल जावे अथवा नष्ट हो जावे, फूट जावे तब भी वह बिम्ब ज्यों का त्यों रह जाता है, बिम्ब का नाश होता नहीं । दो वस्तुयें (आत्मा और शरीर) पहले से ही भिन्न-भिन्न थीं, एक का नाश होने पर दूसरी का नाश कैसे हो ? ऐसा नित्य नियम है ।

उसीप्रकार शरीर काल पाकर गले तो गलो मेरे स्वभाव का तो विनाश है नहीं । मैं किस बात का सोच करूं? यह चैतन्य स्वरूप आकाशवत निर्मल से भी निर्मल है । जैसे आकाश में किसी प्रकार का विकार नहीं है, वह तो एक शुद्ध निर्मलता का पिंड है । यदि कोई आकाश को खडग से छेदना चाहे अथवा अग्नि से जलाना चाहे अथवा जल से गलाना जाहे तो वह आकाश छेदा भेदा नहीं जा सकता। कुछ भी जलो, कुछ भी गलो किसी भी प्रकार उस आकाश का नाश नहीं है । कोई आकाश को पकडना चाहे तथा तोडना चाहे तो वह आकाश कैसे पकडा अथवा तोडा जा सकता है।

उसीप्रकार मैं भी आकाशवत अमूर्तिक, निर्मल, निर्विकार, अकेला, निर्मलता का एक पिंड हूँ, मेरा किसी भी प्रकार से नाश होता नहीं, हो सकता नहीं, यह नियम है । यदि आकाश का नाश हो सकता हो तो मेरा

नाश हो, ऐसा जानना। पर आकाश के स्वभाव में तथा मेरे स्वभाव में एक विशेष अन्तर है । आकाश तो जड मूर्तिक पदार्थ है तथा मैं चैतन्य, अमूर्तिक पदार्थ हूँ । मैं चैतन्य हूँ तभी तो यह विचार पाया कि यह आकाश जड है तथा मैं चेतन हूँ । मुझमें यह जानपने का गुण प्रकट विद्यमान दिखाई देता है पर आकाश में तो यह गुण दिखाई देता नहीं है, यह नि:संदेह है ।

मैं और कैसा हूं ? जिसप्रकार दर्पण स्वच्छ शक्ति का पिंड है, उसकी स्वच्छ शक्ति उसकी स्वच्छता स्वयमेव ही है जिससे घट-पट आदि पदार्थ उसमें झलकते हैं, दर्पण पदार्थों को स्वयमेव झलकाता है, उसीप्रकार शुद्धात्मा में भी ऐसी स्वच्छ शक्ति व्याप्त होकर स्वभाव में स्थित है । सर्वांग में एक शुद्धता स्वच्छता भरी हुई है । पर स्वच्छता अलग है तथा ज्ञेय पदार्थ अलग हैं । स्वच्छ शक्ति का यह स्वभाव है कि उसमें पदार्थों का प्रतिबिम्ब आ ही जाता है ।

मैं और कैसा हूं ? अनन्त अतिशय से निर्मल साक्षात ज्ञानपुंज बना हूँ तथा अत्यन्त शान्त रस से पूर्ण भरा हूँ, एक अभेद निराकुलता से व्याप्त हूँ । मेरा चैतन्य स्वरूप और कैसा है ? अपनी अनन्त महिमा पूर्वक विराजमान है, किसी की सहायता की आवश्यकता ही नहीं है, ऐसे स्वभाव को धारण किये हुये स्वयंभू हूँ। मेरा स्वभाव एक अखंड, ज्ञानमूर्ति, पर-द्रव्य से भिन्न, शाश्वत अविनाशी परमदेव ही है । इससे उत्कृष्ट देव किसे मानूं ? यदि तीन लोक में कोई ऐसा हो तो मानूं ।

यह ज्ञान स्वभाव और कैसा है ? अपने स्वरूप को छोडकर अन्य रूप नहीं परिणमित होता है, निज स्वभाव की मर्यादा को नहीं छोडता है। जैसे समुद्र जल राशि से भरा है, पर अपने स्वभाव (अपनी मर्यादा) को छोडकर आगे गमन नहीं करता है, फिर भी अपनी तरंगावली रूपी लहरों द्वारा अपने स्वभाव (मर्यादा) में ही भ्रमण करता है। उसीप्रकार

यह ज्ञान समुद्र शुद्ध परिणति की तरंगों सहित अपने सहज स्वभाव में भ्रमण करता है ।

ऐसी अद्भुत महिमा पूर्वक विराजमान मेरा स्वरूप-परमदेव इस शरीर के भीतर शरीर से भिन्न अनादि काल से स्थित है । मेरा तथा इस शरीर का पडौसी जैसा सम्बन्ध है । मेरा स्वभाव अन्य प्रकार का तथा इसका स्वभाव अन्य प्रकार का है । मेरा परिणमन अन्य प्रकार तथा इसका परिणमन अन्य प्रकार है । अब यह शरीर गलन स्वभाव रूप परिणम रहा है तो मैं क्यों सोच (चिंता) करूं, क्यों दु:खी होऊं ? मैं तो तमाशा देखनेवाला दर्शक रूप से स्थित हूं ।

मुझे इस शरीर से राग-द्वेष नहीं है । राग-द्वेष जगत में निंद्य है, परलोक में महादु:खदायी है तथा ये राग-द्वेष हैं वे मोह के कारण ही उत्पन्न होते हैं । जिसके मोह का नाश हो गया है उसके राग-द्वेष का भी नाश हो गया। मोह के कारण ही पर-द्रव्य में अहंकार-ममकार उत्पन्न होते हैं । ये पर-द्रव्य हैं वे मैं ही हूं, ऐसा तो अहंकार तथा ये द्रव्य मेरे हैं ऐसा ममकार उत्पन्न होता है । पुन: वे सामग्री चाहने पर तो आती नहीं तथा छोडने पर जाती नहीं, इसकारण ही यह आत्मा खेद-खिन्न होता है ।

यदि उस समस्त सामग्री को पराये की जानें तो उनके आने-जाने पर विकल्प क्यों करे ? मेरे मोह का तो पहले ही भलीभांति नाश हो चुका है, मैने तो शरीर आदि सामग्री को पहले ही पराई जानी थी, अत: अब मुझे इस शरीर के जाने का विकल्प काहे को उत्पन्न हो ? विकल्प उत्पन्न कराने वाले मोह का तो मैं भलीभाँति नाश कर चुका हूँ। अत: मैं निर्विकल्प, आनन्दमय, निज स्वरूप को बराबर सम्हालता तथा याद करता स्वभाव में ही स्थित हूँ।

यहाँ कोई कहता है :- यह शरीर तुम्हारा तो नहीं है, परन्तु इस शरीर के निमित्त से यही मनुष्य पर्याय में भली प्रकार शुद्धोपयोग का

साधन बनता था, अत: इसका उपकार मानकर इसे रखने का उद्यम बने तो अच्छा है, इसमें हानि तो कुछ है नहीं ।

उससे कहते हैं :– हे भाई ! तुमने जो कहा उसे तो हम भी मानते हैं । मनुष्य पर्याय में शुद्धोपयोग का तथा ज्ञानाभ्यास का साधन होता है एवं ज्ञान-वैराग्य को बढाने इत्यादि अन्य भी अनेक गुणों की वृद्धि होती है; वैसी अन्य पर्याय में दुर्लभ है। अपने संयम आदि गुण रहते शरीर रहे तो भला ही है । मुझे शरीर से कोई बैर तो है नहीं, पर यदि यह नहीं रहता है तो अपने संयम आदि गुणों को निर्विघ्नपने रखने के लिये इस शरीर का ममत्व अवश्य छोडना चाहिये । शरीर के वश संयम आदि गुणों को कदापि नहीं खोना चाहिये।

जैसे कोई रत्नों का लोभी पुरुष अन्य देश से आकर रत्नद्वीप में फूस की झोंपडी बनाता है तथा इस झोंपडी में रत्न ला-लाकर एकत्रित करता है। पर यदि झोंपडी में आग लग जावे तो वह बुद्धिमान पुरुष ऐसा विचार करता है कि किस प्रकार अग्नि को बुझाया जाकर रत्नों सहित इस झोंपडी को बचाया जा सकता है ? यदि झोंपडी रहे तो इसके आश्रय से बहुत रत्न एकत्रित करूंगा । इसप्रकार यदि वह पुरुष अग्नि के बुझती जानता है तो रत्नों को रखते हुये उसे बुझाता है । पर यदि कोई ऐसा कारण देखे कि रत्न जाने पर ही झोंपडी रह सकती है, तो कभी झोंपडी रखने का प्रयत्न नहीं करता, झोंपडी को जल जाने देता है तथा आप सम्पूर्ण रत्नों को लेकर उस देश से चला जाता है वह एक दो रत्न बेचकर अनेक प्रकार के वैभव भोगता है, अनेक प्रकार के स्वर्णमय-रूपामय महल मकान बाग आदि बनवा लेता है तथा कुछ समय उनमें रहकर रंग-राग सुगन्धमय आनन्द क्रीडा करते हुये निर्भय हुआ अत्यन्त सुख से रहता है।

उसीप्रकार भेद-विज्ञानी पुरुष हैं वे शरीर के लिये अपने संयम आदि गुणों में अतिचार भी नहीं लगाते हैं । ऐसा विचार करते हैं कि संयम आदि

गुण रहेंगे तो मैं विदेह-क्षेत्र में जाकर जन्म लूंगा तथा तीर्थंकर केवली भगवान के चरणारविंद में क्षायिक सम्यक्त्व के प्रारम्भ का निष्ठापन करूंगा तथा पवित्र होकर तीर्थंकर देव के निकट दीक्षा लूंगा। नाना प्रकार के दुर्धर तपश्चरण ग्रहण करूंगा तथा जन्म मरण के संचित पापों का अतिशयरूप से नाश करूंगा।

अनेक प्रकार के संयम ग्रहण करूंगा तथा अनेक प्रकार के मनवांछित प्रश्न करूंगा। उन अनेक प्रकार के प्रश्नों के उत्तर सुनकर सर्व पदार्थों का तथा काल का स्वरूप जानूंगा। राग-द्वेष संसार के कारण हैं उनका शीघ्र अतिशय रूप से जड-मूल से नाश करूंगा। श्री परमदयालु, आनन्दमय, केवली भगवान, अद्भुत लक्ष्मी से संयुक्त जिनेन्द्रदेव के स्वरूप को देखकर दर्शन रूप अमृत का अतिशय रूप से अर्चन करने से मेरे कर्म-कलंक रूपी रज धो-धाकर मैं पवित्र होऊंगा।

सीमन्धर स्वामी आदि बीस तीर्थंकर तथा बहुत से केवली तथा अनेक मुनिराजों के समूह का दर्शन करूंगा। जिसके अतिशय से शुद्धोपयोग अत्यन्त निर्मल होगा तथा स्वरूप में विशेष लगूंगा एवं क्षपक श्रेणी चढने के सम्मुख होऊंगा। पश्चात् बहुत शक्तिशाली कर्मो के सम्मुख डटा रहकर उन्हें पटक-पटक कर एक-एक को जडमूल से नाश कर केवलज्ञान प्राप्त करूंगा। जिससे एक ही समय में समस्त लोकालोक के त्रिकाल सम्बन्धी चराचर पदार्थ मुझे भी दिखने लगेंगे तथा ऐसा ही स्वभाव फिर शाश्वत बना रहेगा।

मैं जो ऐसी लक्ष्मी का स्वामी हूँ उसे इस शरीर से ममत्व कैसे हो सकता है ? सम्यग्ज्ञानी पुरुष ऐसा विचार करता रहता है कि मुझे दोनों ही प्रकार आनन्द है, यदि शरीर रहेगा तो फिर शुद्धोपयोग की ही आराधना करूंगा तथा यदि शरीर नहीं रहा तो परलोक में जाकर भी शुद्धोपयोग की ही आराधना करूंगा। मुझे तो अपने शुद्धोपयोग की आराधना में किसी

भी प्रकार का विघ्न दिखता नहीं है, तब मेरे परिणामों में क्यों क्लेश उत्पन्न हो ?

मेरे परिणाम शुद्ध स्वरूप में अत्यन्त आसक्त हैं, उन्हें चलायमान करने में, छुडाने में कोई ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, धरणेन्द्र आदि भी समर्थ नहीं हैं। केवल एक मोह कर्म समर्थ था उसे मैंने पहले ही जीत लिया है इसलिये अब तीन काल में भी मेरा कोई शत्रु नहीं रहा तथा न ही मुझे किसी से बैर है। अत: त्रिकाल, त्रिलोक में मुझे दु:ख है नहीं। फिर हे सभा के लोगो ! मुझे इस मरण का भय कैसे कहते हो ? मैं अब सर्व प्रकार से निर्भय हुआ हूँ, आप सभी यह बात भली प्रकार जान लें, इसमें संदेह न करें।

शुद्धोपयोगी पुरुष इसप्रकार शरीर की स्थिति पूर्ण रूप से जानता है तथा ऐसे विचार कर आनन्द से रहता है, उसे किसी प्रकार की आकुलता उत्पन्न नहीं होती। आकुलता ही संसार का बीज है, इस बीज के कारण ही संसार की स्थिति है। आकुलता से बहुत कांल के संचित हुये संयम आदि गुण, जैसे अग्नि में रुई भस्म हो जाती है, उस ही प्रकार भस्म हो जाते हैं। अत: जो सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं उन्हें तो किसी भी प्रकार की आकुलता करना योग्य नहीं है। निश्चय रूप से एक स्वरूप का ही बार-बार विचार करना, उसी के गुणों का चिन्तन करना, उसी की पर्याय की अवस्था का विचार करना, उसी का स्मरण करना, उसी में स्थित रहना योग्य है।

यदि कदाचित शुद्ध स्वरूप से उपयोग चलायमान हो तो ऐसा विचार करना कि यह संसार अनित्य है, इस संसार में कुछ भी सार नहीं है, यदि कुछ सार होता तो तीर्थंकर ही इसे क्यों छोडते ? अत: अब निश्चय से तो मुझे मेरा स्वरूप ही शरण है, बाह्य में पंचपरमेष्ठी, जिनवाणी अथवा रत्नत्रय धर्म शरण हैं। अन्य कुछ स्वप्न मात्र भूले बिसरे भी मेरे अभिप्राय में मुझे शरण नहीं है, मेरे यह नियम है।

ऐसा विचार कर पुन: स्वरूप में उपयोग को लगाता है तथा फिर भी वहाँ से उपयोग चलायमान हो अथवा हटे तो अरिहन्त, सिद्ध के आत्मिक स्वरूप का अवलोकन करता है एवं उनके द्रव्य-गुण-पर्याय का विचार करता है । उनके द्रव्य-गुण-पर्याय का विचार करते-करते जब उपयोग निर्मल हो जाता है तब फिर अपने स्वरूप में लगता है कि मेरा स्वरूप अरिहन्त, सिद्ध के स्वरूप जैसा ही है तथा अरिहन्त, सिद्ध का स्वरूप भी मेरे स्वरूप जैसा ही है ।

वह कैसे ? द्रव्यत्व स्वभाव में तो अन्तर है ही नहीं, पर्याय स्वभाव में ही अन्तर है, पर मैं तो द्रव्यत्व स्वभाव का ग्राहक हूं, अत: अरिहन्त का ध्यान करते आत्मा का ध्यान भली प्रकार सधता है, क्योंकि अरिहन्त के स्वरूप में तथा आत्मा के स्वरूप में अन्तर नहीं है । चाहे तो अरिहन्त का ध्यान करो, चाहे आत्मा का ध्यान करो । ऐसा विचार करते हुये सम्यग्दृष्टि पुरुष सावधान हुआ स्वभाव में स्थित रहता है ।

ममत्व छुड़ाने की प्रक्रिया :- इससे आगे अब क्या विचार करता है तथा कैसे कुटुम्ब-परिवार आदि से ममत्व छुडाता है वह कहते हैं - अहो ! इस शरीर के माता-पिता आप भली प्रकार जानते हैं कि यह शरीर इतने दिन आपका था, अब आपका नहीं है। अब आयुबल पूर्ण हो रहा है वह किसी के रखने से रहेगा नहीं । इसकी इतनी ही स्थिति थी, अत: अब इससे ममत्व छोडें । इससे ममत्व करने से क्या होने वाला है, अब इससे प्रीति करना दु:ख का ही कारण है ।

यह शरीर पर्याय तो इन्द्र आदि देवों का भी विनाशशील है, इसका मरण (अन्त) आता है तब इन्द्र आदि देव भी बार-बार मुंह देखते रह जाते हैं । सब देव-समूह को देखते-देखते ही काल-किंकर इसे उठा ले जाता है । यह किसी की भी शक्ति नहीं की काल की ढाढ में से छुडाकर क्षण-मात्र भी इसे रखले । यह काल-किंकर एक-एक को ले जाकर सब का

भक्षण करेगा । जो अज्ञान के कारण काल के वश रहेंगे उनकी यही गति होगी । आप सब मोह के वश होकर पराये (यहां मेरे) शरीर में ममत्व कर रहे हैं तथा इसे रखना चाहते हैं, आपको मोह के वश संसार का झूंठा चरित्र (नाशशील परिणमन)दिख नहीं रहा है। अन्य के शरीर को रखना तो दूर रहा, आप पहले अपने शरीर को तो रखें, फिर अन्य के शरीर को रखने का उपाय करना ।

आप की यह भ्रम बुद्धि है वह व्यर्थ ही दु:ख देने के लिये ही है । आपको यह प्रत्यक्ष दिख नहीं रहा है कि आज से पहले इस संसार में काल ने किसको छोडा है जो अब किसी को छोडेगा । इसलिये हाय ! देखो यह कैसे आश्चर्य की बात है कि आप लोग काल से निर्भय हुये हैं । यह आप लोगों का क्या अज्ञानपना है, आप लोगों का क्या होनहार है, वह मैं नहीं जानता । अत: आप से ही पूछता हूँ । आप को आपा-पर (स्व-पर) का कुछ विवेक है या नहीं ?

मैं कौन हूँ, कहां से आया हूँ, मैं यह पर्याय पूर्ण कर कहां जाऊंगा ? तथा जिन पुत्र आदि से (आपको) प्रीति है वे कौन हैं ? इतने दिनों हमारा (आपका) पुत्र कहां था, अब हमें (आपको) ममता बुद्धि हुई है, उसके वियोग का हमें (आपको) शोक उत्पन्न हुआ है ? अत: आप सब सावधान होकर विचार करें तथा भ्रम रूप न रहें । आप तो अपना स्वयं का कार्य विचारेंगे तब सुख पावेंगे । पर (दूसरे) का कार्य-अकार्य तो दूसरे के हाथ में है, उसमें आपका कुछ भी कर्तव्य नहीं है । आप व्यर्थ ही क्यों खेद खिन्न होते हैं ? मोह के वश होकर अपने-आप (स्वयं) को संसार में क्यों डुबाते हैं ?

संसार में नरक आदि के दु:ख आपको स्वयं को ही सहने होंगे । आपके किये (कर्मों अथवा मोह का फल) अन्य तो कोई सहेगा नहीं । जिनधर्म का ऐसा तो कोई उपदेश (सिद्धान्त-मान्यता) है नहीं कि करे कोई तथा

भोगे कोई दूसरा । अत: मुझे तो आप पर उल्टी दया आती है, आप मेरा उपदेश ग्रहण करें, मेरा उपदेश आपको महा सुखदायी है । कैसे सुखदायी है ? वह बताते हैं – मैने तो यथार्थ जिनधर्म का स्वरूप जाना है तथा आपने जाना नहीं है, अत: आपको यह मोह दु:ख दे रहा है । मैने जिनधर्म के प्रताप से भली प्रकार मोह को जाना है, जिसे एक जिनधर्म का ही अतिशय जानें । अत: आपको भी जिनधर्म का स्वरूप विचारना ही कार्यकारी है ।

देखो ! आप प्रत्यक्ष ज्ञाता-दृष्टा आत्मा हैं तथा शरीर आदि पर (अन्य-भिन्न) वस्तुयें है । सब अपने स्वभाव रूप स्वयं परिणमन करती हैं, किसी के रखे रहती नहीं । भोले जीवों की बुद्धि भ्रमित है, अत: आप भ्रम बुद्धि छोडें, एक स्व-पर का सही-सही विचार करें तथा जिससे अपना हित सधे वही करें । विचक्षण पुरुषों की यही रीति है कि एक अपने हित को ही चाहते हैं, बिना प्रयोजन (निज हित) के एक कदम भी रखते नहीं हैं ।

आप मुझसे जितना अधिक ममत्व करेंगे, उतना ही वह आपको अधिक दु:ख का कारण होगा । उससे कुछ भी कार्य सधना नहीं। इस जीव ने अनन्त बार अनन्त माता-पिताओं को पाया, वे सब अब कहां गये? तथा अनन्त बार ही इस जीव को स्त्री-पुत्र-पुत्री के संयोग मिले, वे सब अब कहां गये? पर्याय-पर्याय में भाई-कुटुम्ब-परिवार आदि बहुत पाये, वे सब भी अब कहां गये? संसारी जीव हैं वे तो पर्याय-मूढ हैं, जैसी पर्याय धारण करते हैं वैसे ही स्वयं को मानते हैं तथा पर्याय में तन्मय होकर परिणमन करते हैं । यह नहीं जानते कि पर्याय-स्वभाव तो विनाशशील है। हमारा निज-स्वरूप है वह शाश्वत अविनाशी है, ऐसा विचार उन्हें उत्पन्न ही नहीं होता है । अत: आपको क्या दूषण है ?

यह तो मोह का महात्म्य है कि प्रत्यक्ष झूंठी बात को भी सत्य दिखाता है तथा जिनका मोह नाश को प्राप्त हुआ है वे भेद-विज्ञानी पुरुष हैं, वे इस पर्याय में कैसे अपनत्व करें ? कैसे इसे सत्य मानें ? ये पर्यायें किस की

चलाई चली हैं? कदापि नहीं चलती ? ऐसा मुझे यथार्थ ज्ञानभाव हुआ है तथा स्व-पर का यथार्थ निर्णय हुआ है, अत: मुझे ठगने में कौन समर्थ है ? अनादि काल से पर्याय-पर्याय में बहुत ठगाया गया हूं जिसके कारण भव-भव में जन्म-मरण के दु:ख सहे हैं । अत: आप भली प्रकार जान लें कि मेरा तथा आप का इतने ही दिन का सम्बन्ध था, जो अब पूरा हुआ।

आप सब को भी आत्म कार्य करना ही उचित है, आप भी अपने शाश्वत निजस्वरूप को सम्हालें । उसमें किसी प्रकार का खेद नहीं है, किसी से याचना नहीं करना है । आपके अपने ही घर में महा अमूल्य निधि है, जिसे सम्हालने से जन्म-मरण के दु:ख दूर हो जाते हैं । संसार में जितने भी दु:ख हैं वे सब स्वयं में अज्ञान के कारण अथवा स्वयं को न जानने के कारण हैं, अत: एक ज्ञान की ही आराधना करनी चाहिये।

ज्ञान स्वभाव है वही अपना निजस्वरूप है, उसे पाने पर ही जीव महासुखी होता है । उसे न पाने से ही महादु:खी है । ये प्रत्यक्ष देखने-जानने-वाला ज्ञायक पुरुष है वह शरीर से भिन्न है, जो अपना स्वभाव है उसको छोडकर अन्य किस बात में प्रीति करे ? जैसे सोलहवें स्वर्ग का कल्पवासी देव कौतुक के लिये मध्यलोक में आकर किसी रंक के शरीर में प्रवेश करके रंक की सी क्रियायें करने लगे।

यह कभी तो काठ का भार सर पर रख कर बाजार में बेचने जावे, कभी मिट्टी का पात्र लेकर माता अथवा स्त्री के पास रोटी मांगने लगे। कभी पुत्र -आदि को लेजाकर खिलाने लगे तथा कभी राजा के पास जाकर याचना करने लगे – महाराज ! मैं आजीविका के लिये बहुत दु:खी हूं, मेरा प्रतिपालन करें – कभी टका (एक रुपये का बत्तीसवां भाग, लगभग तीन पैसे) मजदूरी लेकर हंसिया लेकर खडे गीले हरे घास को काटने लगे । कभी रुपये दो रुपये की वस्तु के खो जाने पर विलाप करने लगे ।

कैसे विलाप करने लगे ? अरे बारे ! अब मैं क्या करूं, मेरा धन चोर

ले गये । मैने बडा परिश्रम करके कमा कर एकत्रित किया था, वह आज जाता रहा, अब मैं कैसे काल पूरा करूंगा? कभी नगर से भागने लगे तथा उसके लिये वह पुरुष एक लडके को तो कंधे पर बैठाले, एक लडके की अंगुली पकडे, स्त्री तथा पुत्री को आगे करके तथा साथ में सूपा, चलनी तथा खाना पकाने की हंडिया, झाडू आदि सामग्री का टोकरा भरकर स्त्री के सर रख दे। एक दो बिस्तर आदि का गट्ठर बांधकर खुद के सर पर लेकर आधी रात को नगर से बाहर निकले । राह में राहगीर, ठग मिलें तथा पूछने लगें – हे भाई ! तुम कहां चले ? तब वह पुरुष कहे – इस नगर में शत्रुओं की फौज आई है, अत: हम अपना धन लेकर भाग् रहे हैं, अन्य नगर में जाकर गुजारा करेंगे ।

इत्यादि नाना प्रकार की क्रियायें करता हुआ भी वह कल्पवासी देव अपने सोलहवें स्वर्ग के वैभव को क्षण मात्र भी नहीं भूलता है । उस वैभव का अवलोकन कर महासुखी हुआ विचरण करता है तथा रंक पुरुष की पर्याय में हुई नाना प्रकार की अवस्थाओं का रंच मात्र भी अंहकार-ममकार नहीं करता है, केवल एक सोलहवें स्वर्ग की अपनी देवांगनाओं में, वहां के वैभव में एवं अपने देव पुनीत स्वरूप में ही उसे एकत्व रहता है, उसीप्रकार मैं सिद्ध स्वरूप आत्म द्रव्य की इस पर्याय में नाना प्रकार की चेष्ठा करता हुआ भी अपनी मोक्ष-लक्ष्मी को नहीं भूला हूं, तब इस लोक में काहे का भय करूं ?

स्त्री से ममत्व त्याग :– इसके बाद वह स्त्री से ममत्व छुडाता है, वह कहता है – अहो ! इस शरीर की स्त्री, अब इस शरीर से ममत्व छोडो । तेरा तथा इस शरीर का इतना ही संयोग था, वह अब पूरा हुआ। तेरी आवश्यकतायें अब इस शरीर से पूरी नहीं होती, इसलिये अब मोह छोड । बिना प्रयोजन खेद मत कर, तेरे रखे यह शरीर रहे तो रख ले, मैं तो तुझे रोकूंगा नहीं । यदि तेरे रखे भी यह शरीर रहता नहीं है तो मैं क्या

करूं ? यदि तू विचार कर देखे तो तू भी आत्मा है, मैं भी आत्मा हूं। स्त्री-पुरुष रूप तो पर्यायें हैं, वे पौद्गलिक हैं, उनसे कैसी प्रीति ? शरीर जड तथा आत्मा चैतन्य ऊंट-बैल का सा जोडा है, अत: यह संयोग कैसे बना रहेगा ? तेरी पर्याय को भी तू चंचल जान। अपने बारे में तू क्यों विचार नहीं करती ? हे पत्नी ! रात-दिन भोग किये उससे क्या सिद्धि हुई तथा अब क्या सिद्धि होने वाली है ? व्यर्थ ही भोग भोगकर आत्मा को संसार में डुबोया है । इस मरण समय को जाना नहीं। स्वयं के मरने के बाद तीन लोक की संपदा भी सब झूंठी (व्यर्थ) है । अत: मेरी पर्याय के विषय में तुम्हें चिंता करना उचित नहीं है ।

यदि तुम मेरी प्रिय हो तो मुझे धर्म का उपदेश क्यों नहीं देती ? यह तुम्हारा कार्य है । यदि तुम स्वार्थ ही की साथी हो तो तुम तुम्हारी जानो। मैं तुम्हारे डिगाने (विचलित करने) से क्या विचलित हो जाऊंगा? मैने तो तुम पर करुणा करके ही उपदेश दिया है, मानना है तो मानों, नहीं मानों तो तुम्हारी जो होनहार है वह होगा । मुझे तो अब कुछ मतलब नहीं है, अत: अब तुम मेरे पास से जाओ तथा अपने परिणामों को शान्त रखकर आकुलता से बचो। आकुलता ही संसार का बीज है । इसप्रकार स्त्री को समझा कर उससे निवृत होता है ।

कुटुम्बियों को संबोधन :- फिर अपने कुटुम्ब-परिवार को बुलाकर समझाता है – अहो ! परिवार जन, अब इस शरीर की आयु तुच्छ रही है। अब मेरा परलोक निकट है, अत: अब मैं आप लोगों से कहता हूं कि आप लोग अब मुझसे किसी प्रकार का राग न रखें । आपका और मेरा मिलाप अल्प समय का ही शेष रहा है, ज्यादा नहीं । जैसे धर्मशाला में राहगीर (यात्रि) एक-दो रात्रि के लिये ठहरें तथा फिर अलग होते चिन्तित हों, वह कौन सा सयानापन है ? इसप्रकार मुझे भी आप से क्षमाभाव है, आप सब आनन्दमय रहें ? अनुक्रम से सभी की यही हालत (स्थिति)

होनी है । ससार का ऐसा चरित्र जानकर कौन ऐसा बुद्धिमान होगा जो इससे प्रीति करेगा ? इसप्रकार कुटुम्ब-परिवार को भी समझाकर बिदा करता है ।

पुत्र को सम्बोधन :- अब पुत्र को बुलाकर समझाता है – अहो पुत्र ! तुम सयाने हुये हो, मुझसे किसी भी प्रकार का मोह मत करना । जिनेश्वर देव द्वारा कथित जो धर्म है उसे भली प्रकार पालन करना । तुम्हें धर्म ही सुखकारी होगा, माता-पिता सुखकारी नहीं हैं । कोई माता-पिता को सुखदायी मानता है यह उसके मोह का महात्म्य है । कोई किसी का कर्त्ता नहीं है, कोई किसी का भोक्ता भी नहीं है, अत: अब हमसे तुम्हें क्या प्रयोजन? यदि तुम व्यवहार मात्र भी मेरी आज्ञा मानते हो तो मैं कहता हूँ, वह करो ।

प्रथम तो तुम देव-गुरु-धर्म में अवगाढ प्रतीति करो तथा साधर्मियों से मित्रता करो । दान, तप, शील, संयम से अनुराग करो तथा स्व-पर भेद-विज्ञान का उपाय करो। संसारी जीवों से ममता भाव अर्थात प्रीति को छोडो । संसार में सरागी पुरुषों की संगति से ही यह जीव इस लोक में तथा परलोक में महा दु:ख पाता है, अत: सरागी पुरुषों की संगति अवश्य छोडना तथा धर्मात्माओं की संगति करना चाहिये। धर्मात्मा पुरुषों की संगति इस लोक में तथा परलोक में महासुखदायी है।

इस लोक में तो महा निराकुलता रूप सुख की प्राप्ति होती है एवं यश की प्राप्ति होती है तथा परलोक में स्वर्ग आदि के सुख पाकर मोक्ष में शिवरमणी की प्राप्ति होती है । धर्मात्मा पुरुषों की संगति करने वाला निराकुल, अतीन्द्रिय, अनुपम, बाधारहित, शाश्वत, अविनाशी सुख को भोगता है ।

इसलिये हे पुत्र ! यदि तुम्हें हमारे वचन सत्य प्रतीत होते हैं तथा इनमें तुम्हें अपना भला होना प्रतीत होता है तो हमारे वचन स्वीकार करो । यदि

तुम्हें हमारे वचन झूंठ प्रतीत होते हैं तथा इनमें तुम्हें अपना भला होना प्रतीत नहीं होता हो तो मेरे वचन स्वीकार मत करो । मुझे तुमसे किसी बात का कोई प्रयोजन नहीं है । दया बुद्धि करके तुम्हें उपदेश दिया है, यदि मानना हो तो मानो, नहीं मानो तो तुम्हारी तुम जानो ।

अब वह सम्यग्दृष्टि पुरुष अपनी आयु तुच्छ शेष रही जानता है । तब दान, पुण्य जो कुछ करना होता है वह अपने हाथ से करता है । फिर जिन-जिन व्यक्तियों से कुछ बात करना हो उनसे बात कर नि:शल्य होता है तथा सर्व संसारी नाते-रिश्ते के पुरुषों-स्त्रियों को वहां से वापस जाने को कहकर धार्मिक कार्यों से सम्बन्धित पुरुषों को बुलाकर अपने पास रखता है ।

यदि स्वयं की आयु नियम से पूरी होना जानता है तो सर्व ही परिग्रह का जीवन पर्यन्त के लिये त्याग करता है। चार प्रकार के आहार का भी जीवन पर्यन्त के लिये त्याग करता है। सारे परिग्रह का भार पुत्रों को सौंपता है तथा स्वयं विशेष रूप से नि:शल्य अर्थात वीतराग होता है । यदि अपनी आयु को अवश्य पूरी होना नहीं जानता है, आयु पूरी हो या न हो, ऐसा संदेह हो तो दो-चार घडी आदि काल की मर्यादा कर त्याग करता है, जीवन पर्यन्त के लिये त्याग नहीं करता तथा जिसप्रकार शत्रु को जीतने के लिये सुभट उद्यमी होकर रणभूमि में उतरता है, उसीप्रकार वह भी पलंग से उतरकर सिंह की भांति निर्भय होकर स्थित होता है । किसी प्रकार अंशमात्र भी आकुलता नहीं करता है ।

कैसा है शुद्धोपयोगी सम्यग्दृष्टि ? जिसके मोक्षलक्ष्मी से पाणिग्रहण की इच्छा प्रवर्तती है, ऐसा अनुराग है कि अभी ही मोक्ष जाकर वरण करलूं । उसने हृदय में मोक्षलक्ष्मी के आकार को उत्कीर्ण कर रखा है, उसकी शीघ्र प्राप्ति चाहता है । उसी के भय से राग परिणति के प्रदेश नहीं बांधता है (रंच मात्र भी पर-वस्तुओं में राग उत्पन्न नहीं होने देता) तथा

ऐसा विचारता है – यदि कदाचित मेरे स्वभाव में राग परिणति का अणु मात्र भी प्रवेश हुआ तो मुझे वरण करने के सम्मुख हुई मोक्षलक्ष्मी वापस लौट जावेगी, अत: मैं राग परिणति को दूर से ही छोडता हूं। ऐसा विचार करते हुये काल पूरा करता है।

उसके परिणामों में निराकुल आनन्द का रस बरसता है। उस शांत रस से वह तृप्त है। उसे आत्मिक सुख के अतिरिक्त किसी बात की इच्छा नहीं है, पूर्व में न भोगे ऐसे एक अतीन्द्रिय सुख की ही वांछा है कि ऐसा स्वाधीन सुख को ही भोगता रहूं। यद्यपि इस समय साधर्मियों का संयोग है तथापि उनका संयोग भी पराधीन तथा आकुलता सहित भासित होता है तथा यह जानता है कि निश्चित रूप से विचारते तो ये साधर्मी भी सुख का कारण नहीं हैं। मेरा सुख तो मेरे पास ही है अत: स्वाधीन है।

इसप्रकार आनन्दमय स्थित होता हुआ शांत परिणामों सहित समाधिमरण करता है तथा समाधिमरण के फल में इन्द्र आदि का वैभव प्राप्त करता है। वहां से चय होने पर राजा महाराजा होता है। कुछ समय तक राज्य कर, वैभव भोग कर अर्हत (भगवती) दीक्षा धारण करता है एवं क्षपक श्रेणी आरोहण कर चार घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञान लक्ष्मी प्राप्त करता है। वह केवलज्ञान लक्ष्मी कैसी है ? जिसमें तीन काल सम्बन्धी समस्त लोकालोक के चर-अचर पदार्थ एक समय में आ झलकते हैं। उसके सुख की महिमा वचनों में कहने में नहीं आती।

इति समाधिमरण वर्णन सम्पूर्णम्

– ● –

दशम् अधिकार : मोक्ष सुख का वर्णन

आगे मोक्ष सुख का वर्णन करते हैं । ॐ श्री सिद्धेभ्यः नमः ।

शिष्य श्रीगुरु के पास जाकर प्रश्न करता है – हे स्वामी! हे नाथ! हे कृपानिधि ! हे दयानिधि! हे परम उपकारी ! हे संसार सागर तारक ! भोगों से परान्मुख, आत्मिक सुख में लीन, आप मुझे सिद्ध परमेष्ठी के सुख का स्वरूप बताने की कृपा करें। वह शिष्य कैसा है ? महा भक्तिवान है तथा उसको मोक्ष लक्ष्मी की ही अभिलाषा है । वह शिष्य विशेष रूप से श्रीगुरु की तीन प्रदक्षिणा देकर दोनों हाथों को मस्तक से लगा हाथ जोडकर तथा अवसर पाकर श्रीगुरु से बार-बार दीनपने के विनय पूर्वक वचन कहता हुआ मोक्ष सुख का स्वरूप पूछता है ।

तब श्रीगुरु कहते हैं – हे पुत्र ! हे भव्य ! हे आर्य ! तुमने बहुत अच्छा प्रश्न किया है, अब तुम सावधान होकर सुनो। यह जीव शुद्धोपयोग के माहात्म्य से केवलज्ञान प्राप्तकर सिद्ध क्षेत्र में जा स्थित होता है । एक-एक सिद्ध की अवगाहना में अनन्तानन्त सिद्ध भगवान अलग-अलग भिन्न-भिन्न स्थित रहते हैं । कोई किसी से नहीं मिलता । सिद्ध भगवान और कैसे हैं ? उनकी आत्मा में लोकालोक के समस्त चराचर पदार्थ अपनी तीन काल सम्बन्धी सर्व द्रव्य-गुण-पर्यायों सहित एक समय में युगपत झलकते हैं । उनके आत्मिक चरण युग्लों (पुदगल शरीर अब नहीं है, केवल शुद्ध आत्मा है) को मैं नमस्कार करता हूं ।

सिद्ध भगवान और कैसे हैं ? परम पवित्र हैं, परम शुद्ध हैं तथा आत्म स्वभाव में लीन हैं । परम अतीन्द्रिय, अनुपम, बाधा रहित, निराकुल, सरस रस का निरन्तर पान करते हैं । उस रसपान में कोई अन्तर (बाधा) नहीं पडती है । सिद्ध भगवान और कैसे हैं ? असंख्यात प्रदेशी

चैतन्य धातु के घनपिंड हैं, अगुरुलघु रूप को धारण किये हैं। अमूर्तिक आकार है, सर्वज्ञ देवों को प्रत्यक्ष अलग-अलग दिखते हैं। नि:कषाय हैं तथा आवरण रहित हैं। उनने अपने ज्ञायक स्वभाव को प्रकट किया है तथा प्रति समय षट् प्रकार की हानि-वृद्धि रूप से परिणमते हैं। अनन्तानन्त आत्मिक सुख को आचरते हैं, आस्वादते हैं, फिर भी तृप्त नहीं होते हैं अथवा यों कहो अत्यन्त तृप्त हैं। अब कुछ चाह नहीं रही है।

परमदेव और कैसे हैं ? अखण्ड हैं, अजर हैं, अविनाशी हैं, निर्मल हैं, शुद्ध हैं, चैतन्य स्वरूप हैं, ज्ञानमूर्ति हैं, ज्ञायक हैं, वीतराग हैं, सर्वज्ञ हैं। सर्व तत्वों को जानने वाले हैं, सहजानन्द हैं, सर्व कल्याण के पुंज हैं, त्रिलोक द्वारा पूज्य हैं, सर्व विघ्नों को हरनेवाले हैं। श्रीतीर्थंकरदेव भी उन्हें नमस्कार करते हैं अत: मैं भी बारम्बार हाथों को मस्तक से लगाकर नमस्कार करता हूं। किसलिये नमस्कार करता हूं ? उन्हीं के गुणों की प्राप्ति के लिये नमस्कार करता हूं। सिद्ध भगवान और कैसे हैं ? देवाधिदेव हैं, देव संज्ञा सिद्ध भगवान को ही शोभित होती है, अन्य चार परमेष्ठियों को गुरु संज्ञा है, देव संज्ञा नहीं है।

सिद्ध भगवान और कैसे हैं ? सर्व तत्वों को प्रकाशित करते हुये भी ज्ञेय रूप नहीं परिणमते हैं, अपने स्वभाव रूप ही रहते हैं, ज्ञेय को जानते मात्र हैं। किस प्रकार जानते हैं ? ये समस्त ज्ञेय पदार्थ मानों शुद्ध ज्ञान में डूब गये हैं, मानों निगल लिये गये हैं, मानों स्वभाव में आ बसे हैं, मानों अवगाहन शक्ति में समा गये हैं, मानों तादात्म्य होकर परिणमें हैं, मानों प्रतिबिम्बित हुये हैं, मानों पत्थर में उकेर दिये गये हैं, या चित्र में चित्रित कर दिये गये हैं अथवा आकर स्वभाव में ही प्रवेश किया है। सिद्ध भगवान और कैसे हैं ? उनके अनन्त प्रदेश शान्त रस से भरे हैं, ज्ञान रस से आह्लादित हैं, उनके आत्म प्रदेशों से शुद्धामृत झरता है तथा अखण्ड धाराप्रवाह से बहता है। और कैसे हैं ? जैसे चन्द्रमा के विमान से अमृत

झरता है उसी प्रकार अन्यों को आनन्द आल्हाद उत्पन्न करते हैं, आताप को दूर करते हैं, प्रफुल्लित करते हैं ।

सिद्ध भगवान स्वयं तो ज्ञानामृत का पान करते हैं, आचमन करते हैं तथा अन्यों को भी आनन्दकारी हैं । उनका नाम लेने से अथवा ध्यान करने से भव रूपी आताप नष्ट हो जाता है। परिणाम शान्त होते हैं तथा स्व-पर की शुद्धता होती है, ज्ञानामृत का पान होता है, निज स्वरूप की प्रतीति होती है – ऐसे सिद्ध भगवान को मेरा बार-बार नमस्कार हो। ऐसे सिद्ध भगवान जयवन्त प्रवर्तें, मुझे संसार समुद्र से निकालें, मुझे संसार में गिरने से रोकें, मेरे अष्ट कर्मो का नाश करें, मुझे कल्याण के कर्त्ता हों, मुझे मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति करावें, मेरे हृदय में निरन्तर वास करें, मुझे स्वयं जैसा बनावें ।

सिद्ध भगवान और कैसे हैं ? उनको जन्म मरण नहीं है, उनके शरीर नहीं है, उनका विनाश नहीं है, उनका संसार में आना-जाना नहीं है, उनके प्रदेशों में ज्ञान अकंप है । सिद्ध भगवान और कैसे हैं ? अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व, चेतनत्व आदि अनन्त गुणों से पूर्ण हैं, अत: अवगुणों के प्रवेश के लिये उनमें स्थान नहीं है । ऐसे सिद्ध भगवान को पुन: मेरा नमस्कार हो । इसप्रकार श्रीगुरु तथा सिद्ध परमेष्ठी के स्वरूप में एकरूपता रहती है। जैसे सिद्ध हैं वैसा ही शिष्य को बताया तथा ऐसा उपदेश दिया – हे शिष्य ! हे पुत्र ! तू ही सिद्ध सदृश्य है, इसमें संदेह मत कर । सिद्धों के स्वरूप में तथा तेरे स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है । जैसे सिद्ध हैं वैसा ही तू है । अब तू स्वयं को सिद्ध के समान देख । तू सिद्ध के समान है या नहीं यह निर्णय तू स्वयं कर ? वैसा (अपने को सिद्ध समान) देखते ही कोई परम आनन्द उपजेगा, वह कहना मात्र नहीं है वास्तव में है। अत: अब तू सावधान हो तथा परिणति को सुल्टी (सीधी) कर । एकाग्र चित्त होकर देख तू ज्ञाता-दृष्टा है, पर को देखने-जानने वाला तू स्वयं है, उसे ही देख, देर मत कर ।

श्रीगुरु के मुख से इसप्रकार के अमृतमय वचन सुनकर, शिष्य अपने स्वरूप का शीघ्र ही विचार करने लगता है। परम दयालु श्रीगुरु ने बार-बार मुझे यही कहा तथा यह ही उपदेश दिया है अत: इसका क्या प्रयोजन है ? एक मेरा भला करना ही प्रयोजन भासित होता है, मुझे बार-बार यही कहा है। अत: देखूं कि मैं सिद्धों के समान हूं अथवा नहीं हूं ? देखो, यह जीव मरण के समय इस शरीर से निकल दूसरी गति में जाता है, तब इस शरीर के अंगोपांग – हाथ, पांव, आंख, कान, नाक इत्यादि सर्व चिन्ह तो जैसे के तैसे यहां ही पडे रह जाते हैं पर चैतन्यपना नहीं रहता। इससे यह जाना गया कि जाननेवाला देखने वाला तो कोई अन्य ही था।

देखो ! मरण के समय जब यह जीव अन्य गति को जाता है तब कुटुम्ब परिवार मिलकर इसे बहुत पकड-पकड कर रखना चाहते हैं, गहरे तहखाने में दृढता से दरवाजा बन्द करके भी रखें तब भी सारे कुटुम्ब को देखते-देखते दीवार अथवा घर फोड कर भी आत्मा निकल जाता है किसी को दिखता नहीं है, इससे यह जाना जाता है कि आत्मा अमूर्तिक है, यदि मूर्तिक होता तो शरीर की ही भांति पकड़ कर रखने पर रखा रह जाता। अत: आत्मा के प्रत्यक्ष रूप से अमूर्तिक होने में संदेह नहीं है।

यह आत्मा आंखों से पांच प्रकार के वर्णों को निर्मल देखता है। श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा तीन प्रकार के अथवा सात प्रकार के शब्दों की परीक्षा करता (को सुनता) है, नासिका इन्द्रिय के द्वारा दो प्रकार की सुगन्ध-दुर्गन्ध को जानता है। यह आत्मा रसना इन्द्रिय के द्वारा पांच प्रकार के रस का स्वाद लेता है तथा स्पर्श-इन्द्रिय के द्वारा आठ प्रकार के स्पर्श का वेदन करता है। अनुभव निरधार करता है, ऐसा जानपना ज्ञायक स्वभाव के अतिरिक्त इन्द्रियों में तो है नहीं। इन्द्रियां तो जड हैं, इनका आकार तो अनन्त पुदगल परमाणुओं से बना है। अत: जहां भी इन्द्रियों के द्वारा दर्शन-ज्ञानोपयोग होता है वह उपयोग तो मैं हूं, कोई अन्य नहीं है, भ्रम से ही अन्य भासित होता है।

अब श्रीगुरु के प्रसाद से मेरा भ्रम नष्ट हो गया है, मैं तो जो प्रत्यक्ष ज्ञाता-दृष्टा, अमूर्तिक, सिद्ध समान है उसे (स्वयं के आत्मा को) देखता हूँ, जानता हूँ, अनुभव करता हूँ। इस अनुभव में कोई निराकुल, शान्त, अमूर्तिक, आत्मिक, अनुपम रस उत्पन्न होता है तथा आनन्द झरता है। यह आनन्द का प्रवाह मेरे असंख्यात आत्मिक प्रदेशों में धारा प्रवाह रूप बह चला है। उसकी अद्भुत महिमा, जो वचन अगोचर है, को मैं ही जानता हूं अथवा सर्वज्ञ देव जानते है।

मैने अनुभव किया है कि मैं कभी गहरे तहखाने में बैठा विचार करता हूं तो मुझे वज्रमयी दीवारें के पार के घट-पट आदि पदार्थ भी दिखते हैं। विचार होने (करने) पर देखो ! यह मेरा मकान मुझे प्रत्यक्ष अभी दिख रहा है, यह नगर मुझे दिखता है, यह भरतक्षेत्र मुझे दिखाई दे रहा है, सात नरकों में स्थित नारकी मुझे दिखाई देते है। सोलह स्वर्ग, नव ग्रैवेयक, अनुदिश, सर्वार्थसिद्धि तथा सिद्धक्षेत्र में स्थित अनन्तानन्त सिद्ध भगवान अथवा समस्त लोक के जो बराबर है ऐसा अमूर्तिक धर्मद्रव्य, उतना ही बडा अमूर्तिक अधर्मद्रव्य तथा उतने ही प्रदेश में एक-एक प्रदेश पर एक-एक प्रदेश के आकार जितना बडा एक-एक अमूर्तिक कालाणु द्रव्य स्थित दिखता है।

अनन्तानन्त निगोदिया जीवों से तीनों लोक भरे पडे हैं तथा बहुत-सी जातियों के त्रस जीव त्रस नाडी में स्थित हैं। नरकों में नारकी जीव महा दु:ख पाते हैं। स्वर्गो में स्वर्गवासी देव क्रीडा करते हैं तथा इन्द्रिय जनित सुख भोगते हैं। एक समय में अनन्त जीव मरते तथा उत्पन्न होते दिखते हैं। एक दो परमाणुओं के स्कंधों से लेकर अनन्त परमाणु का स्कंध अथवा तीन लोक के बराबर के महास्कंध पर्यन्त नाना प्रकार की पुद्गलों की पर्यायें मुझे दिखाई देती हैं। वे प्रति समय अनेक स्वभावों को लिये परिणमते दिखते हैं।

दसों दिशाओं में अलोकाकाश सर्वव्यापी दिखाई देता है। तीन काल के समयों का प्रमाण दिखता है। सर्व पदार्थों की तीन काल सम्बन्धी पर्यायों का पलटना दिखता है। केवलज्ञान का जानपना मुझे प्रत्यक्ष दिखता है, ऐसे इस ज्ञान का स्वामी कौन है ? ऐसा ज्ञान किसे हुआ है ? ऐसा ज्ञायक पुरुष तो प्रत्यक्ष साक्षात विद्यमान दिखाई देता है। जहां-तहां ज्ञान का प्रकाश मुझे ही दिखाई देता है, शरीर को तो दिखता नहीं (दिखाई दे सकता नहीं), इसप्रकार के इस जानपने का स्वामी कोई अन्य है या मैं ही हूं ? यदि कोई अन्य दूसरा हो तो मुझे यह सब जानकारी क्यों कैसे हुई ? किसी अन्य का देखा कोई अन्य कैसे जान सकता है ? अत: यह जानपना मुझ में ही है अथवा मुझसे ही उत्पन्न हुआ है।

जो जानपना है वह मैं ही हूं तथा मैं ही हूँ सो वह जानपना है। इसकारण जानपने में तथा मुझ में द्वैत नहीं है। मैं एक ज्ञान का ही स्वच्छ निर्मल पिंड हूं। जिसप्रकार नमक की डली खारेपन की पिंड है अथवा जिसप्रकार शक्कर की डली मीठी अमृत की अखण्ड पिंड है, उसीप्रकार मैं भी साक्षात प्रकट शरीर से भिन्न ऐसा बना हूं जिसका स्वभाव लोकालोक का प्रकाशक, चैतन्य धातु, सुखपिंड, अखण्ड, अमूर्तिक, अनन्त गुणों से पूर्ण है, इसमें संदेह नहीं है।

देखो ! मेरे ज्ञान की महिमा, अभी मुझे कोई केवलज्ञान नहीं है, कोई मन:पर्याय ज्ञान भी नहीं है, मात्र मति तथा श्रुत ज्ञान ही है जो भी पूरा नहीं है। उनका केवल अनन्तवें भाग क्षयोपशम हुआ है उसके होने मात्र से ऐसा (ऊपर कहा जैसा) ज्ञान का प्रकाश हुआ है तथा उसी अनुसार आनन्द हुआ है। ऐसे ज्ञान की महिमा किसे कहूं ? ऐसा आश्चर्यकारी स्वरूप मेरा ही है किसी अन्य का तो हैं नहीं ?

अत: ऐसे विचक्षण पुरुष (निज स्वरूप) का अवलोकन करके मैं किस अन्य से प्रीति करूं ? मैं किस की आराधना करूं, मैं किस का सेवन करूं, किस के पास जाकर याचना करूं ? इस स्वरूप को जाने बिना मैने

जो कुछ किया वह मोह का स्वभाव था, मेरा स्वभाव नहीं था। मेरा स्वभाव तो एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायक, चैतन्य लक्षण वाला तथा सर्व तत्वों को जानने वाला है, निज परिणति में रमने वाला है, शिव स्थान (मोक्ष) में बसाने वाला है, संसार समुद्र से तारने वाला है, राग-द्वेष को हरने वाला है, स्वरस को पीने वाला है, ज्ञान का पान करने वाला है ।

निराबाध, निगम, निरंजन, निराकार, अभोक्त अथवा ज्ञान रस का भोक्ता, पर-स्वभाव का अकर्त्ता, निजस्वभाव का कर्त्ता, शाश्वत, अविनाशी, शरीर से भिन्न, अमूर्तिक, निर्मल पिंड, पुरुषाकार, ऐसा देवाधिदेव मैं स्वयं ही हूं, ऐसा जाना है । उसकी (मेरे निज स्वरूप की) निरन्तर सेवा, अवलोकन करता हूं, उसका अवलोकन करते शांति सुधामृत की छटा उछलती है, आनन्द की धारा झरती है । (मैं) उसका रस पान कर अमर होना चाहता हूं । ऐसा मेरे यह स्वरूप जयवंत प्रवर्ते, इसका अवलोकन व ध्यान जयवंत प्रवर्ते तथा इसका विचार जयवंत प्रवर्ते । क्षणमात्र भी इसमें अन्तर न पडे । इस स्वरूप की प्राप्ति के बिना मैं कैसे सुखी होऊंगा, कभी नहीं हो सकता ।

मैं और कैसा हूं ? जैसे काष्ठ की गणगौर को आकाश में स्थापित करें तो स्थापित प्रमाण आकाश तो उसके प्रदेशों में प्रविष्ठ हो जाता है तथा काष्ठ की गणगौर के प्रदेश आकाश में प्रविष्ठ हो जाते हैं। इसप्रकार क्षेत्र की अपेक्षा सम्मिलित एकाकार होकर स्थित रहते हैं तथा प्रति समय सम्मिलित ही परिणमते हैं, लेकिन स्वभाव की अपेक्षा भिन्न-भिन्न स्वभावों को लिये स्थित रहते हैं तथा भिन्न-भिन्न ही परिणमते हैं। सो कैसे ?

आकाश तो प्रति समय अपने निर्मल अमूर्तिक स्वभाव रूप परिणमता है तथा काष्ठ की गणगौर प्रति समय अपने जड, अचेतन स्वभाव रूप परिणमती है । यदि काष्ठ की गणगौर को उन आकाश के प्रदेशों से उठा कर दूर स्थापित करें तो उस स्थान के आकाश के प्रदेश तो वहीं के वहीं

रह जाते हैं तथा काष्ठ की गणगौर के प्रदेश स्थानान्तरित हो जाते हैं। आकाश के प्रदेशों से कुछ भी लगे नहीं रहते, भिन्न-भिन्न स्वभाव रूप थे अत: भिन्न-भिन्न हो गये। इसीप्रकार मैं भी क्षेत्र की अपेक्षा शरीर से एकाकार क्षेत्रावगाह होकर सम्मिलित स्थित हूँ, लेकिन स्वभाव की अपेक्षा मेरे रूप अलग हैं। वह (शरीर) तो प्रति समय जड-अचेतन, मूर्तिक, गलने पूरने के स्वभाव को लिये परिणमित होता है तथा यह जो मैं हूँ वह शरीर से भिन्न होते प्रत्यक्ष ही अलग होता हूँ।

इस शरीर का तथा मेरा भिन्नपना कैसे है ? इसके द्रव्य-गुण-पर्याय अलग तथा मेरे द्रव्य-गुण-पर्याय अलग हैं। इसके प्रदेश अलग तथा मेरे प्रदेश अलग हैं, इसका स्वभाव अलग तथा मेरा अलग है। कुछ पुद्गल द्रव्य से तो बार-बार भिन्नपना, अलगपना हुआ पर शेष चार द्रव्यों से अथवा अन्य जीव द्रव्य से तो भिन्नपना हुआ नहीं।

उसका उत्तर – ये चार द्रव्य (धर्म, अधर्म, आकाश, काल) तो अनादि काल से अपने स्थान पर अकंप (बिना जरा भी हिले डुले अर्थात इधर-उधर हुये) स्थित हैं तथा अन्य जीव द्रव्यों का संयोग प्रत्यक्ष ही अलग है, अत: उनसे क्या भिन्नपना करना ? एक पुदगल द्रव्य से ही उलझन है, अत: उस ही से अपने को भिन्न करना उचित है। बहुत विकल्पों से क्या प्रयोजन ? जानने वाले थोडे ही में जान लेते (समझ लेते) हैं तथा न समझने वालों को बहुत कहने पर भी नहीं समझते, जानते। इससे यह सिद्ध होता है कि यह भिन्नता युक्ति के द्वारा ही साध्य हैं, बल से साध्य नहीं है।

इन्द्रियों और मन के द्वार से जानपना :– यह आत्मा शरीर में रहते इन्द्रियों के द्वारा तथा मन के द्वारा कैसे जाना जाता है ? वह ही कहते हैं – जैसे एक राजा को किसी एक पुत्र ने महा श्वेत (स्वच्छ) बडे शिखर (भवन) में बंदी बना दिया। उस भवन के पांच झरोखे हैं तथा बीच में एक सिंहासन रखा है। वे झरोखे तथा सिंहासन कैसे हैं ? उन झरोखों में

शक्तियुक्त कांच लगे हैं तथा शक्तियुक्त रत्न ही उस सिंहासन में लगे हैं, वह बताते हैं – राजा सिंहासन पर बैठा अनुक्रम से झरोखों में से देखता है।

पहले झरोखे से देखने पर तो स्पर्श के (ज्ञान में आने वाले) आठ गुण लिये पदार्थ दिखाई देते हैं, पदार्थों का अन्य कुछ दिखता नहीं है। राजा सिंहासन पर बैठा दूसरे झरोखे से देखता है, तब पांच जाति के रसों की शक्ति लिये पदार्थ दिखते हैं, पदार्थों में अन्य विशेष गुण हो तो भी दिखते नहीं हैं। वही राजा सिंहासन पर बैठा तीसरे झरोखे से देखता है तो गंध जाति के दो प्रकार (सुगंध-दुर्गंध) ही के रूप पदार्थ दिखते हैं, पदार्थों में अन्य विशेष (गुण) हैं तो भी वे दिखते नहीं।

राजा सिंहासन पर बैठा ही चौथे झरोखे से देखता है तब केवल पांच जाति के वर्ण ही दिखाई देते हैं, पदार्थों में अन्य विशेष हैं वे दिखाई देते नहीं। राजा सिंहास्न पर बैठा-बैठा ही पांचवें झरोखे से देखता है तो पदार्थों में तीन प्रकार के शब्द ही दिखते हैं, पदार्थों में अन्य गुण होते हुये भी दिखाई देते नहीं।

यदि वह राजा सिंहासन पर बैठा-बैठा ही पांचों झरोखों से देखना छोडकर सिंहासन पर ही दृष्टि करके पदार्थों का विचार करता है तो वहीं (उस ही स्थान) के बीसों जाति के ये मूर्तिक पदार्थ तथा आकाश आदि अमूर्तिक पदार्थ सब ही दिखाई देते हैं। यदि झरोखों के बिना अथवा सिंहासन के बिना वहीं (उस ही स्थान) के पदार्थों को भी जानना चाहे तो जान नहीं पाता। अब यदि राजा को बंदीखाने से छोडकर महल के द्वार पर निकाल दिया जावे तो राजा को दशों दिशाओं के मूर्तिक तथा अमूर्तिक पदार्थ सब ही बिना विचार किये ही प्रतिभासित हों। राजा ही का देखने का यह स्वभाव है, कोई महल का तो है नहीं, उल्टा महल के निमित्त से तो ज्ञान आच्छादित होता (ढका जाता) है। कुछ ऐसी जाति के परमाणु झरोखे तथा सिंहासन के लगे हैं जिनके निमित्त से किंचित मात्र जानपना

बना रहता है । दूसरी ओर महल का स्वभाव तो सम्पूर्ण ही ज्ञान को घातने का है ।

इस ही प्रकार शरीर रूपी महल में यह आत्मा कर्मों के द्वारा बंदी बना दिया गया है । वैसे (उपरोक्त प्रकार) ही यहां पांच इन्दियों रूपी झरोखे हैं तथा मन रूपी सिंहासन है । यह आत्मा इसप्रकार जिस इन्द्रिय के द्वारा अवलोकन करता है उस ही इन्द्रिय के अनुसार पदार्थ को देखता है तथा मन के द्वारा अवलोकन करता है तो मूर्तिक, अमूर्तिक सब पदार्थ ही प्रतिभातिस होते हैं तथा यदि यह आत्मा शरीर रूपी बन्दीखाने से मुक्त हो तो मूर्तिक, अमूर्तिक लोकालोक के तीनों काल सम्बन्धित चराचर पदार्थ एक समय में युगपत प्रतिभासित होते हैं । यह स्वभाव आत्मा का है कोई शरीर का तो है नहीं । शरीर के निमित्त से तो ज्ञान उल्टा घटता जाता है एवं इन्द्रियों तथा मन के निमित्त से ज्ञान किंचित मात्र खुला रहता है, ऐसे ही निर्मल जाति के कुछ परमाणु उन इन्द्रियों तथा मन के लगे हुये हैं, जिनके कारण किंचित मात्र दिखना (जानपना) होता रहता है ।

दूसरी ओर शरीर का स्वभाव तो इतने मात्र ज्ञान का भी घात करने का है । जिसने निज आत्मा का स्वरूप जाना है, उसका तो यह चिन्ह होता है कि आत्मा में अन्य गुण तो बहुत हैं तथा उन में से बहुत (कुछ) गुणों को जानता भी है, पर तीन गुण विशेष हैं उनको जाने वह अपने स्वरूप को जाने ही जाने तथा उन तीन गुणों को जाने बिना कदाचित तीन काल में भी निज स्वरूप की प्राप्ति होती नहीं अथवा उन तीन गुणों में से दो ही को भली प्रकार जाने तो भी निज सहजानन्द को पहचान ले । दो गुणों की पहचान के बिना स्वरूप की प्राप्ति तीन काल, तीन लोक में भी होती नहीं, वही कहते हैं।

गुणों की पहचान और स्वरूप की प्राप्ति :– प्रथम तो आत्मा का स्वरूप ज्ञाता–दृष्टा है, यह जाने । यह जानपना है वही मैं हूं तथा मैं हूं

वही जानपना है, ऐसा नि:संदेह अनुभव में आवे। एक तो यह गुण है दूसरा (गुण यह) है कि राग-द्वेष रूप व्याकुल होकर परिणम रहा है वह ही मैं हूं, कर्म का निमित्त पाकर कषाय रूप परिणाम हुये हैं तथा कर्म का निमित्त कमजोर होता जाता है तब परिणाम भी शान्त रूप परिणमते जाते हैं। जैसे जल का स्वभाव तो शीतल तथा निर्मल है, वह जल अग्नि का निमित्त पाकर उष्णरूप परिणमता है तथा रज का निमित्त पाकर वही जल गंदा परिणमता है। उसीप्रकार इस आत्मा का ज्ञान गुण ज्ञानावरण आदि कर्मो का निमित्त पाकर घाता जाता है तथा कषायों का निमित्त पाकर निराकुलता गुण घाता जाता है।

ज्यों-ज्यों ज्ञानावरण आदि कर्मो का निमित्त कमजोर पडता है त्यों-त्यों ज्ञान का उद्योत बढता है। ज्यों-ज्यों कषायों का निमित्त मंद (कमजोर) पडता जाता है त्यों-त्यों परिणाम निराकुल होते जाते हैं। यह स्वभाव जिनने प्रत्यक्ष जाना तथा अनुभव किया है वे ही सम्यग्दृष्टि हैं निज स्वरूप के भोक्ता हैं। तीसरा गुण यह भी जानना कि मैं असंख्यात प्रदेशी अमूर्तिक आकार वाला हूँ। जैसे आकाश अमूर्तिक है, उसीप्रकार मैं भी अमूर्तिक हूँ। परन्तु आकाश तो जड है तथा मैं चेतन हूँ। आकाश और किस प्रकार का है ? काटने से कटता नहीं है, तोडने से टूटता नहीं है, पकड में आता नहीं है, रोकने से रुकता नहीं है, छेदने से छिदता नहीं है, भेदने से भिदता नहीं है, गलाने पर गलता नहीं है, जलाने पर जलता नहीं है। इसप्रकार किसी भी रूप से उसका नाश नहीं होता है। उसीप्रकार मेरे भी असंख्यात प्रदेशों का नाश नहीं हो सकता है।

मैं असंख्यात प्रदेशी प्रत्यक्ष वस्तु हूँ। मेरे ज्ञानगुण तथा परिणति गुण प्रदेशों के आश्रय हैं, यदि प्रदेश न हों तो ये ज्ञान गुण तथा परिणति गुण किस गुण के आश्रय रहें ? प्रदेशों के बिना गुण की नास्ति होगी तब स्वभाव की भी नास्ति होगी। जैसे आकाश कुसुम कुछ वस्तु नहीं है

उसप्रकार का तो मैं हूं नहीं, मैं तो साक्षात अमूर्तिक अखण्ड प्रदेशों को धारण करता हूं तथा उन प्रदेशों में ज्ञान गुण को लिये हुये हूँ। इसप्रकार तीन प्रकार के गुणों से संयुक्त मेरे स्वरूप को मैं भलीप्रकार जानता तथा अनुभव करता हूं।

तीन गुणों की प्रतीति :– कैसा अनुभव करता हूं ? इन तीन गुणों की मुझे प्रतीति है, वही कहता हूं – कोई मेरे पास आकर झूंठ ही इसप्रकार कहे कि तू चैतन्य रूप नहीं है तथा परिणमन गुण भी तुझमें नहीं है ऐसा अमुक ग्रन्थ में कहा है, तब भी मैं उससे कहूंगा – रे दुर्बुद्धि ! रे बुद्धि रहित ! तुझ मोह के ठगे हुये को कुछ भी सुध नहीं है। तेरी बुद्धि ठगी गयी है। वह पुरुष पुनः कहे – मैं क्या करूं ? ऐसा ही अमुक ग्रन्थ में कहा है, ऐसा मुझसे कहे तब भी मैं प्रत्यक्ष चैतन्य वस्तु, पर को देखने-जानने वाला उसके कहे को कैसे मानूं ? तब मैं उससे कहूंगा – शास्त्र में ऐसा मिथ्या कथन नहीं हो सकता। जैसे सूर्य कभी शीतल नहीं हुआ, आगे भी नहीं होगा, यह नियम है। फिर भी वह पुनः कहे – आज सूर्य शीतल ही उदित हुआ है। वह मैं कैसे मानूं, कभी भी नहीं मान सकता। तू मुझे सर्वज्ञ का नाम लेकर कह रहा है कि मैं चैतन्य नहीं हूं, मुझे परिणति भी नहीं है, यह मैं कदापि नहीं मान सकता।

क्यों नहीं मान सकता ? इन दो गुणों की तो मुझे आज्ञा से भी प्रतीति हुई है तथा अनुभव से भी प्रतीति है तथा तीसरे प्रशस्त (सही-सच्चे) गुण का भी मुझे आज्ञा से तथा एकदेश अनुभव से भी प्रमाण है। कैसे ? मैं यह जानता हूं कि सर्वज्ञदेव का वचन झूंठा नहीं हो सकता – इसलिये तो आज्ञा से प्रमाण है तथा मैं यह जानता हूं कि मुझे मेरा अमूर्तिक आकार दिखता नहीं है, वह भी आज्ञा से प्रमाण है, यह अनुभव से प्रमाणित कैसे हो सकता है ?

परन्तु मैं अनुमान (तर्क से विचारता) करता हूं कि प्रदेशों के आश्रय

बिना चैतन्य गुण किसके सहारे रहेगा। प्रदेशों के बिना गुण कदाचित भी नहीं होता नहीं, यह नियम है । जैसे भूमि के बिना वृक्ष आदि किस के सहारे हों, उसी प्रकार प्रदेशों के बिना गुण किसके आश्रय हों ? ऐसा विचार करने पर अनुभव में भी आता है तथा आज्ञा से तो प्रमाण है ही । कोई आकर मुझे झूंठ ही यह कहे कि अमुक ग्रन्थ में ऐसा कहा है । तुमने पहले तीन लोक प्रमाण प्रदेशों का श्रद्धान किया था (आत्मा तीन लोक के प्रदेशों प्रमाण है), अब बडे ग्रन्थ में इस भांति लिखा प्राप्त हुआ है कि आत्मा के प्रदेश धर्म द्रव्य के प्रदेशों से कम हैं । तब मैं ऐसा विचारता हूं कि सामान्य शास्त्र से विशेष बलवान है, अत: ऐसा ही होगा ।

मेरे अनुभव में तो कुछ विशेष निर्णय होता नहीं, अत: में सर्वज्ञ का वचन मान कर प्रमाण करता हूँ । पर कोई मुझे यह कहे कि तू जड है, अचेतन, मूर्तिक है तथा परिणति से रहित है, तो यह मैं मान नहीं सकता, इसके झूंठ होने में मुझे कोई संदेह नहीं है, ऐसा मुझे करोडों ब्रह्मा, करोडों विष्णु, करोडों नारायण, करोडों रुद्र आकर भी कहें तो मैं यह ही मानूंगा कि ये सब पागल हो गये हैं। वे मुझे ठगने आये हैं अथवा मेरी परीक्षा करने आये हैं । मैं ऐसा मानता हूँ।

भावार्थ :– यह ज्ञान परिणति है वह मैं ही हूँ, मुझमें ही होती है, ऐसा जानने वाला सम्यग्दृष्टि होता है तथा इसे जाने बिना मिथ्यादृष्टि होता है । अन्य अनेक प्रकार के गुणों के स्वरूप का तथा पर्यायों के स्वरूप का जैसे-जैसे ज्ञान हो वैसे-वैसे जानपना कार्यकारी हो तो हो, पर मनुष्यपने में उपरोक्त कहे दो गुणों का जानपना अवश्य होना ही चाहिये। ऐसा लक्षण जानना।

विशेष गुण इसप्रकार जानना कि एक गुण में अनन्त गुण हैं तथा अनन्त गुणों में एक गुण है। गुण से गुण मिलकर एक होते नहीं तथा सब गुण मिले भी हैं । जैसे स्वर्ण में भारीपन, पीलापन, चिकनापन, आदि अनेक गुण हैं, सो क्षेत्र की अपेक्षा तो सभी गुणों में पीलापन पाया जाता

है तथा पीले गुण में क्षेत्र की अपेक्षा सर्व गुण भी विद्यमान हैं। क्षेत्र की अपेक्षा सारे गुण मिले हुये हैं, सब गुणों के प्रदेश एक ही हैं। स्वभाव की अपेक्षा सबका रूप अलग-अलग है, जैसे पीलेपन का स्वभाव भिन्न है, इसीप्रकार आत्मा के सम्बन्ध में भी जानना तथा अन्य द्रव्यों के सम्बन्ध में भी जानना। अनेक प्रकार की अर्थ पर्यायों का तथा व्यंजन पर्याय का यथार्थ स्वरूप शास्त्रों के अनुसार जानना उचित है।

इस जीव को सुख का बढ़ना तथा घटना दो प्रकार से होता है, वह बताते हैं – जितना ज्ञान है, उतना ही सुख है। ज्ञानावरण आदि कर्मों का उदय होने पर तो सुख-दुःख दोनों का नाश होता है तथा ज्ञानावरण आदि का तो क्षयोपशम हो एवं मोह कर्म का उदय हो तब जीव को दुःख अवश्य होता है। सुख शक्ति तो आत्मा का निज गुण है, अतः सुख तो कर्म के उदय के बिना ही होता है तथा दुःख शक्ति तो कर्म के निमित्त से होती है वह औपाधिक शक्ति है, कर्म का उदय मिटने पर जाती रहती है। सुख शक्ति कर्म का उदय मिटने पर प्रकट होती है, क्योंकि वस्तु का द्रव्यत्व स्वभाव है।

तब शिष्य प्रश्न करता है :- हे स्वामी ! द्रव्यकर्म तथा नोकर्म हैं, वे तो मेरे स्वभाव से भिन्न हैं यह मैने आपके प्रसाद से जाना। अब मुझे राग-द्वेष से भिन्नता दिखाईये।

श्री गुरु कहते हैं – हे शिष्य ! तू सुन, जैसे जल का स्वभाव तो शीतल है तथा अग्नि के निमित्त से उष्ण होता है तथा उष्ण हो जाने पर अपना शीतल स्वभाव भी छोडता है। स्वयं गर्म हुआ परिणमता है, अन्य लोगों को भी आताप उत्पन्न करता है। बाद में समय पाकर ज्यों-ज्यों अग्नि का संयोग मिटता है त्यों-त्यों अपने स्वभाव के अनुसार शीतल होता है तथा अन्य को आनन्दकारी होता है।

उसीप्रकार यह आत्मा कषायों के निमित्त से आकुलित होता हुआ परिणमता है। सम्पूर्ण निराकुलता गुण जाता रहता (छुप जाता) है। अन्यों

को अनिष्ट रूप लगता है तथा ज्यों-ज्यों कषायों का निमित्त मिटता जाता है त्यों-त्यों निराकुल गुण प्रकट होता जाता है तथा तब अन्यों को भी इष्ट लगता है । इसप्रकार कषायों के थोडा मिटने पर भी जब ऐसा शान्तिपूर्ण सुख प्रकट होता है, तब परमात्मा देव के तो सम्पूर्ण कषायें मिटी हैं तथा अनन्त चतुष्टय प्रकट हुआ है, तो न जाने उनको कैसा सुख प्रकटा होगा । इसप्रकार अल्प से निराकुल स्वभाव को जानने से सम्पूर्ण निराकुल स्वभाव की प्रतीति होती है । अत: शुद्ध आत्मा कैसे निराकुलित स्वभाव का होगा ? यह मुझे भली प्रकार अनुभव में आ रहा है ।

शिष्य पुन: प्रश्न करता है – हे प्रभो ! मुझे बाह्यआत्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा के प्रकट चिन्ह कहे, उनका स्वरूप बतावें ।

श्री गुरू कहते हैं – जैसे किसी जन्मते बालक को तहखाने में रखा जावे तथा कुछ दिन बाद रात्रि में निकाला जाकर उससे पूछा जावे की सूर्य किस दिशा में उगता है। सूर्य का प्रकाश कैसा होता है, सूर्य का बिम्ब कैसा होता है ? तब वह कहता है कि मैं तो जानता नहीं, दिशा अथवा प्रकाश अथवा सूर्य का बिम्ब कैसा है ?

पुन: पूछने पर कुछ का कुछ बताता है । प्रभात होने पर पुन: उससे पूछने पर वह कहता है कि जिस ओर प्रकाश हुआ है, उस ओर पूर्व दिशा है तथा उसी ओर सूर्य है । ऐसा क्यों ? क्योंकि सूर्य के बिना प्रकाश नहीं होता, ज्यों-ज्यों सूर्य ऊपर चढता है त्यों-त्यों प्रत्यक्ष रूप से प्रकाश निर्मल होता जाता है तथा पदार्थ निर्मल प्रतिभासित होते जाते है ।

यदि कोई उससे आकर कहे कि सूर्य दक्षिण दिशा में उगा है तो वह कदापि नहीं मानता है, कहने वाले को पागल गिनता है, क्योंकि उसे प्रत्यक्ष सूर्य का प्रकाश दिख रहा है, अत: वह कहता है मैं तुम्हारा कहा कैसे मानूं ? मुझे इसमें संदेह नहीं है, सूर्य का बिम्ब तो मुझे दिखाई दे नहीं रहा है पर प्रकाश से सूर्य का अस्तित्व निश्चित हो रहा है, अत: नियम से सूर्य उसी (पूर्व की) ओर है । ऐसी अवगाढ प्रतीति उसे हुई है । फिर सूर्य

के बिम्ब सम्पूर्ण दैदिप्यमान, महा तेज लिये प्रकट हुआ तब प्रकाश भी सम्पूर्ण प्रकट हुआ तथा पदार्थ भी जैसे थे वैसे प्रतिभासित होने लगे। तब कुछ पूछना रहा नहीं, निर्विकल्प हो गया। इसप्रकार ही दृष्टान्त के अनुसार दृाष्टान्त (सिद्धान्त) जानना।

वहीं कहते हैं – मिथ्यात्व अवस्था में इस पुरुष से पूछा जावे कि तू चैतन्य है, ज्ञानमयी है, तो वह कहता है, चैतन्य, ज्ञान किसे कहते हैं, मैं नहीं जानता कि मैं किस प्रकार चैतन्य ज्ञान हूं। कोई आकर ऐसा कहे कि शरीर है वही तू है अथवा सर्वज्ञ का एक अंश है, क्षण में उत्पन्न होता है, क्षण में विनशता है अथवा तू शून्य है तो वैसा ही मान लेता है। ऐसा होऊंगा, मुझे तो कुछ खबर पडती नहीं (ज्ञान है नहीं)। यह बाह्य आत्मा का लक्षण है।

पुनः कोई पुरुष गुरु का उपदेश पाकर कहते हैं – हे प्रभु ! आत्मा से कर्म कैसे बंधते हैं?

श्री गुरु कहते हैं – जैसे एक सिंह निर्जन स्थान-जंगल में बैठा था, वहां ही अपनी सभा करते हुए आठ मंत्रवादी भी थे। सिंह ने उन मंत्रवादियों पर क्रोध किया। तब उन मंत्रवादियों ने एक-एक चुटकी धूल मंत्रित कर उस सिंह के शरीर पर डाल दी। कुछ दिन बाद एक चुटकी का निमित्त पाकर सिंह का ज्ञान कम हो गया तथा एक चुटकी से देखने की शक्ति कम हो गयी। एक चुटकी के निमित्त से शेर दुःखी हुआ, एक चुटकी का निमित्त पाकर शेर जंगल छोडकर अन्य स्थान पर चला गया। एक चुटकी का निमित्त पाकर शेर का आकार अन्य रूप हो गया। एक चुटकी के निमित्त से शेर अपने को नीचा मानने लगा तथा एक चुटकी के निमित्त से उसकी शक्ति कम हो गयी। इसीप्रकार आठ प्रकार के ज्ञानावरण आदि कर्म जीवों को राग-द्वेष कराते हैं तथा ज्ञान आदि आठ गुणों को घटाते हैं, ऐसा जानना। इसप्रकार गुरु ने शिष्य के प्रश्न का उत्तर दिया।

अत: भव्य जीवों को सिद्ध का स्वरूप जानकर अपने स्वभाव में लीन होना उचित है । सिद्ध के स्वरूप में तथा अपने स्वरूप में सदृश्यता है । अत: सिद्ध का स्वरूप जानकर अपने निजस्वरूप का ध्यान करना । बहुत कहने से क्या ? ज्ञाता इसीप्रकार अपने स्वरूप को जानता है ।

इति सिद्ध स्वरूप वर्णन सम्पूर्णम् ।

कुदेवादि का स्वरूप-वर्णन

आगे कुदेव आदि के स्वरूप का वर्णन करते हैं । जिसे हे भव्य ! तुम सुनों । देखो जगत में भी यह न्याय है कि जो अपने से गुणों में अधिक हो अथवा जो अपने लिये उपकारी हो उसे नमस्कार किया जाता है अथवा पूजा जाता है । जैसे राजा तो गुणों में अधिक है तथा माता-पिता आदि उपकार के कारण अधिक हैं, उन्हें ही जगत पूजता है; वंदना करता है । ऐसा नहीं है कि सजा आदि बडे पुरुष तो जनता के लोगों की अथवा रंक (निर्धन-दरिद्र) आदि पुरुषों की वन्दना करें तथा माता-पिता आदि अपने पुत्र की वन्दना करें, पूजें । ऐसा तो देखा जाता नहीं है । यदि कदाचित बुद्धि की अल्पता, दीनता से राजा आदि बडे पुरुष किसी नीच पुरुष की पूजा करें तथा माता-पिता भी बुद्धि की हीनता से पुत्र आदि की पूजा करें तो जगत में हास्य एवं निंदा के पात्र होते हैं ।

इसका दृष्टान्त है जैसे सिंह हो तथा सियाल की शरण चाहता हो तो वह हास्य को ही प्राप्त करता है, यह युक्त ही है । उसीप्रकार धर्म में अरिहन्त आदि उत्कृष्ट देवों को छोडकर जो कुदेव आदि को पूजता है, तो क्या वह लोक में हास्य का पात्र नहीं होगा ? तथा परलोक में नरक आदि के दु:ख तथा क्लेश नहीं सहेगा ? अवश्य सहेगा । वह ये दु:ख क्यों सहेगा यह बताते हैं ।

आठ प्रकार के कर्मों में मोह नामक कर्म सबका राजा है । उसके दो भेद हैं – (1) चारित्र मोह (2) दर्शन मोह । चारित्र मोह तो इस जीव को

नाना प्रकार की कषायों के द्वारा आकुलता उत्पन्न करता है। यह आकुलता कैसी है तथा इसका फल क्या है ? कोई जीव नाना प्रकार के संयम आदि गुणों से युक्त है, उसे किंचित कषाय उत्पन्न होजावे तो दीर्घकाल के संयम आदि के द्वारा संचित पुण्य नाश को प्राप्त होते हैं। जैसे अग्नि से रुई का समूह भस्म होता है वैसे ही कषाय रूप अग्नि से समस्त पुण्य रूप ईंधन भस्म हो जाता है। कषायवान पुरुष इस जगत में महानिंदा को प्राप्त होता है।

कषायें कैसी हैं ? करोडों स्त्रियों के सेवन से भी इनका पाप अनन्त गुणा है। इससे भी अनन्त गुणा पाप मिथ्यात्व का है। यह जीव अनादि काल से एक मिथ्यात्व के कारण ही संसार में भ्रमण कर रहा है। मिथ्यात्व से बडा उत्कृष्ट अन्य कोई पाप इस संसार में नहीं है। जिनकी बुद्धि मोह के द्वारा ठगी गयी है, ऐसे संसारी जीवों को कषाय आदि तो पाप दिखते हैं तथा मिथ्यात्व भी पाप है यह किसी को दिखता नहीं है।

शास्त्र में ऐसा कथन है कि जिसने एक मिथ्यात्व का नाश किया उस पुरुष ने सारे पापों का नाश किया तथा संसार (भ्रमण) का नाश किया। ऐसा जानकर कुदेव, कुगुरु, कुधर्म का त्याग करो।

त्याग किसे कहते हैं – देव तो अरिहन्त हैं, गुरु निर्ग्रन्थ हैं अर्थात तिल-तुष मात्र परिग्रह से रहित हैं तथा धर्म है वह जिनप्रणीत दयामय कहा गया है। इनके अतिरिक्त अन्य सर्व ही को हाथ जोडकर नमस्कार तक भी नहीं करना चाहिये। प्राण जावें तो जाओ पर नमस्कार करना उचित नहीं है।

– ● –

एकादशम अधिकार : अरिहन्तादि के स्वरूप का वर्णन

आगे अरिहन्त आदि के स्वरूप का वर्णन करते हैं। अरिहन्त कैसे हैं ? प्रथम तो सर्वज्ञ हैं, उनके ज्ञान में समस्त लोकालोक के तीन काल सम्बन्धी चराचर पदार्थ एक समय में झलकते हैं, ऐसी ज्ञान की प्रभुत्व शक्ति है। वीतराग हैं। यदि सर्वज्ञ हों पर वीतराग न हों तो उसको परमेश्वरपना संभव नहीं होता है। वीतराग तो हों पर सर्वज्ञ न हों तो भी अज्ञानता के कारण पदार्थों का स्वरूप सम्पूर्ण रूप से कैसे जान पावेगा ? समर्थ हों पर दोषों से संयुक्त हों तो उसको परमेश्वर कौन माने ? अत: जिसमें ये दो दोष अर्थात राग-द्वेष तथा अज्ञानपना नहीं है वह ही परमेश्वर है, तथा वह ही सर्वोत्कृष्ट है।

ऐसे दोनों दोषों से रहित एक अरिहन्त देव ही हैं, वे ही सर्व प्रकार पूज्य हैं। यदि सर्वज्ञ वीतराग भी हों पर तारने में समर्थ न हों तो भी प्रभुत्वपने में कमी रह जाती है, अत: उनमें तारण शक्ति भी होती है। कोई जीव तो भगवान का स्मरण करके ही भव-संसार-समुद्र से तिरते हैं, कोई भक्ति कर तिरते हैं, कोई स्तुति करके तिरते हैं, कोई ध्यान करके तिरते हैं इत्यादि एक-एक गुण का आराधन कर मुक्ति को पहुंचते हैं। परन्तु भगवान को वीतरागी होने के कारण खेद नहीं होता।

महन्त पुरुषों में अत्यन्त शक्ति हैं, उन्हें स्वयं को तो कुछ उपाय करना पडता नहीं, उनके अतिशय से सेवकों का स्वयमेव भला हो जाता है तथा प्रतिकूल पुरुषों का स्वयमेव बुरा हो जाता है। शक्तिहीन पुरुष हैं वे तो हार जाते हैं तथा दूसरों का बुरा-भला करें तो उनके किये वैसा ही हो जावे ऐसा नियम नही हैं, होना हो तो हो। इत्यादि अनन्त गुणों से अरिहन्त देव शोभित हैं। आगे जिनवाणी के अनुसार तथा सर्व दोषों से रहित जो जैन सिद्धान्त है उसमें सर्व तत्वों का निरूपण है तथा उसी में मोक्ष का तथा मोक्ष के स्वरूप का वर्णन है एवं वह पूर्वापर दोष से रहित है। इत्यादि अनेक महिमाओं को धारण किये हुये ऐसा जिनशासन है।

— ● —

द्वादशम अधिकार : निर्ग्रन्थ गुरु का स्वरूप

आगे निर्ग्रन्थ गुरु का स्वरूप कहते हैं । जिनने राज्य लक्ष्मी को छोडकर मोक्ष प्राप्ति के लिये दीक्षा धारण की है तथा जिनको अणिमा, महिमा आदि ऋद्धियां प्राप्त हुई हैं। मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्ययज्ञान तथा महा दुर्द्धर तप से संयुक्त हैं। नि:कषाय हैं तथा अठाईस गुणों में अतिचार भी नहीं लगाते हैं, ईर्या समिति आदि का पालन करते हुये साढे तीन हाथ धरती शोधते हुये विहार करते हैं। भाव यह है कि किसी भी जीव की विराधना नहीं करना चाहते। भाषा समिति का पालन करते हुये हितमित प्रिय वचन बोलते हैं, उनके वचनों से किसी जीव को दु:ख नहीं पहुंचता है । अत: सर्व जीवों के बीच दयालु रहते इस जगत में शोभित होते हैं।

ऐसे सर्वोत्कृष्ट देव, गुरु, धर्म को छोडकर विचक्षण पुरुष हैं वे कुदेव आदि को कैसे पूजें ? उनकी (कुदेव आदि की) जगत में प्रत्यक्ष हीनता देखी जाती है । इस जगत में जो-जो राग-द्वेष आदि अवगुण हैं, वे सारे के सारे कुदेव आदि में पाये जाते हैं, तब उनका सेवन करने से जीव का उद्धार कैसे हो सकता है ? उन ही का सेवन करने से जीव का उद्धार हो तो जीव का बुरा किसका सेवन करने से होगा ? जैसे यदि हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील, आरंभ-परिग्रह आदि जो महापाप हैं, उनसे ही स्वर्ग आदि मिल जावें तो नरक आदि के दु:ख किससे मिलेंगे, यह तो देखते नहीं (उसका विचार करते नहीं) ।

आगे कहते हैं – देखो, इस जगत में उत्कृष्ट वस्तुयें तो थोडी हैं, यह प्रत्यक्ष देखा जाता है । जैसे हीरे, माणिक, पन्ना आदि तो जगत में थोडे हैं पर कंकर-पत्थर बहुत हैं, इसीप्रकार धर्मात्मा पुरुष थोडे हैं पापी पुरुष

बहुत हैं । वस्तु का ऐसा अनादि-निधन स्वभाव स्वयमेव है उसे मिटाने में कोई भी समर्थ नहीं है । इसप्रकार तीर्थंकर देव ही सर्वोत्कृष्ट हैं, वे एक क्षेत्र में एक ही पाये जाते हैं तथा कुदेवों के समूह हैं वे वर्तमान काल में सर्वत्र अनगिनत पाये जाते हैं । किस-किस कुदेव को पूजें ? वे परस्पर रागी-द्वेषी हैं, एक कहता है मुझे पूजो, दूसरा कहता है मुझे पूजो । वे स्वयं ही पूजने वाले से खाने की वस्तुयें मांगते हैं, कहते हैं कि मैं बहुत दिनों से भूखा हूं । इसप्रकार जब वे ही भूखे हैं तो उनकी पूजा करने वालों को उत्कृष्ट वस्तुयें कहां से देने में समर्थ होंगे ? जैसे कोई क्षुधा आदि से पीडित रंक पुरुष घर-घर से अन्न के कण अथवा रोटी के टुकडे अथवा झूंठन आदि मांगता फिरता हो तथा कोई अज्ञानी पुरुष उससे ही उत्कृष्ट धन आदि सामग्री मांगे, उस (धन आदि सामग्री) के लिये उसकी पूजा करे, सेवा करे तो क्या वह हास्य का पात्र नहीं होगा ? होगा ही होगा ।

अत: श्री गुरु कहते हैं – हे भाई ! तू मोह के वश होकर आंखों देखी वस्तु को झूंठी मत मान। जीव इस भ्रम बुद्धि के कारण ही अनादि काल से संसार में थाली में रखे मूंगों की भांति रुलते हैं । जैसे किसी पुरुष को पहले ही दाह ज्वर का तीव्र रोग लगा था तथा फिर कोई अज्ञानी वैद्य तीव्र उष्णता का ही उपचार करे, तो वह पुरुष कैसे शांति प्राप्त कर पावेगा ? उसी प्रकार यह जीव अनादि से ही मोह से दग्ध हो रहा है। यह मोह की वासना जो इस जीव को बिना किसी उपदेश के स्वयमेव ही बनी हुई है, जिससे तो आकुल व्याकुल महादु:खी था ही, पुन: ऊपर से गृहीत मिथ्यात्व आदि का सेवन करता रहे तो उससे इसको होने वाले दु:ख का क्या पूछना ?

अग्रहीत मिथ्यात्व की अपेक्षा गृहीत मिथ्यात्व का फल अनन्त गुणा बुरा है । ऐसे गृहीत मिथ्यात्व को द्रव्यलिंगी मुनियों तक ने छोडा है तथा उनके अगृहीत-मिथ्यात्व का अनन्तवां भाग जितना-सा हल्का अगृहीत-

मिथ्यात्व पाया जाता है। वे नाना प्रकार के दुर्द्धर तपश्चरण करते हैं। अठाईस मूलगुणों का पालन करते हैं तथा बाइस परिषह सहते हैं। छियालीस दोष टालकर आहार लेते हैं व अंश मात्र भी कषाय नहीं करते हैं। सर्व जीवों के रक्षक होकर जगत में प्रवर्तते हैं। नाना प्रकार के शील संयम आदि गुणों से आभूषित हैं। नदी, पर्वत, गुफा, मसान, निर्जन, सूखे वन में जाकर ध्यान करते हैं। मोक्ष की ही अभिलाषा लिये प्रवर्तते हैं, संसार भ्रमण के भय से डरते हैं। केवल मोक्ष लक्ष्मी के अर्थ ही राज्य आदि विभूति छोडकर दीक्षा धारण की है, ऐसा होने पर भी वे कदाचित् मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाते हैं।

मोक्ष क्यों नहीं प्राप्तकर पाते हैं ? इनके सूक्ष्म केवलज्ञान गम्य मिथ्यात्व का प्रबलपना पाया जाता है, अत: मोक्ष के पात्र नहीं हैं। संसार का ही पात्र है तो फिर जिसके बहुत प्रकार मित्यात्व का प्रबलपना हो उसको मोक्ष कैसे होगा। भ्रम बुद्धि से झूंठ ही मानें तो मोक्ष होना तो है नहीं। इसका दृष्टान्त क्या ? जैसे अज्ञानी बालक मिट्टी का हाथी, घोडा आदि बनाता है तथा उन्हें सत्य मानकर बहुत प्रीति करता है, उसे पाकर बहुत खुश होता है। कोई उन्हें फोड दे, तोड दे, जलादे तो बहुत दु:खी होता है, रोता है, छाती माथा कूटता है। उसे यह ज्ञान नहीं कि ये तो झूंठे कल्पित थे। उसीप्रकार अज्ञानी पुरुष मोही होता हुआ बालकवत कुदेव आदि को तारण-तरण जानकर सेवन करता है। उसे ऐसा ज्ञान नहीं कि ये स्वयं तैरने (संसार समुद्र पार करने) में असमर्थ हैं, मुझे कैसे तिरावेंगे ?

पुनः दृष्टान्त कहते हैं – कोई पुरुष कांच का टुकडा पाकर उसमें चिन्तामणि रत्न होने की भ्रम बुद्धि करे, यह जाने कि यह चिन्तामणि रत्न है, मुझे बहुत सुखकारी होगा, मुझे वांछित फल देगा। इसप्रकार भ्रम बुद्धि करके कांच के टुकडे को पाकर प्रसन्न हो तो क्या वह कांच का टुकडा चिन्तामणि रत्न होगा ? कभी नहीं हो सकता। आवश्यकता पडने

पर उस कांच के टुकडे की आराधना करे अथवा बाजार में जाकर बेचने का प्रयास करे तो उसे दो कौडी (एक पैसा) भी प्राप्त नहीं होगी ।

इस ही प्रकार कुदेव आदि को अच्छा भला जानकर बहुत से जीव उनका सेवन करते हैं, पर उनसे कुछ गरज तो सधती नहीं (मोक्ष की प्राप्ति तो होती नहीं), उल्टा परलोक में नाना प्रकार के नरक आदि के दु:ख सहने पडते हैं । अत: कुदेव आदि के सेवन से दूर ही रहो, उनके साथ एक स्थान पर रहना भी उचित नहीं है । जैसे सर्प आदि क्रूर जीवों का संसर्ग उचित नहीं है, उसीप्रकार कुदेव आदि का संसर्ग उचित नहीं है । सर्प आदि से कुदेव आदि में इतना विशेष है और सर्प आदि के सेवन से तो एक बार ही प्राणों का नाश होता है, पर कुदेव आदि का सेवन करने से पर्याय-पर्याय में अनन्त बार प्राणों का नाश होता है तथा नानाप्रकार के नरक निगोद के दु:खों को सहना पडता है । अत: सर्प आदि का सेवन श्रेष्ठ है तथा कुदेव आदि का सेवन उचित नहीं है । इसकारण कुदेव आदि के सेवन को अनिष्ट जानना । जो विचक्षण पुरुष अपने हित के वांछक हैं वे शीघ्र ही कुदेव आदि के सेवन का त्याग करें ।

देखो संसार में तो यह जीव इतना सयाना है ऐसी बुद्धि रखता है कि दो पैसे कि हंडिया खरीदता है तो उसको बार-बार बजाकर उसका फूटी अथवा सही होना देखकर खरीदता है । पर धर्म जैसी उत्कृष्ट वस्तु जिसका सेवन करने से अनन्त संसार के दु:खों से छुटकारा मिल जाता है उसे अंगीकार करने में अंश मात्र भी परीक्षा नहीं करता । लोक में (अपनी-अपनी पारिवारिक मान्यता का) भेड चाल जैसा प्रवाह है अर्थात लोक जिसे पूजता है अथवा सेवन करता है उसे ही पूजने सेवन करने लगता है । भेड चाल का प्रवाह कैसा है ? भेड को ऐसा विचार नहीं है कि आगे खाई है अथवा कुआ है, सिंह है कि व्याघ्र है । ऐसे विचार बिना एक भेड के

पीछे सारी भेडें चलती चली जाती है । यदि आगे वाली भेड खाई अथवा कुये में गिर जावे जो पीछे वाली सर्व भेडें भी खाई, कुये में गिर पडती हैं । आगे वाली भेड सिंह व्याघ्र आदि के स्थान में जा फंसे तो पिछली भी जा फंसती हैं ।

इसीप्रकार संसारी जीव हैं, वे अर्थात बडे अथवा पूर्वज यदि खोटे मार्ग चले हों तो यह भी खोटे मार्ग पर चलता जाता है। यदि वे अच्छा मार्ग चले हों तो ये भी उसी प्रकार चलता है । इसको ऐसा विचार नहीं है कि अच्छा मार्ग कौन सा है तथा खोटा मार्ग कौन सा है ? ऐसा विचार हो तो खोटे मार्ग को छोडकर अच्छे मार्ग ही को ग्रहण करे । अत: एक ज्ञान ही प्रशंसनीय है, जिसमें ज्ञान विशेष हो उसे ही जगत पूजता है, उसी का सेवन करता है । यह ज्ञान है वह ही जीव का निज स्वभाव है । अत: धर्म को परीक्षा करके ही ग्रहण करना चाहिये।

– ● –

त्रयोदशम अधिकार : कुदेवादि का स्वरूप

कुदेव आदि का लक्षण :– आगे कुदेव आदि का लक्षण कहते हैं। जिसमें राग-द्वेष हो तथा सर्वज्ञपने का अभाव हो, उन सब को कुदेव आदि जानना। इनका कहाँ तक वर्णन करें ? दो चार दस बीस हों तो कहने में भी आवे। अत: ऐसा निश्चय करना कि सर्वज्ञ-वीतराग ही देव हैं, उनके ही वचन के अनुसार शास्त्र एवं प्रवृत्ति हो वही धर्म है तथा उन्हीं के वचन अनुसार बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह के त्यागी, तुरन्त जन्मे बालक की तरह तिल-तुष मात्र परिग्रह से रहित वीतराग स्वरूप के धारक ही गुरु हैं। वे स्वयं भव समुद्र से तिरते है एवं औरों को तारते हैं। धर्म का सेवन करके भी लोक में बडाई नहीं चाहते हैं। ऐसे देव, गुरु, धर्म के अतिरिक्त शेष रहे उन सभी को कुदेव, कुगुरु, कुधर्म जानना। आगे और भी कहता हैं –

षट्मत का स्वरूप :– कोई तो खुदा ही को सारी सृष्टि का कर्त्ता मानते हैं, कोई ब्रह्मा, विष्णु, महेश को कर्त्ता मानते हैं – इत्यादि जानना। अब इनका परीक्षण करते हैं – तुमने (खुदा को) सम्पूर्ण तीन लोक का कर्त्ता कहा, यदि खुदा ही तीन लोक का कर्त्ता है तो उसने हिन्दुओं को क्यों पैदा किया। यदि विष्णु आदि ही तीन लोक के कर्त्ता हैं, तो उनने तुरक (मुसलमानों) को क्यों पैदा किया ? हिन्दु तो खुदा की निंदा करते हैं तथा तुरक विष्णु आदि की निंदा करते हैं। कोई ऐसा कहे कि पैदा करते समय उसको ज्ञान नहीं था, तब वह (कर्त्ता) परमेश्वर कैसे हुआ जिसे इतना भी ज्ञान नहीं था।

यदि तीन लोक का कर्त्ता (उपरोक्त में से कोई एक) था, तो उसने किसी को दु:खी, किसी को सुखी, किसी को नारकी, किसी को तिर्यंच, किसी को मनुष्य किसी को देव इस प्रकार नाना प्रकार के जीव क्यों पैदा

किये ? कोई कहे जैसा शुभाशुभ कर्म जीव ने किया, वैसा ही सुख, दुःख देने के लिये पैदा किये, तब इसमें परमेश्वर का कर्तव्य कर्त्तापना कहां रहा, कर्म ही का कर्तव्य कर्त्तापना हुआ । अतः या तो परमेश्वर का ही कर्तव्य कहो, या कर्म का ही कर्तव्य कहो अथवा दोनों का मिश्रित कर्तव्य कहो । मेरी मां है तथा वह बांझ है, ऐसा तो बन सकता नहीं।

यदि पहले जीव नहीं था, तो ये शुभाशुभ कर्म किसने किये थे जिससे भिन्न-भिन्न (प्रकार के) जीव बनाये ? इसप्रकार इस सृष्टि का कोई कर्त्ता नहीं है, यह ही संभव है । जगत में जिसे दो-चार कार्य भी करने होते हैं तो उसे आकुलता विशेष उपजती है तथा वह आकुलता ही परम दुःख है । ऐसे परमेश्वर का निरन्तर तीन लोक में अनन्त जीव, अनन्त पुद्गल आदि पदार्थों का कर्त्ता होना, उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकार परिणमन कराना तथा उनकी अलग-अलग याद रखना, अलग-अलग सुख दुःख देना, उनके लिये महा खेदखिन्न होना, इसप्रकार के कर्त्ता के दुःख का क्या पूछना ? इसप्रकार तो सर्वोत्कृष्ट दुःख परमेश्वर के हिस्से में आया, तब फिर परमेश्वरपना कैसे रहा ? तथा एक पुरुष से इतने कार्य कैसे बन पडें ?

कोई कहे कि जैसे राजा के अनेक प्रकार के नौकर भिन्न-भिन्न कार्यों को करते हैं तथा राजा प्रसन्नता पूर्वक महल में बैठा रहता है, उसीप्रकार परमेश्वर के अनेक नौकर हैं, वे सृष्टि को उत्पन्न करते हैं तथा विनाश करते है । उससे कहते हैं – हे भाई ! यह तो संभव नहीं है । जिसको (जिस कार्य को) नौकर ने किया उसका कर्त्ता परमेश्वर को क्यों कहते हो ? परमेश्वर ने कच्छ, मच्छ आदि बैरियों के संहार के लिये तथा भक्तों की सहायता के लिये चौबीस अवतार लिये। आकर बहुतों के खेतों में अन्न उपजाया, नरसिंह भक्त के यहां आकर माहरा (भात) भरा, द्रौपदी का चीर बढाया तथा टीटोडी को अंग की सहायता की, हाथी को कीचड में से निकाला, ऐसे विरुद्ध वचन यहां संभव नहीं हैं (खुद क्यों आया, नौकरों को भेज देता) ।

फिर भी यदि कोई कहे कि परमेश्वर को ऐसा ही होना चाहिये, सभी का भला करे, पर ऐसा हैं कहां - कभी तो उनको उत्पन्न करता है फिर उन्हीं का नाश करता है, ऐसा परमेश्वरपना कैसा (कैसे बने)। सामान्य पुरुष भी ऐसे कार्य का विचार नहीं करता ।

कुछ लोग सर्व जगत को अथवा सर्व पदार्थों को शून्य कहते हैं, नास्ति मानते हैं । उनको कहते हैं – हे भाई ! तू सर्व नास्ति मानता है, तो तू सर्व नास्ति कहने वाला तो वस्तु (मौजूद अस्ति रूप) ठहरा । इसीप्रकार अनन्त जीव, अनन्त पुदगल आंखों से प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं उन्हें नास्ति कैसे कहता है ?

कोई ऐसा कहते हैं – जीव तो क्षण-क्षण में उत्पन्न होता हैं क्षण-क्षण में विनशता है । उससे कहते हैं – हे भाई ! यदि जीव क्षण-क्षण में उत्पन्न होता है तो कल की बात आज किसने कैसे जानी तथा मैं अमुक था, जो मरकर देव हुआ हूं, ऐसा कौन कहता है ?

कोई ऐसा कहता है – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश ये पांच तत्व मिलकर चैतन्य शक्ति उत्पन्न करते हैं । उससे कहते हैं – हे भाई ! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश ये पांचों तत्व तूने कहे वे तो जड अचेतन द्रव्य हैं। अचेतन द्रव्य से चेतन द्रव्य उत्पन्न नहीं होता, ऐसा नियम है, जो प्रत्यक्ष आंखों से देखा जाता है ।

ऐसा आज तक पहले नहीं सुना, नहीं देखा कि नानाप्रकार के मंत्र, जंत्र आदि का धारक कोई भी पुरुष जो किसी भी पुरुष अथवा पुद्गल द्रव्य को नानाप्रकार के परिणमन कराता है (कराता दिखाई देता है)। अमुक देव, विद्याधर अथवा अमुक मंत्र का आराधन करके पंच पुद्गलों (अथवा उनमें से किन्हीं) को चैतन्य रूप परिणमन कराया हो। अमूर्तिक आकाश तथा पृथ्वी आदि चारों मूर्तिक द्रव्य मिलकर जीव नामक अमूर्तिक पदार्थ को कैसे उत्पन्न कर सकते हैं ?

यदि ऐसा हो सकता हो तो आकाश तथा पुद्गल का तो नाश ही हो जावेगा तथा आकाश तथा पुद्गल के स्थान पर चैतन्य ही चैतन्य द्रव्य हो जावेंगे, पर ऐसा तो दिखता नहीं । चैतन्य एवं पुद्गल आदि सारे पदार्थ भिन्न-भिन्न आंखों से देखे जाते हैं, उन्हें झूंठ कैसे मानें ? हे भाई ! यदि ऐसा हो तो बडा दोष उत्पन्न होगा ।

नानाप्रकार के कई पदार्थ देखे जाते हैं तथा चैतन्य पदार्थ भी बहुत देखे जाते हैं, उन्हें एक कैसे माना जावे ? यदि सब एक ही पदार्थ हों तो ऐसा कैसे कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति नरक गया या अमुक स्वर्ग गया, अमुक मनुष्य हुआ। अमुक तिर्यंच हुआ, अमुक व्यक्ति मुक्ति गया, अमुक व्यक्ति सुखी है, अमुक चेतन, अमुक अचेतन इत्यादि नानाप्रकार के भिन्न-भिन्न पदार्थ जगत में माने जाते हैं, उन्हें झूंठ कैसे कहा जा सकता है।

यदि सर्व जीवों तथा पुद्गलों की एक ही सत्ता है तो एक के दु:खी होने पर सभी को दु:ख होना चाहिये, एक के सुखी होने पर सब को सुख होना चाहिये। चेतन पदार्थ की ही भांति अचेतन पदार्थ भी दु;खी, सुखी होंगे, वह तो देखा नहीं जाता । यदि सारे ही पदार्थो की सत्ता एक हो तो अनेक पदार्थ क्यों कहने पडें ? तथा अमुक व्यक्ति ने खोटे कर्म किये, अमुक ने अच्छे कर्म किये, ऐसा कहना कैसे बनेगा ? सर्व ही में व्यापक एक ही पदार्थ हुआ तो स्वयं को स्वयं ने कैसे (क्यों) दु:खी किया ? ऐसा तो तीन लोक में होता नहीं कि कोई स्वयं को दु:खी करना चाहे । अत: सिद्ध है कि नानाप्रकार के भिन्न-भिन्न पदार्थ स्वयमेव अनादि-निधन बने हैं, कोई किसी का कर्त्ता नहीं है (किसी ने किसी को बनाया नहीं है)।

सर्व व्यापि एक ब्रह्म कहने में नानाप्रकार की विपरीततायें भासित होती हैं। अत: हे स्थूल बुद्धि ! ये तेरा श्रद्धान मिथ्या है, प्रत्यक्ष में आंखों से दिखने वाली वस्तुओं में क्या संदेह तथा क्या प्रश्न ? आंखों देखी वस्तु को भूलता है तथा कुछ की कुछ कहता है, अथवा कुछ की कुछ मानता है, उसके अज्ञानपने का क्या कहना ? जैसे कोई पुरुष किसी अन्य पुरुष

को ऐसा कहे कि तू तो मर गया, तब वह पुरुष अपने को मरा हुआ मानने लगे तो उस जैसा मूर्ख कौन होगा ?

यदि तू कहेगा कि मैं क्या करूं ? अमुक शास्त्र में ऐसा ही लिखा है। सर्वज्ञ के ऐसे ही वचन हैं, उन्हें झूंठ कैसे मानूं ? उसे समझाते हैं – हे भाई ! प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध हों वे आगम ग्रन्थ सच्चे नहीं हैं तथा उस आगम ग्रन्थ का कर्त्ता भी प्रमाणिक पुरुष नहीं है । यह नि:संदेह है कि जो आगम अनुमान प्रमाण से मेल खाये वह ही आगम प्रमाण सच्चा है तथा उसी आगम के कर्ता पुरुष प्रमाण हैं । पुरुष प्रमाण से वचन प्रमाण होता है तथा वचन के प्रमाणिक होने से ही पुरुष प्रमाणिक होता (माना जाता) है । इसप्रकार जो सर्वज्ञ-वीतराग हैं वे ही पुरुष प्रमाण (विश्वास करने योग्य) हैं ।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, इन छह पदार्थों से ही लोक की उत्पत्ती है। ये छहों द्रव्य अनादि निधन हैं, इनका कर्त्ता कोई नहीं है । यदि किसी को इनका कर्त्ता कहा जावे तो उस कर्त्ता को किसने बनाया ? यदि कोई यह कहे कि कर्त्ता अनादि निंधन है, तो ये भी छह द्रव्य अनादि निधन हैं। अत: यह नियम निश्चित हुआ कि कोई पदार्थ किसी का कर्त्ता नहीं है । सभी पदार्थ अपने-अपने स्वभाव के कर्त्ता हैं तथा अपने-अपने स्वभाव से स्वयं ही परिणमन करते हैं ।

जीव द्रव्य का स्वभाव तो चेतन है तथा पुद्गल मूर्तिक स्वभाव वाला है । धर्म द्रव्य का चलने में सहकारी होना (निमित्त होना) स्वभाव है, अधर्म द्रव्य का चेतन तथा अचेतन सभी को ठहरने में निमित्त होना स्वभाव है । आकाश का अवगाहना (अन्य द्रव्यों को स्थान) देना असाधारण स्वभाव है, काल द्रव्य का वर्तना लक्षण हेतुत्व स्वभाव है । जीव द्रव्य (पदार्थ) तो (प्रत्येक जीव अलग-अलग) अनन्त हैं । पुद्गल द्रव्य उनसे (जीवों से) भी अनन्त गुणे हैं । धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य एक-एक हैं । आकाश द्रव्य भी एक ही है । काल के कालाणु असंख्यात पदार्थ

हैं । एक जीव (के प्रदेश) तीन लोक के प्रदेशों प्रमाण हैं, उनमें संकोच-विस्तार शक्ति है, उसके कारण ही कर्मों के निमित्त से सदैव शरीर के आकार प्रमाण (जितना) है, अवगाहना शक्ति से तीन लोक प्रमाण हैं।

आत्मा जिस शरीर को प्राप्त करता है उसकी ही अवगाहना में समा जाता है । पुद्गल का (एक परमाणु का) आकार एक रुई के तार के अग्र भाग के असंख्यातवें भाग है तथा गोल षटकोण रूप हैं। धर्म, अधर्म द्रव्य का आकार तीन लोक प्रमाण है, अत: उन्हें सर्व व्यापी कहा जाता है । काल अमूर्तिक है, पुद्गल के सदृश्य एक प्रदेश मात्र एक कालाणु है । जीव तो चेतन द्रव्य है, शेष पांचों द्रव्य अचेतन है । पुद्गल मूर्तिक द्रव्य है, शेष पांचों द्रव्य अमूर्तिक है । आकाश द्रव्य लोक तथा अलोक सब स्थानों में पाया जाता है, शेष पांचों लोक में ही पाये जाते हैं ।

जीव तथा पुद्गल द्रव्य धर्म द्रव्य के निमित्त से क्षेत्र से क्षेत्रान्तर गमन करते हैं तथा जीव पुद्गल को छोडकर शेष चार द्रव्य अनादि निधन ध्रुव अर्थात स्थित (एक ही स्थान पर ठहरे) हैं । जीव तथा पुद्गल तो स्वभाव से शुभ तथा अशुभ दोनों रूप परिणमन करते हैं तथा शेष चारों द्रव्य स्वभाव रूप ही परिणमन करते हैं, विभाव रूप नहीं परिणमते । जीव तो सुख-दु:ख रूप परिणमता है (सुख-दु:ख का वेदन करता है) तथा शेष पांचों द्रव्य सुख-दु:ख का वेदन नहीं करते । जीव तो स्वयं सहित सर्व के स्वभाव को अन्यों से भिन्न जानता है, शेष पांचों द्रव्य न तो स्वयं को जानते हैं न ही अन्य को । काल द्रव्य के निमित्त से पांचों द्रव्य परिणमन करते हैं तथा काल द्रव्य स्वयं ही अपने आप परिणमन करता है ।

जीव पुद्गल के निमित्त से (अथवा अन्य जीव को निमित्त से) राग आदि अशुद्ध भावरूप परिणमता है । जीव कर्म के निमित्त से नाना प्रकार के दु:ख सहता है तथा संसार में नाना प्रकार की पर्यायें धारण करता हुआ भ्रमण करता है तथा कर्म के निमित्त से ही (उसका ज्ञान) आच्छादित होता है, इस को औपाधिक भाव कहते हैं । कर्मों से रहित हुआ जीव

केवलज्ञान संयुक्त होता हुआ महा अनन्त सुख का भोक्ता होता है तथा तीन काल सम्बन्धी सारे चराचर पदार्थों को एक समय में युगपत जानता है। दो परमाणु आदि के स्कंधों को अशुद्ध पुद्गल कहा जाता है तथा अकेले एक परमाणु को शुद्ध पुद्गल द्रव्य कहते हैं।

तीन लोक हैं वे पवन के वातवलयों के आधार हैं तथा धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य का भी सहाय (निमित्त) है। तीन लोक के परमाणुओं का एक पुद्गल स्कंध महास्कंध नाम प्राप्त करता है, उसी में तीन लोक जुडे हैं। उस महास्कंध में कुछ (पुद्गल परमाणु) सूक्ष्म रूप हैं तथा कुछ बादर रूप हैं। तीन लोक का ऐसा स्वरूप जानना।

यहां कोई कहे कि इतना कारण तो कहा, पर तीन लोक का बोध (अधर ठहरना) कैसे हो ? उसे समझाते हैं – हे भाई ! ये ज्योतिष देवों के असंख्यात विमान (तारे, नक्षत्र आदि) अधर कैसे ठहरे दिखते हैं तथा बडे-बडे पक्षी आकाश में उडते देखे जाते हैं। पतंग आदि अन्य भी आकाश में हवा के कारण अधर में उडते देखे जाते हैं। यह तो सभी प्रकार हो सकता है पर वासुकि राजा आदि को तीन लोक का आधार माना जावे, वह तो संभव नहीं है। वासुकि स्वयं बिना आधार आकाश में कैसे टहरा रहा (यदि वासुकि बिना आधार आकाश में ठहरा रह सकता हैं तो लोक क्यों नहीं ठहरा रह सकता)? तथा यदि वासुकि को भी अन्य आधार पर ठहरा माना जावे, तो उसमें वासुकि का क्या कर्तव्य रहा ? अनुक्रम से परंपरा आधार का अनुक्रमपना रहा। अत: वह नियमरूप (निश्चित रूप) से संभव नहीं है। हमने जो पहले कहा था वही संभव है। इसप्रकार छहों द्रव्यों का विवरण जानना। इन छहों द्रव्यों (के अनादि निधन होने) के अतिरिक्त अन्य कोई इनका कर्त्ता है, ऐसा मानना नहीं।

छहों द्रव्यों में से एक को कर्त्ता कहें वह बनता नहीं है। यह न्याय ही है, ऐसा ही अनुमान प्रमाण में आता है। अत: आज्ञा प्रधानी पुरुष से

परीक्षा प्रधानी पुरुष को उत्तम कहा है । परीक्षा प्रधानी पुरुषों के ही कार्य सिद्ध होते हैं । छहों मतों (सांख्य, नैयायिक, वैषाषिक आदि मतों) में पदार्थों का स्वरूप भिन्न-भिन्न कहा है । अत: बुद्धिमान पुरुष ऐसा विचार करते हैं – छहों मतों में से कोई एक मत ही सत्य हो सकता है, छहों तो सत्य हैं नहीं, क्योंकि उनमें परस्पर विरोध है । किस मत की आज्ञा मानें, यह कैसे निरधार हो, अत: परीक्षा करना ही उचित है । परीक्षा करने के पश्चात् अनुमान से मिलान होना, वही प्रमाण है । उन छहों मतों के अतिरिक्त भी एक सर्वज्ञ-वीतराग का मत है, उस मत में जो पदार्थों का स्वरूप कहा है वह ही अनुमान (तर्क से सिद्ध वस्तु स्वरूप) से मिलता है, अत: सर्वज्ञ-वीतराग का मत ही प्रमाण (सच्चा) है, क्योंकि वह ही अनुमान से मेल खाता है ।

अन्य मतों में जैसा वस्तु-स्वरूप कहा है वह अनुमान (तर्क) से मेल नही खाता, अत: वे मत अप्रमाण हैं । मुझे राग-द्वेष का अभाव है, जैसा वस्तु का स्वरूप था, वैसा ही तर्क से प्रमाण किया है, मुझे राग-द्वेष होते तो मैं भी अन्यथा श्रद्धान कर लेता । राग-द्वेष के चले जाने पर अन्यथा श्रद्धान होता नहीं, जैसा जाने वैसा ही बताने में राग-द्वेष है नहीं । राग-द्वेष तो तब कहा जावे जब वस्तु का स्वरूप तो कुछ हो तथा राग-द्वेष से प्रेरित होकर बताया कुछ अन्य ही जावे ।

मुझे ज्ञानवरण के क्षयोपशम से यथार्थ ज्ञान हुआ है, मैं भी सर्वज्ञ (होने की शक्ति वाला) हूँ । केवलज्ञान जैसा मेरा निज स्वरूप है । अभी कुछ दिन कर्म के उदय के कारण ज्ञान की हीनता दिखती है, तो क्या हुआ ? वस्तु के द्रव्यत्व स्वभाव में तो कुछ बदलाव (होता) नहीं है । अभी भी मुझे जितना ज्ञान है वह केवलज्ञान का बीज (केवलज्ञान उत्पन्न कर देने की शक्ति वाला) है । अत: मेरी बुद्धि ठीक है , इसमें कोई संदेह मत करो । इसप्रकार सामान्य रूप से छह द्रव्यों का स्वरूप कहा ।

चन्द्र सूर्यादि में तारण-तरण की विपरीत मान्यता

आगे संसारी जीव चन्द्रमा तथा सूर्य को तारण-तरण देव मानते हैं। उनसे कहते हैं – जो चन्द्रमा तथा सूर्य जगत में दिखाई देते हैं, वे तो विमान हैं, वे अनादि-निधन शाश्वत हैं। इन पर चन्द्रमा तथा सूर्य (देव) अनन्त हो गये हैं। चन्द्रमा का विमान सामान्यपने एक हजार आठ सौ कोस चौडा है तथा सूर्य का विमान एक हजार छह सौ कोस चौडा है। ग्रह-नक्षत्र-तारों के विमान उत्कृष्ट तो पांच सौ कोस बडे तथा जघन्य एक सौ पच्चीस कोस चौडे हैं एवं अर्द्ध नारियल के अथवा नगारे के आकार के हैं। उनकी नोक तो अधोलोक की ओर है तथा ऊपर की ओर समचौकोर (समतल) हैं।

ये पांचों ही प्रकार के ज्योतिष विमान (चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारे) रत्नमय हैं तथा इनके ऊपर की ओर नगर बसे हैं। उन विमानों में बडे-बडे विस्तार वाले रत्नमय खाई, रत्नमय कोट, रत्नमय दरवाजे, रत्नमय बाजार, रत्नमय अनेक मंजिलें भवन स्थित हैं। उन नगरों में असंख्यात देव, देवांगनायें रहती हैं तथा उनके स्वामी ज्योतिष देव हैं। बारह वर्ष का राजपुत्र अथवा राजपुत्री जिसप्रकार शोभित होते हैं, उसी प्रकार ये देव-देवांगनायें शोभित होती हैं।

उनका आकार मनुष्य का जैसे ही है पर अन्तर इतना है कि देवों का शरीर महासुन्दर रत्नों जैसा दिव्य, महा सुगंधित, कोमल तथा अनेक गुणों से संयुक्त होता है। सर पर मुकुट होता है। रत्नमय वस्त्र पहनते हैं, रत्नमय ही अनेक प्रकार के आभूषण पहनते हैं, रत्नमय अथवा महा सुगंधित पुष्पों (कल्पवृक्षों के पुष्पों) की माला पहनते हैं। उनके शरीर क्षुधा, तृषा आदि किसी भी प्रकार का रोग नहीं होता है। बाल दशा की ही भांति आयुबल (जब तक आयु है तब तक) पर्यन्त देव तथा देवांगनाओं के शरीर एक जैसे रहते हैं। भाव यह है कि देवों को बुढापा नहीं आता है।

विमानों की भूमि में नाना प्रकार की पन्ने के सदृश्य हरियाली दूब होती है । नाना प्रकार के वन, बावडी, नदी, तालाब, कुये, पर्वत आदि अनेक प्रकार की शोभा पाई जाती है । कहीं पुष्प वाटिका शोभित है, कहीं नव निधियां अथवा चिंतामणी रत्न शोभित हैं। कहीं पन्ने, माणिक, हीरे आदि नाना प्रकार के रत्नों के पुंज शाोभित हैं । इस लोक में जैसे बडे-बडे मंडलेश्वर राजा राज्य करते हैं उसीप्रकार उन विमानों में ज्योतिष देव राज्य करते हैं । उनका पुण्य चक्रवर्ती से अनन्त गुणा अधिक है, जिसका वर्णन कहां तक करें ।

ये ज्योतिष देव चयकर (वहां से मर कर) तिर्यन्च गति में आ उत्पन्न होते हैं । उन्हें तारने में कोई समर्थ नहीं है । जो स्वयं ही काल के वश हो वह अन्यों को कैसे तार सकता है ? जगत के जीव भ्रम बुद्धि से ऐसा मानते हैं कि सूर्य तथा तारों के विमान आकाश में गमन करते हैं, उन विमानों को ही वे चन्द्रमा, सूर्य कहते हैं तथा इन्हें गाडी के पहिये मानते हैं । तारों को कूंडा (एक प्रकार का पात्र) मानते हैं । इन चन्द्रमा, सूर्य की मान्यता करते हैं तथा पूजा करते हैं कि ये चन्द्रमा, सूर्य हमें सहायता करेंगे ।

अज्ञानी जीवों को ऐसा विचार नहीं है कि दस पांच कागजों के पतंग सौ-दो सौ हाथ ऊंचाई में आकाश में उडंती हैं, वे भी तनिक कौये जैसी दिखती हैं । तो सूर्य का विमान सोलह लाख कोस ऊंचाई पर है तथा चन्द्रमा का विमान जो सतरह लाख साठ हजार कोस की ऊंचाई पर हैं, तारों के विमान पन्द्रह लाख अस्सी हजार कोस की ऊंचाई पर हैं । ये गाडी के पहिये के समान हैं तथा इतनी ऊंचाई पर हैं वे कैसे भला करेंगे ? अन्य भी उदाहरण कहते हैं।

देखो दो तीन कोस चौडा तथा पांच-सात कोस ऊंचा पर्वत जो पृथ्वी पर चौडाई लिये स्पष्ट स्थित है । वह पर्वत दस-बीस कोस दूरी तक तो नजर आता है पर ज्यादा दूर से दिखाई नहीं पडता है । इन्द्रिय ज्ञान की ऐसी ही हीन शक्ति है जिससे दूर की बहुत सी (सभी नहीं) वस्तु निर्मल

दिखाई देती है (जैसे चन्द्रमा आदि जो बहुत दूर है दिखाई देते है)। केवलज्ञानी अथवा अवधिज्ञानी दूरवर्ती सूक्ष्म वस्तुओं को भी निर्मल देखते हैं। चन्द्रमा, सूर्य के विमान ऐसे छोटे हों तो दूर से कैसे दिखाई दें ? यह नियम है ।

कोई कहेगा कि ज्योतिष देव, ग्रह भव्य तो हैं, पर संसारी जीवों को दु:ख देते हैं, अत: इन्हें पूजने, इनके लिये दान करने पर ये शान्त रहते हैं । उससे कहते हैं – हे भाई ! तेरी भ्रम बुद्धि है, ये ज्योतिष देवों के विमान अढाई द्वीप में स्थित मेरू पर्वत के चारों ओर गोलाई (गोल क्षेत्र) में प्रदक्षिणा रूप भ्रमण करते हैं। किसी ज्योतिष देव का विमान शीघ्र गमन करता है, कोई विमान मंद गमन करता है । उनकी चाल को देखकर अथवा उनकी चाल में किसी का जन्म आदि देखकर विशेष ज्ञानी आगामी होतव्यता (होनहार -भवितव्यता) को बताते हैं ।

इसका उदाहरण कहते हैं – जैसे सामुद्र के चिन्ह (हस्त रेखायें आदि) देखकर उसकी होतव्यता बताते हैं अथवा उसको वैसा (अपने स्वार्थ वश अपने कहे अनुसार करने के लिये) भवितव्यता बताते हैं। जैनागम में उसी प्रकार होतव्यता बताने के लिये आठ प्रकार का निमित्त ज्ञान है । उनमें से एक ज्योतिष निमित्त ज्ञान है । ये आठ प्रकार के निमित्त ज्ञान किसी ईति भीती (अच्छा बुरा होनहार) टालने में तो समर्थ हैं नहीं, समर्थ हों तो इन्हें पूजें ।

इसी भाँति हरिण, गिलहरी, चिडिया, वायस (कौआ) इत्यादि का सगुन (उस समय की स्थिति) आगे होने वाले होनहार को बता सकने के लिये कारण रूप हैं, पर क्या इनको पूजने से ईति-भीती टाली जा सकती है ? कदापि नहीं टाली जा सकती। इसप्रकार ज्योतिष देवों को पूजने अथवा उनके लिये दान देने पर ईति-भीती अंश मात्र भी टल नहीं सकती, उल्टा अज्ञानता से महा कर्म बंध होता है । जिनेश्वर देव को पूजने पर ही शान्ति होती है, अन्य उपाय तीन लोक -त्रिलोक में हैं

नहीं। जीवों के भ्रम बुद्धि ऐसी है, जैसे किसी पुरुष को महादाह ज्वर हुआ हो तथा पुन: अग्नि आदि ऊष्णता का ही उपचार करें तो उस पुरुष को शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ? उसीप्रकार पहले ही यह जीव मिथ्यात्व से ग्रस्त हो रहा है तथा फिर भी मिथ्यात्व का ही सेवन करे तो यह जीव कैसे सुखी हो सकता है तथा उसे कैसे शान्ति प्राप्त हो सकती है।

कुछ लोग महादेव को अयोनि, शंभु, तारण-तरण मानते हैं तथा उसके द्वारा सर्वसृष्टि का संहार किया जाना मानते हैं। उसे महाकामी मानते हैं, उसके गले में मनुष्यों के मस्तकों की माला मानते हैं । उसे कामी कैसे मानते हैं ? वह कहते हैं – महादेव का आधा शरीर स्त्री का तथा आधा शरीर पुरुष का है, अत: उसे अर्द्धांगी कहा जाता है। वह स्त्री में रागी है ?

उससे कहते हैं – हे भाई ! ऐसा सारी सृष्टि के मारने वाला एवं महाविडरूप जो हो वह पुरुष तारने में कैसे समर्थ होगा ? जिसका नाम सुनने पर ही ताप उत्पन्न हो उसका दर्शन करने पर सुख कैसे उत्पन्न होगा ? यह तो जगत में न्याय है कि जैसा कारण मिले वैसा ही कार्य सिद्ध होता है। इसका उदाहरण कहते हैं – जैसे अग्नि के संयोग से दाह ही उत्पन्न होता है तथा जल के संयोग से शीतलता ही उत्पन्न होती है। कुशील स्त्री के संयोग से विकार भाव उत्पन्न होते हैं तथा शीलवान पुरुष के संयोग से विकार भाव भी नष्ट हो जाते हैं। विषपान करने से प्राणों का हरण होता है, अमृत पीने से प्राणों की रक्षा होती है। सिंह, व्याघ्र, सर्प, हाथी, रोग आदि के संयोग से भय ही उत्पन्न होता है तथा दयालु साधुजनों के संयोग से निर्भय आनन्द ही उत्पन्न होता है। ऐसा तो होता नहीं है कि अग्नि के संयोग से शीतलता हो तथा जल के संयोग से उष्णता हो जाती हो, इत्यादि इसीप्रकार जानना । अत: हे भाई ! महादेव का जो निजरूप (वास्तविक स्वरूप) है वह बताते हैं – ऐसे महादेव अर्थात रुद्र चतुर्थ काल में कुल ग्यारह ही उत्पन्न होते हैं, उनकी उत्पत्ति कैसे होती है वह बताते हैं।

रुद्र की उत्पत्ति

जैनों के निर्ग्रन्थ गुरुओं में से कोई गुरु तथा आर्यिका भ्रष्ट होकर कुशील का सेवन करते हैं । फिर मुनि तो तुरन्त ही दण्ड (प्रायश्चित) लेकर छेदेपस्थापन करते हैं तथा शुद्ध होकर पुन: मुनिव्रत धारण करते हैं । आर्यिका के गर्भ रह जाने पर गर्भ गिराया जाता नहीं है, अत: किसी शुद्ध स्थान पर नव मास पर्यन्त गर्भ को पूरा विकसित कर पुत्र को जन्म देकर किसी स्त्री अथवा पुरुष को सौंपकर अर्जिका भी उसीप्रकार दीक्षा धारण कर लेती है । बालक बडा होकर जब आठ-दश वर्ष का हो जाता है तब अन्य बालक "तेरी मां कौन है" पूछ-पूछ कर उसका हास्य करते हैं । तब वह बालक जिसके यहां पल रहा होता है उससे जाकर पूछता है - "मेरे माता-पिता कौन हैं, मैं किसका बेटा हूँ?" तब वे मुनि-आर्यिका का यथार्थ वृतान्त कह देते हैं। वह बालक अपने को मुनि-आर्यिका का पुत्र जानकर उन्हीं मुनिराज के पास दीक्षा धारण कर लेता है ।

वह बालक प्रथम तो मुनि-आर्यिका के वीर्य से उत्पन्न हुआ होने के कारण महापराक्रमी तो होता ही है, दीक्षा धारण कर लेने के बाद मुनि सम्बन्धी तपश्चरण कर अनेक ऋद्धियां तथा अनेक विद्यायें सिद्ध कर लेता है । केवलज्ञानी अथवा अवधिज्ञानी मुनि के मुख से कथा सुनता है कि यह महादेव स्त्री के संयोग से मुनि पद से भ्रष्ट होगा । महादेव मुनि पद से भ्रष्ट होने के भय से एकान्त पर्वत आदि पर ध्यान धरता है। वहां अनेक बालिकायें आकर स्नान क्रीडा आदि करती हैं । वह मुनि उन बालिकाओं के समस्त वस्त्र ले लेता है तथा बालिकाओं के मांगने पर भी नहीं देता है तथा कहता है तुम मुझसे शादी करो तो वस्त्र दूं । तब वे लडकियां कहती हैं कि हम क्या जाने ? हमारे माता-पिता जानें । इस पर वह महादेव कहता है कि तुम्हारे मां-बाप शादी करें तो शादी कर लोगी यह स्वीकार करो ? इसप्रकार प्रतिज्ञाबध कर उनके वस्त्र देता है । वे लडकियां जाकर

अपने-अपने माता-पिता से महादेव मुनि का सारा वृतान्त कहती हैं। उन लडकियों के माता-पिता ऐसा विचार करते हैं कि महादेव महापराक्रमी है, यदि हम अपनी इन लडकियों की शादी उससे नहीं करेंगे तो महादेव दु:ख देगा। ऐसा विचार कर सभी अपनी लडकियां उसे परणा देते हैं।

महादेव ने उन सभी लडकियों को भोगा तो उसके वीर्य के तेज के कारण सभी कन्यायें मरण को प्राप्त हुईं। अन्त में महादेव ने पर्वत नाम के राजा की पार्वती नामक पुत्री से शादी की जो उसके भोग को बर्दास्त कर सकी। अत: वह महादेव उस पार्वती को रात-दिन जहां-तहां भोगने लगा। किसी की भी शंका (छुपाव) नहीं रखता। सारे नगर के स्त्री-पुरुष एवं उस देश का राजा यह बात सुनकर एवं यह विपरीतता देखकर बहुत दु:खी हुये, परन्तु उसे जीतने में असमर्थ रहे, अत: और भी ज्यादा दु:खी हुये। तब पार्वती के माता-पिता ने पार्वती से कहा – तू महादेव से पूछ कि ये विद्यायें उससे कब दूर रहती हैं ? पार्वती के पूछने पर महादेव ने कहा – अन्य तो किसी भी समय दूर नहीं रहती, केवल तुमसे भोग करते समय दूर रहती हैं। ये समाचार पार्वती ने माता-पिता को कहे। राजा पर्वत ने यह भेद जानकर भोग करते समय ही महादेव को मारा। उन महादेव की विद्याओं के इष्ट दाता देव ने सारे नगर में महादु:ख उत्पन्न किये तथा कहा कि हमारे स्वामी को तुमने क्यों मारा ? राजा ने कहा – मर गया वह तो वापस आवेगा नहीं, अन्य आप कहें जैसा हम करें। उस व्यन्तर देव ने कहा – भग (योनी) सहित महादेव के लिंग की पूजा करो। पीडा के भय से नगर में लोगों ने वही आकार बना कर पूजा करना प्रारम्भ किया तथा व्यन्तर देव के भय से कुछ काल तक पूजते रहे।

भेड चाल जैसे यह प्रवाह जगत में चल निकला तथा देखा-देखी जगत में पूजा जाने लगा। वह ही प्रवृत्ति अभी भी चली आ रही है। जगत के जीवों को ऐसा ज्ञान नहीं है कि हम किसको पूज रहे हैं तथा

इसका क्या फल होगा ? यह मिथ्यात्व की प्रवृत्ति बिना चलाये स्वयंमेव ही चली आ रही है, धर्म की प्रवृत्ति चलाने पर भी चलती नहीं। यह बात न्याय संगत ही है, क्योंकि बहुत जीवों को संसार में ही भ्रमण करते रहना है तथा बहुत कम जीवों को संसार रहित (मुक्त) होना है। देखो ! स्त्री का दगाबाज स्वभाव, कि जगत को दिखाने के लिये तो ऐसी लज्जा करती है, शरीर के अंगोपांग अंश मात्र भी दिखाती नहीं तथा माता-पिता भाई इत्यादि के देखते होने पर भी महादेव के लिंग तथा पार्वती के भग की चौराहे पर नि:शंक होकर पूजा करती है । किसी के मना करने पर भी मानती नहीं है । यह न्याय ही है कि मोह कर्म के उदय के कारण सारे जीवों में विषय-कषायों की आसक्ती स्वयमेव ही बिना चाहे ही बनी रहती है । फिर विषयों का और भी पोषण किया जावे तो क्या कभी धर्म हुआ है ? यदि विषयों के पोषण से ही धर्म होता हो तो पाप किस कार्य से होगा ? अत: यह श्रद्धान अयुक्त है ।

कृष्णजी के सबक कर्त्तापने की मान्यता :- आगे और भी कहते हैं – कोई ऐसा कहते हैं कि कृष्णजी सब के कर्त्ता हैं तथा यह भी कहते हैं कि उनने पशुओं को चराया, मक्खन चुरा-चुरा कर खाया, पर-स्त्रियों से रमण किया तथा क्रीडा की । उनसे कहते हैं – हे भाई ! कोई भी ऐसा महन्त पुरुष होकर नीच कार्य कभी नहीं करेगा, यह नियम है । नीच कार्य करे तो बडा पुरुष नहीं कहलाता। कार्य के अनुसार ही पुरुषों में ऊंच-नीचपन होता है, ऐसा नहीं है कि नीच कार्य करते-करते प्रभुत्व प्राप्त करले तथा उच्च कार्य करते नीचता को प्राप्त हो । ऐसा जगत में प्रत्यक्ष देखा जाता है ।

एक दो गांव का ठाकुर हो वह भी ऐसे निंद्य कार्य करता नहीं, तो बडा पृथ्वीपति राजा अथवा देव अथवा परमेश्वर होकर ऐसा निंद्य कार्य कैसे करे ? यह प्रकृति का स्वभाव ही है । बालक हो वह तरुण अवस्था के अथवा वृद्ध अवस्था में करने के कार्य नहीं करता तथा वृद्ध हो जाने पर

अथवा तरुण हो जाने पर बालक अवस्था के कार्य नहीं करता, इत्यादि प्रकार सर्वत्र जानना । जैसा कृष्णजी के प्रभुत्व शक्ति का वर्णन जैन सिद्धान्त में किया है, वैसा वर्णन अन्य मतों में नहीं है ।

वे कृष्णजी तीन खंड के स्वामी थे। बहुत से देव, विद्याधर तथा मुकुटबंध राजा उनकी सेवा करते थे तथा कोटी शिला उठाने जैसा उनमें बल था । नाना प्रकार के वैभव से संयुक्त थे तथा निकट भव्य हैं । शीघ्र ही तीर्थंकर पद प्राप्तकर मोक्ष जावेंगे । फिर भी वे राज्य अवस्था में नमस्कार करने योग्य नहीं थे । नमस्कार करने योग्य दो ही पद हैं, एक तो केवलज्ञानी का तथा दूसरा निर्ग्रन्थ गुरु का। अत: मोक्ष के चाहने वालों के द्वारा राजा को नमस्कार करना कैसे संभव होता । कृष्ण गोपियों के साथ गली-गली में नाचते फिरे, बंसी बजाते फिरे, इत्यादि नाना क्रियाओं का सद्भाव बताते हैं, वह कैसे है ? वह बताते हैं – भाई के स्नेह के कारण बलभद्रजी ने स्वर्ग से आकर नाना प्रकार चेष्ठायें की थीं, वह प्रवृत्ति चली आ रही है । जगत का यह स्वभाव है कि जैसा देखें वैसा ही मानने लग जाते हैं, नफे-नुकसान का विचार नहीं करते । अज्ञान के वश यह जीव क्या-क्या अयथार्थ श्रद्धान नहीं करता ?

अन्य मान्यतायें :– कोई यह कहते हैं कि हरि की ज्योति है उसमें से चौबीस अवतार निकले हैं । कोई कहता है कि सब से बडी तो भवानी है । कोई कहता है कि चौबीस तीर्थंकर, चौबीस अवतार तथा चौबीस पीर एक ही हैं । कहने मात्र नाम में संज्ञा भेद है, वस्तु भेद नहीं है । कोई गंगा, सरस्वती, यमुना, गोदावरी, इत्यादि नदियों को तारण-तरण मानते हैं। कोई गाय को तारण-तरण मानते हैं कि गाय की पूंछ में तैतीस करोड़ देवता रहते हैं। कोई जल, पृथ्वी, अग्नि, वनस्पति, को परमेश्वर का रूप मानते हैं । कोई भैरव, क्षेत्रपाल, हनुमान को मानते हैं । कोई गणेश को पार्वती पुत्र मानते हैं । ऐसा विचार नहीं करते कि गंगा आदि जड-अचेतन पदार्थ कैसे तारेंगी ? एक पूंछ में तैतीस करोड देव कैसे निवास

करेंगे, पार्वती स्त्री को गणेश (हाथी जैसे मुख वाला) पुत्र कैसे होगा?

समुद्र तो एकेन्द्रिय जल है, उसके चन्द्रमा पुत्र कैसे होगा । यह हनुमान पवनजय नाम के महामंडलेश्वर राजा का पुत्र था, यह बात तो संभव है । बाली, सुग्रीव, हनुमान आदि वानर वंशी (मनुष्य थे बंदर नहीं, उनके वंश का नाम बानर था) थे तथा महा पराक्रमी विद्याधरों के राजा थे। ये विद्याधर राजा वानर का रूप भी बना लेते थे, अन्य भी अनेक प्रकार के रूप बना लेते थे । इनको ऐसी हजारों विद्यायें सिद्ध थीं जिनसे वे आश्चर्यकारी चेष्ठायें करते थे ।

कोई ऐसा कहे कि वे तो वानर ही थे, उन्हें ऐसा विचार नहीं कि तिर्यंच में ऐसा बल पराक्रम कैसे होगा कि जिससे संग्राम में लड सकें तथा रामचन्द्रजी आदि राजाओं से बात कर सकें, मनुष्य की भाषा कैसे बोलेंगे ? इसीप्रकार रावण आदि राक्षसवंशी विद्याधरों के राजा थे, जो राक्षस न होकर राक्षसी विद्या आदि हजारों विद्याओं से बहुत रूप आदि बनाने की नाना प्रकार की क्रियायें करते थे । लंका स्वर्ण की थी तो आग से कैसे जली ?

कोई ऐसा कहते हैं कि वासुकि राजा फण के ऊपर धरती को धारण किये हैं तथा पृथ्वी सदा अचल है । परन्तु कृष्णजी ने सुमेरू पर्वत को तो मथानी बनाया तथा वासुकि राजा को रस्सा बनाकर उससे समुद्र को मथा तथा मथने से लक्ष्मी, कौस्तंभ मणि, पारिजात अर्थात फूल, सुरा अर्थात शराब, धन्वंतरि वैद्य, चन्द्रमा, कामधेनु गाय, ऐरावत हाथी, रंभा देवांगना, सात मुंहवाला घोडा, अमृत, पंचानन शंख, विष, कमल ये चौदह रत्न निकाले । उन्हें ऐसा विचार नहीं कि वासुकि राजा को पृथ्वी के नीचे से निकाल लिया तो पृथ्वी किसके आधार पर रही ? सुमेरू को उखाड लिया तो उसे शाश्वत कैसे कहते हो ? चन्द्रमा आदि चौदह रत्न अब तक समुद्र में थे तो चन्द्रमा के बिना आकाश में गमन किसका होता (दिन-रात कैसे होते थे) था, चांदनी कौन करता था तथा एकम, दोज आदि तिथियां एवं कृष्ण, शुक्ल पक्ष तथा महिना, वर्ष की प्रवृत्ति कैसे होती

थी ? लक्ष्मी के बिना पुरुष धनवान कैसे होते थे ? ये प्रत्यक्ष विरुद्ध बातें कैसे सत्य होना संभव है?

कोई कहता है कि कोई राक्षस पृथ्वी को पाताल में ले गया, फिर वराह का अवतार हुआ जिसने पृथ्वी का उद्धार किया। उन्हें ऐसा विचार नहीं कि ये पृथ्वी शाश्वत थी तो राक्षस कैसे हर ले गया ? कोई कहता है कि सूर्य कश्यप राजा का पुत्र है तथा बुद्ध चन्द्रमा का पुत्र है, शनीचर सूर्य का पुत्र है, हनुमानजी बंदरी के कान में मैल से पुत्र हुये। द्रोपदी को महासती कहते हैं तथा उसके पांच पांडव पति भी कहते हैं।

उन्हें विचार नहीं कि कश्यप राजा की पत्नी के गर्भ में इतना भारी विमान कैसे रहा होगा ? चन्द्रमा तथा सूर्य तो विमान हैं, उनके बुद्ध तथा शनीचर पुत्र कैसे होंगे तथा कुँवारी स्त्री के कान के मैल से पुत्र कैसे होगा ? द्रोपदी के पांच पति होने पर भी उसके सतीपना कैसे रहा? ये सब बातें भी प्रत्यक्ष विरूद्ध हैं, इनका सत्य होना कैसे संभव हो ? इत्यादि भ्रम बुद्धि करके जगत भ्रम रहा हैं, जिसका वर्णन कहां तक करें ?

यह बात न्याय संगत ही है कि संसारी जीव को ही भ्रम बुद्धि न हो तो किसको हो ? किसी पंडित ज्ञानी पुरुष के तो भ्रम बुद्धि होती नहीं। यदि पंडित ज्ञानी पुरुषों में भी भ्रम बुद्धि हो तो फिर संसारी जीवों में तथा पंडित ज्ञानी पुरुषों में विशेष अन्तर क्या हुआ (दोनों एक जैसे हुये) ? धर्म है वह तो लोकोत्तर है। भावार्थ :- धर्म प्रवृत्ति तो लोक-रीति से उल्टी होती है, लोक की प्रवृत्ति तथा धर्म की प्रवृत्ति में परस्पर विरोध है, ऐसा जानना।

आगे जगत की अन्य भी विडम्बनायें दिखाते हैं - कई व्यक्ति तो बड, पीपल, आंवला आदि नाना प्रकार के वृक्षे जो एकेन्द्रिय वनस्पति हैं, उन्हें यह मनुष्य पंचेन्द्रिय होकर भी पूजता है तथा उनकी पूजा करके फल चाहता है। वे बहुत से बहुत फल पावेंगे तो पंचेन्द्रिय से उल्टे एकेन्द्रिय होने रूप फल पावेंगे, यही बात युक्त भी है। जैसे कोई व्यक्ति

एक हजार रुपये का मालिक हो तथा कोई व्यक्ति उसकी बहुत सेवा पूजा करे जिससे वह बहुत संतुष्ट भी हो जावे तो ज्यादा से ज्यादा एक हजार रुपये दे देगा, ज्यादा देने की तो उसकी सामर्थ ही नहीं है । उसीप्रकार एकेन्द्रिय को पूजने पर एकेन्द्रिय होने रूप ही फल मिलेगा । गाय, हाथी, घोडे, बैल आदि को पूजने पर इन जैसे होने रूप ही फल मिलेगा, इससे अधिक कुछ मिले, यह तो नियम से संभव नहीं है ।

कोई हाथ से लकडी काटकर उसे जलाकर उसी के चारों ओर चक्कर लगाकर उसी के गीत गाते हैं, उसे ही माता कहते हैं तथा मस्तक पर धूल राख; (भष्म) डालकर विपरीत होकर चांवल आदि खाकर काय की विकृत चेष्ठा रूप प्रवर्तेते हैं तथा माता-पिता, बहन, भावज आदि की शरम छोड कर नानाप्रकार से छोटे भाई की स्त्री इत्यादि अन्य स्त्रियों में जल-क्रीडा आदि अनेक प्रकार क्रीडा एवं कुचेष्ठायें कर आकुल-व्याकुल होकर महानरक आदि के पाप उपार्जित करते हैं तथा अपने को धन्य मानते हुये, महापाप करके भी शुभ फल चाहते हैं । ऐसा कहते हैं – हम होली माता को पूजते हैं, जो हमें अच्छा फल देगी । ऐसी विडम्बना जगत में प्रत्यक्ष देखी जाती है ।

संसारी जीव ऐसा विचार नहीं करते कि ऐसा महापाप करके उसका अच्छा फल कैसे मिलेगा ? ये होली क्या वस्तु है, अब इसका स्वरूप कहते हैं – होली एक साहूकार की बेटी थी, वह दासी के निमित्त से पर-पुरुष में रत थी । वह उस पुरुष से निरन्तर भोग भोगती थी । एक बार होली के मन में यह विचार आया कि यह बात अन्य कोई तो जानता नहीं है एकमात्र दासी ही जानती है । यदि इसने किसी से कह दिया तो मेरा बहुत बुरा होगा, अत: इसे मार दिया जावे । ऐसा विचार कर उसने उस दासी को अग्नि में जला दिया, जो मरकर व्यंतरी हुई ।

व्यंतरी ने अपने अवधिज्ञान से पिछला सारा वृतान्त जाना एवं महाक्रोधित होकर नगर के सारे लोगों को रोग से पीडित किया । तब उस

नगर के लोग यह प्रार्थना करने लगे कि यदि कोई देव ऐसा कर रहा हो तो वह प्रकट हो, वह जो कहेगा, हमें मंजूर है । वह व्यंतरी प्रकट हुई तथा होली का सारा वृतान्त कहा । नगर के लोगों ने कहा कि तुम हमें जो आज्ञा दोगी वही हम करेंगे । कुछ हट करने के पश्चात व्यंतरी ने कहा कि लकड़ी की होली बनाओ, उसके चारों ओर फूस डालकर जला दो एवं इसे लेकर सारे नगर में घूमो तथा यह वृतान्त सब से कहते फिरो, उसे अपमानित करो, सब अपने सर पर धूल डालो तथा नहाओ एवं प्रति वर्ष ऐसा दोहराओ । भय के मारे लोगों ने ऐसा ही किया ।

जीवों को ऐसी ही विषय वासना की चेष्ठायें सुहाती हैं । जैसे "भूलै चोर कटारी पाछै" (भूल से चोरी कर लेने पर जैसे कटारी खाने का दंड भुगतना पडता है) वैसे ही यह निमित्त बना । अब इस प्रवृत्ति को मिटाने में कौन समर्थ है ? तब से यह होली समस्त जगत में फैल गयी तथा अब तक चली आ रही है । इसीप्रकार गणगौर, राखी, दिवाली आदि इसप्रकार की नाना प्रवृत्तियां जगत में फैली हैं । अब इनके निवारण में कौन समर्थ है ।

जीवों की अज्ञानता का और भी स्वरूप कहते हैं - शीतला, बोदरी, फोडा आदि शरीर में रक्त विकारों से होते हैं, इन्हें भी लोग बहुत आदर से पूजते हैं । पर देखो ! इनको पूजते-पूजते भी पुत्र आदि मर जाते हैं तथा जो नहीं पूजते उनके पुत्र आदि जिन्दा रहते देखे जाते हैं । फिर भी वे अज्ञानी जीव इन्हें उसीप्रकार मानते पूजते हैं तथा कहते हैं कि छाणों (गोबर को थाप कर सुखा कर जलाने हेतु बने - कंडों) को जलाने के लिये रोडी कौन वापरे (खरीदे - इकट्ठी) करे ।

देहरी, पथवारी, गाडे की पेंजनी (चिकनाई), दवात, बही, कुलदेवी, चौथ, गाज, अणंत इत्यादि कोई वस्तु ही नहीं (जीव नहीं हैं, पुदगल हैं)। पथवारी को बहुत अनुराग से पूजते हैं । सती, अहूत पितर आदि को पूजते हैं । इत्यादि कुदेवों का कहां तक वर्णन करें ? जिनका कुदेव ही सर्व जगत (सब कुछ) है, ऐसा सारा जगत ही कुदेवों को पूजता है, उनका

वर्णन करने में कौन ऐसा बुद्धिमान पंडित है जिसे असमर्थता न भासित होती हो ? किस-किस के पांवों तले ये जीव अपना मस्तक तथा आंखें झुकाते हैं ? बहुत झुकाते हैं, यह मोह का ही माहात्म्य है ।

मोह से यह जीव अनादि काल से संसार में भ्रमण कर रहा है तथा नरक, निगोद आदि के दु:ख सह रहा है । उन दु:खों को वर्णन करने में गणधर देव भी समर्थ नहीं हैं । अत: परमदयालु श्री गुरु कहते हैं - हे वत्स ! हे पुत्र ! यदि तू अपना हित चाहता है तथा महासुखी होना चाहता है तो मिथ्यात्व का सेवन छोड । बहुत कहने से क्या ? जो विचक्षण पुरुष हैं वे तो थोडे में ही समझ जाते हैं तथा जो ढीठ हैं उन्हें कितना भी कहो वे नहीं मानते । यह बात न्याय की ही है । जीव की जैसी होनहार होती है वैसी ही उसे बुद्धि उत्पन्न होती है । इसप्रकार संक्षेप में कुदेवों का वर्णन किया।

कुशास्त्र व कुधर्म का वर्णन

आगे कुशास्त्र तथा कुधर्म का वर्णन करते हैं । कुशास्त्र किसे कहते हैं ? जिनमें हिंसा, झूंठ, चोरी कुशील आदि में अथवा परिग्रह रखने की इच्छा में धर्म बताया गया हो तथा दुष्ट जीवों को अथवा बैरियों को सजा देना, भक्तों की सहायता करना, राग-द्वेष रूप प्रवर्तन करना, अपनी प्रशंसा तथा दूसरों की निंदा करने का वर्णन (उपदेश) हो वे कुशास्त्र हैं। पांचों इन्द्रियों के पोषण में धर्म समझना; तलाब, कुये, बावडी आदि खुदाने से, इनमें नहाने से तथा यज्ञ करने से धर्म मानता हो तथा इनके (ऐसा) करने कराने का जिनमें वर्णन हो, पुष्कर, प्रयाग आदि तीर्थ कराने तथा विषयों में आसक्त नाना प्रकार के कुगुरुओं को पूजने में धर्म मानने का वर्णन हो उन्हें कुशास्त्र जानना ।

दस प्रकार के खासे दान का ब्यौरा – स्त्री, दास, दासी का दान करना, हाथी, घोडा, ऊंट, बैल, भैंसा, गाय, जमीन, गांव, हवेली आदि के दान रूप कुदान करना, छुरी, कटारी, बरछी, तलवार, लाठी आदि शस्त्र

का तथा राहू, केतु आदि ग्रहों के निमित्त लोहा, तिल, तेल, वस्त्र आदि का तथा स्वर्ण का दान देना, मूली, शकरकंद का दान करने तथा ब्राह्मण भोजन कराना एवं कुल आदि कों निमंत्रण देकर जिमाना, ककडी, खरबूजा आदि का दान करना इत्यादि नाना प्रकार के खोटे दानों का वर्णन जिनमें हो वे सब कुशास्त्र हैं। ये जानते नहीं हैं कि ये दान तीन प्रकार के पाप के कारण हैं - हिंसा, कषाय तथा विषयों की आसक्ति की तीव्रता – इन दानों से होती है, अत: ये दान महापाप के कारण हैं। इनका फल नरक निगोद आदि है। जिनमें श्रृंगार, गीत, नृत्य आदि अनेक प्रकार की कला चतुराई, हाव-भाव कटाक्ष आदि का वर्णन हो, खोटे मंत्र, यंत्र, तंत्र, औषध, वैद्यक, ज्योतिष का वर्णन हो, इत्यादि जीवों के भव-भव में दु:ख के कारणों का जिनमें वर्णन हो, परमार्थ का जिनमें कथन नहीं हो, ऐसे शास्त्रों को कुशास्त्र कहते हैं। इन शास्त्रों के सुनने, श्रद्धान करने से नियम से जीव का बहुत बुरा होता है, भला तो अंश मात्र भी नहीं होता। कुशास्त्रों का ऐसा स्वरूप जानना।

कुगुरु का स्वरूप

आगे कुगुरु का स्वरूप कहते हैं। कुगुरु कैसे हैं ? कई तो बहुत परिग्रही हैं, कई महाक्रोध से संयुक्त हैं, कई मान से संयुक्त हैं, कोई माया अर्थात दगाबाजी से संयुक्त हैं, कोई लोभ से संयुक्त हैं। उनको पर-स्त्री से भोग करने में भी शंका नहीं है। कुगुरु और कैसे हैं ? कई तो सामग्री के साथ जीवों का होम करते हैं, कई अनछने पानी से (नदी तलाब आदि में) स्नान करने में धर्म मानते हैं कोई शरीर पर राख लगाये हैं तो कोई जटा बढाये हैं। कोई ठाढश्वरी अर्थात एक हाथ अथवा दोनों हाथ ऊंचे किये रहते हैं। कोई अधोमुख होकर अग्नि पर झूलते हैं। कोई ग्रीष्म ऋतु में बालू पर लोटते हैं। कोई झिरझिर कपड़ा पहनते हैं, कोई बाघाम्बर धारण किये हैं, कोई गले में लम्बी माला डाले रहते हैं, कोई कत्थई कपडे पहनते हैं, कोई टाट के कपडे पहनते हैं, कोई मृग छाल पहनते हैं, उनका कल्याण कैसे हो।

यदि छापे तिलक से ही कल्याण होता हो तो खैखरा के दिन बैल आदि का सर्व शरीर छपा दिया जाता है उनका भी कल्याण हो जावे ? तथा यदि ध्यान धरने पर ही कल्याण होता हो तो बगुला ध्यान धरता है उसका भी कल्याण हो जाना चाहिये। राम-राम कहने मात्र से कल्याण होता हो तो पिंजरे में बंद तोता सदा राम-राम कहता रहता है, उसका भी कल्याण हो जाना चाहिये। घर बार छोडकर बन में बसने मात्र से कल्याण हो तो बंदर तथा बहुत से पशु सदैव वन में नग्न रहते हैं, उनका कल्याण क्यों न हो। इन सब का कदाचित भी कल्याण नहीं होता क्योंकि कल्याण होने का कारण कुछ और ही है। कुगुरु का स्वरूप ऐसा जानना।

अत: हे भव्य ! ऐसे कुगुरु आदि का सेवन दूर से ही तजो। बहुत कहने से क्या ? विचक्षण पुरुष हैं वे तो थोडे में ही समझ लेते हैं तथा अज्ञानी बहुत कहने पर भी नहीं समझते। देव-गुरु-धर्म का स्वरूप एक-एक ही प्रकार का है, अन्य-अन्य प्रकार के नहीं हैं। उनका स्वरूप पहले वर्णन कर ही चुके हैं, वैसा-वैसा जानना। उनसे ही मोक्षमार्ग है, अन्य का सेवन संसार में भ्रमण का मार्ग है।

श्री गुरु कहते हैं – हे वत्स ! हे पुत्र ! जो तुझे अच्छे लगें उनका सेवन कर, मेरे कहने पर मत रह। परीक्षा करके देव, गुरु, धर्म की प्रतीति कर। यथार्थ देव, गुरु, धर्म की प्रतीति किये बिना जितना (तथाकथित – जो धर्म तो है नहीं पर धर्म कहा जाता है) धर्म किया जाता है, वह सब निष्फल होता है। जैसे एक के अंक के बिना कितने ही शून्य हो सब निरर्थक हैं।

कई सिंह की खाल पहने हैं, कई नग्न होकर नाना प्रकार के शस्त्र धारण करते हैं, कई वन-फल ही खाते हैं, कई कुत्ते आदि तिर्यन्चों को रखते हैं, कई मौन धारण किये रहते हैं, कई पवनाभ्यास करते हैं, कई ज्योतिष, वैद्यक, मंत्र, तंत्र, यंत्र करते हैं, कई लोगों को दिखाने हेतु ध्यान धरते हैं, कई स्वयं को महंत मानते हैं,कई स्वयं को सिद्ध मानते हैं, कई

स्वयं को पुजाना चाहते हैं, कई राजा आदि से स्वयं को पुजाकर बहुत प्रसन्न होते हैं तथा नहीं पूजने वाले पर क्रोध करते हैं, कई कान फडवाकर भगवां कपडे पहनते हैं तथा मठ बनवाकर लाखों रुपयों की दौलत रखते हैं तथा गुरु कहलवाने की ठसक रखते हैं, भोले जीवों से पांव पडवाते हैं, इत्यादि नाना प्रकार के कुगुरु हैं, उनका कहाँ तक वर्णन करें ?

अब युक्ति पूर्वक समझाते हैं – यदि नग्न रहने से ही कल्याण होता हो तो तिर्यन्च सदैव नग्न रहते हैं, उनका कल्याण क्यों न हो ? राख लगाने से कल्याण होता हो तो गधे सदैव राख में लोटते हैं, उनका कल्याण क्यों न हो ? सर मुंडाने से कल्याण होता हो तो भेड को बार-बार मूंडते हैं, उसका कल्याण क्यों न हो ? स्नान करने से ही कल्याण होता हो तो मैंढक, मछली आदि जलचर जीव सदैव पानी में रहते हैं, उनका कल्याण क्यों न हो ? जटा बढाने से कल्याण होता हो तो बड आदि पेडों की धरती पर्यन्त जटा बढी रहती है । इत्यादि ऐसा करने वाले सर्व कुगति के पात्र हैं, ऐसा जानना ।

श्रीगुरु और भी कहते हैं – हे पुत्र ! तुझे दो बाप का बेटा कहें तो तू लडने को तैयार हो जावेगा पर तेरे दो गुरु बतावें तो तू अंश मात्र भी बुरा नहीं मानेगा । माता-पिता तो स्वार्थ के सगे हैं, उनसे एक पर्याय का सम्बन्ध है, उनसे तो तेरी इतनी ममत्व बुद्धि है तथा जिन गुरुओं का सेवन करने से जन्म-मरण के दुःख दूर होते हैं तथा स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति होती है उनके सम्बन्ध में तेरी ऐसी प्रतीति है वह तेरी ऐसी परिणति तुझे सुखदायी नहीं है । अतः यदि तू अपने हित की इच्छा रखता है, तो एक सर्वज्ञ, वीतराग देव के वचनों को अंगीकार कर तथा उन्हीं के वचन के अनुसार देव, गुरु, धर्म का श्रद्धान कर ।

इति श्री श्रावकाचार ग्रन्थ की भाषा वचनिका सम्पूर्ण हुई ।

परिशिष्ठ - 1

जीवन -पत्रिका
(ब्र. पं. रायमल्ल)

आगे कुछ समाचार एकदेश जघन्य संयम के धारी रायमल्ल अपने सम्बन्ध में कहते हैं ।

यह असमानजाति पर्याय उत्पन्न हुये, तीन वर्ष नव मास हुये, उस समय हमारे ज्ञेय को जानने की प्रवृत्ति निर्मल हुई, जो धारण शक्ति के बल से आयु पर्यन्त स्मृति में रही। तीन वर्ष नव मास पहले हम परलोक सम्बन्धी चारों गतियों में से किसी ग़ति में अनन्त पुदगल परमाणु तथा एक हम दोनों मिलकर एक असमान जाति द्रव्य पर्याय को प्राप्त हुये थे, उसका व्यय हुआ ।

उसी समय हम उस पर्याय सम्बन्धी नोकर्म शरीर को छोड कार्माण शरीर सहित इस मनुष्य भव में वैश्य कुल में उत्पन्न हुये। कैसे उत्पन्न हुये ? जैसे भिष्टा आदि अशुचि स्थान में लट-क्रमि आदि जीव उत्पन्न होते हैं, वैसे ही माता-पिता के रुधिर-शुक्र में आकर वहां नोकर्म जाति की वर्गणा को ग्रहण कर अन्तर्मूहूर्त काल में छहों पर्याप्तियां पूर्ण की । उसी समय रुधिर सहित नाक के श्लेष्मा के पुंज सदृश्य शरीर का आकार हुआ। बाद में अनुक्रम से बढते-बढते कुछ दिनों बाद मांस के लोथडे सदृश्य आकार हुआ । फिर कुछ समय बाद सूक्ष्म आंख, नाक, कान, मस्तक, मुँह, हाथ-पांव आदि इन्द्रियां दृष्टि में आ सकें ऐसा आकार हुआ । इसप्रकार बढता-बढता एक बालिश्त (लगभग 8-9 इंच) प्रमाण आकार हुआ । इसप्रकार नव मास पर्यन्त उल्टा, सर नीचे पांव ऊपर, घुटनों के बीच मस्तक, चमडे की थैली से आच्छादित, माता की विष्टा

आदि खाकर महाकष्ट सहित नाना प्रकार की वेदना सहते, छोटे से (मां के) पेट में उदराग्नि में जलते हुये, जहां पवन का संचार नहीं, ऐसी अवस्था को धारण किये नव मास नरक के सदृश्य दु:खों से पूर्ण किये। फिर गर्भ के बाहर निकला, बाल अवस्था के दु:खों से भरे फिर तीन वर्ष पूर्ण किये। इसप्रकार तीन वर्ष नव मास का भावार्थ जानना ।

इस अवस्था से पूर्व में जो अवस्था हुई उसका जानपना तो हमें है नहीं । कुछ पिछले जानपने की याद है वह कहते हैं । तेरह चौदह वर्ष की अवस्था होने पर स्वयमेव विशेष बोध हुआ, जिससे ऐसा विचार होने लगा कि जीव का स्वभाव तो अनादिनिधन अविनाशी है । धर्म के प्रभाव से सुख होता है, पाप के निमित्त से दु:ख होता है । अत: धर्म ही का साधन करना चाहिये, पाप का साधन नहीं करना चाहिये। परन्तु शक्ति हीनता के कारण अथवा यथार्थ ज्ञान के अभाव के कारण उत्कृष्ट उपाय तो बना नहीं । सदैव परिणामों की वृत्ति ऐसी रही कि धर्म भी प्रिय लगे तथा इस पर्याय सम्बन्धी कार्य भी प्रिय लगे ।

सहज ही दयालु स्वभाव, उदारचित, ज्ञान-वैराग्य की चाह, सत संगति में रहना, गुणीजनों के चाहक होते हुये इस पर्याय रूप प्रवर्तते रहे । मन में ऐसा संदेह उत्पन्न होता कि सदैव इतने मनुष्य उत्पन्न होते हैं, इतने तिर्यन्च उत्पन्न होते हैं, इतनी वनस्पति उत्पन्न होती है, इतना अनाज, सप्त धातु, षटरस, मेवा आदि नाना प्रकार की वस्तुयें उत्पन्न होती हैं, वे कहां से आती हैं तथा विनश कर कहां जाती हैं ? परमेश्वर को इनका कर्त्ता कहा जाता है, वह कर्त्ता परमेश्वर तो कहीं दिखता नहीं है । ये तो स्वयं उत्पन्न होती, स्वयं विनशती दिखती है, इनका स्वरूप किससे पूछा जावे ?

ऊपर-क्या क्या रचना है, नीचे क्या-क्या रचना है, पूर्व आदि चार दिशाओं में क्या-क्या रचना है, उनका जानपना किसी को है अथवा नहीं है ? ऐसा संदेह कैसे मिटे ?

कुटुम्ब आदि के बडे पुरुषों को इनका स्वरूप कभी पूछा तब किसी ने तो कहा कि परमेश्वर कर्त्ता है, किसी ने कहा कर्म कर्त्ता है, किसी ने कहा हम तो जानते नहीं है । कभी किसी अन्य मत के गुरु अथवा ब्राह्मण को महासिद्ध अथवा विशेष पंडित जानकर उनसे पूछा तब किसी ने कहा कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश ये तीन देव इस सृष्टि के कर्त्ता हैं, कोई कहता राम कर्त्ता हैं, कोई कहता है बडे में बडी भवानी है वह कर्त्ता है । कोई कहता नारायण कर्त्ता हैं। बेमाता लेख (भाग्य) लिखती है, धर्मराज लेखा (हिसाब) लेते हैं, यम का रथ प्राणी को (दूसरी पर्याय के लिये) ले जाता है, शेषनाग पृथ्वी को फण पर धारण किये हैं । इसप्रकार वस्तु स्वरूप भिन्न-भिन्न बताते थे । कोई भी ठीक एक बात कहता नहीं था । यह न्याय ही है कि सच्चे हों तो सब (वस्तु स्वरूप को) एकरूप ही कहें तथा जिन्हें कुछ भी सच्ची जानकारी नहीं है एवं अन्दर में मान कषाय विद्यमान है उसका आश्रय करके चाहे जैसा वस्तु का स्वरूप बताते हैं, जो अनुमान (तर्क) से प्रत्यक्ष विरुद्ध होता है । अत: हमें सदैव इस बात की व्याकुलता रहती थी, संदेह मिटता नहीं था ।

कभी ऐसा विचार होता था कि यहां कुछ (धर्म अर्थात पुण्य) साधन करने पर बाद में उसके फल में तो राजपद पाते हैं, यहां पाप कर पुन: नरक जाते हैं तो ऐसे धर्म से भी क्या सिद्धि हुई ? ऐसा धर्म करना चाहिये जिससे संसार के सारे दु:खों से निवृत्ति हो जावे । ऐसा विचार करते-करते ही आयु बाईस वर्ष की हो गयी।

उस समय साहिपुरा (शाहपुरा) नाम के नगर में नीलापति नाम के साहूकार का संयोग हुआ । उसे शुद्ध दिगम्बर धर्म का श्रद्धान था । देव, गुरु, धर्म की प्रतीति थी । आगम, अध्यात्म शास्त्रों का पाठी था। षटद्रव्य, नव पदार्थ, पंचास्तिकाय, सप्त तत्व, गुणस्थान, मार्गणास्थान, बंध-उदय-सत्व आदि चर्चा का पारगामी, धर्म की मूर्ति, ज्ञान का सागर था । उसके तीनों पुत्र भी विशेष धर्म बुद्धि वाले थे तथा अन्य भी पांच, सात,

दस व्यक्ति धर्मबुद्धि वाले वहां थे । उनसे सदैव चर्चा होती थी, नाना प्रकार के शास्त्रों का अवलोकन होता था । अत: हमने उसके निमित्त से सर्वज्ञ वीतराग का सत्य स्वरूप जाना तथा उसके वचनों के अनुसार सर्व तत्वों का यथार्थ स्वरूप जाना।

थोडे ही दिनों में भेद-विज्ञान हुआ, जैसे सोता हुआ व्यक्ति जाग उठता है वैसे मैं अनादि काल का मोह निद्रा में सो रहा था, वह जिनवाणी के प्रसाद से एवं नीलापति आदि साधर्मियों के निमित्त से सम्यग्ज्ञानरूपी दिवस का उदय हुआ। अपना स्वरूप आदि साक्षात ज्ञानानन्द सिद्ध सदृश्य जाना तथा सब चरित्र (कार्य) पुदगल द्रव्य का जाना । रागादि भावों की निज स्वरूप से भिन्नता अथवा अभिन्नता भली प्रकार जानी । इसप्रकार हमने विशेष तत्वज्ञान के जानपने सहित आत्म रूप प्रवर्तन किया। वैराग्य परिणामों के बल से तीन प्रकार का त्याग – (1) सर्व हरित काय का त्याग (2) रात्रि में अन्न जल का त्याग (3) आयु पर्यन्त विवाह करने का त्याग किया। ऐसे होते हुये सात वर्ष पर्यन्त वहां रहे ।

फिर राणाजी के उदयपुर में दौलतराम तेरापंथी, जयपुर के जयसिंह राजा के वकील से, धर्म के लिये मिले । उन्हें संस्कृत का अच्छा ज्ञान था। बाल अवस्था से लेकर वृद्ध अवस्था तक सदैव स्वाध्याय के कारण सौ-पचास शास्त्रों का अवलोकन किया था । वहां दौलतराम के निमित्त से दस-बीस साधर्मी भाई तथा दस-बीस बहिनों सहित सहेली (गोष्ठी) का बनाव बनता था । उनका अवलोकन करके वापस साहिपुर लौटे । फिर कुछ दिन बाद जयपुर के साहुकार के पुत्र टोडरमल, जिन्हें विशेष ज्ञान था, उनसे मिलने के लिये जयपुर गये। यहां उन्हें नहीं पाया तथा एक बंसीधर जो किंचित संयम के धारक थे, विशेष व्याकरण आदि एवं जैन मत के शास्त्रों के पाठी थे, जिनके पास सौ-पचास पुरुष, स्त्रियां, छात्र व्याकरण, छंद, अलंकार, काव्य पढ़ते थे तथा चर्चा करते थे, उनसे मिले ।

फिर उन्हें छोडकर आगरा गये। यहां स्याहगंज में व्याकरण के पाठी तथा बहुत जैन शास्त्रों के पारगामी भूधरमल साहूकार से मिले तथा शहर में व्याकरण के पाठी, जैन अग्रवाल धर्मपाल जो मोतीकटला के चैत्यालय में शास्त्र का व्याख्यान करते थे से तथा सौ-दौ सौ साधर्मी भाईयों से मिले। उनसे मिलकर जयपुर आये।

इसके बाद शेखावाटी में सिंघाणा नगर जहां टोडरमलजी एक दिल्ली के बडे साहूकार साधर्मी के समीप कर्म-क्रिया (रोजगार) के लिये रहते थे वहां हम गये तथा टोडरमलजी से मिले। नाना प्रकार के प्रश्न किये उनका उत्तर वे "गोम्मटसार" नामक ग्रन्थ के आधार से देते गये। इस ग्रन्थ की महिमा हमने पहले भी सुन रखी थी, उनसे भी विशेष जानी तथा टोडरमलजी के ज्ञान की अद्भुत महिमा देखी।

अत: हमने टोडरमलजी से कहा – आपको इस ग्रन्थ का परिचय (ज्ञान) हुआ है। आप द्वारा इसकी भाषा टीका हो तो बहुत जीवों का कल्याण हो तथा जिनधर्म का उद्योत हो। अभी इस वर्तमान काल में काल दोष के कारण जीवों की बुद्धि तुच्छ रह गयी है, आगे इससे भी अल्प रहेगी, अत: ऐसे प्राकृत भाषा के महान ग्रन्थ जिसकी मूल गाथायें एक हजार पांच सौ हैं तथा जिसकी संस्कृत टीका में अलौकिक चर्चा समूह है तथा जो संदृष्टियों तथा गणित शास्त्र की आम्नाय सहित, अठारह हजार पदों में लिखी हुई है, उसका भाव भासित होना महा कठिन है। इसके ज्ञान की प्रवृत्ति बहुत काल से लेकर अब तक नहीं है, तो आगे भी इसकी प्रवृत्ति कैसे चलती रहेगी ? अत: आप इस ग्रन्थ की भाषा टीका करने का कार्य शीघ्र करें। आयु का भरोसा नहीं है।

पीछे हमारी प्रेरणा के निमित्त से उनको टीका करने का अनुराग हुआ। पहले भी इसकी टीका करने का उनका विचार था ही, हमारे

कहने से विशेष मनोरथ हुआ। तब शुभ दिन मुहूर्त में सिंघाणा नगर में उनने टीका करना प्रारम्भ किया। वे तो टीका करते गये तथा हम पढते गये। तीन वर्ष में ''गोम्मटसार'' ग्रन्थ की अडतीस हजार, ''लब्धिसार-क्षपणासार'' ग्रन्थ की तेरह हजार, ''त्रिलोकसार'' ग्रन्थ की चौदह हजार पद प्रमाण, सब मिलाकर पैंसठ हजार पद प्रमाण में चारों ग्रन्थों की टीका हुई ।

इसके बाद जयपुर आये तथा ''गोम्मटसार''आदि चारों ग्रन्थों की टीकाओं को शोधकर उनकी बहुत प्रतियां बनवाई । जहां सहेली (गोष्ठियां) थीं वहां-वहां जगह-जगह भिजवाई (विराजमान कराई)। इसप्रकार इन ग्रन्थों (टीकाओं) का अवतार हुआ । अभी के अनिष्ट काल में टोडरमलजी को ज्ञान का क्षयोपशम विशेष हुआ था । इस गोम्मटसारजी ग्रन्थ का पढ़ना पांच सौ वर्ष पहले था, बाद में बुद्धि की मंदता के कारण भाव सहित पढना रह गया (बंद हो गया), अब पुनः इसका उद्योत हुआ ।

वर्तमान काल में यहां धर्म का निमित्त है वैसा अन्यत्र नहीं है । वर्तमान काल में जैन धर्म की प्रवृत्ति कैसी पाई जाती है, उसका विशेष वर्णन आगे इन्द्रध्वज पूजा विधान में लिखेंगे । वहां से जानना ।

फिर काल दोष के कारण बीच में एक उपद्रव हुआ, वह बताते हैं । संवत् 1817 (एक हजार आठ सौ सतरह) के वर्ष में अषाढ मास में अपने (ब्राह्मण) मत में कट्टर तथा पाप मूर्ति एक श्यामराम नाम का ब्राह्मण उत्पन्न हुआ । वह राजा माधवसिंह का गुरु था, उसने राजा को वश में किया तथा जिनधर्म से द्रोह करके नगर के तथा सारे ढूंढार प्रदेश के जिन मंदिरों को नष्ट किया । सब को वैष्णव बनाने का उपाय किया । जिसके कारण लाखों जीवों को महाघोर दुःख हुआ तथा महापाप का बंध हुआ । यह उपद्रव डेढ वर्ष तक चला ।

फिर जिनधर्म के अतिशय से इस पापी का मान भंग हुआ तथा पुनः जिनधर्म का उद्योत हुआ। सर्व जिनमंदिरों का पुनः निर्माण हुआ, पहले की अपेक्षा जिनधर्म का प्रभाव दोगुना, तीन गुना, चार गुना प्रवर्तता। उस समय इस नगर में बीस तीस नये जिनमंदिर बने। उनमें दो जिनमंदिर तेरापंथ आम्नाय को लिये अद्भुत शोभा सहित बहुत विस्तार वाले बने। जहां निरन्तर हजारों पुरुष-स्त्रियां देवलोक के समान मंदिरजी में आकर महापुण्य उपार्जन करते हैं तथा दीर्घकाल के संचित पापों का नाश करते हैं। सौ-पचास पुरुष पूजा करते हैं, सौ-पचास भाषा शास्त्रों को पढते हैं, दस-बीस संस्कृत शास्त्र पढते हैं। सौ-पचास व्यक्ति चर्चा करने वाले हैं तथा नित्य प्रति के शास्त्र सभा के व्याख्यान में पांच सौ -सात सौ पुरुष तीन चार सौ स्त्रियां शास्त्राभ्यास करती हैं। देश-देश से प्रश्न यहां आते हैं, जिनका समाधान होकर वहां पहुंचता है। इत्यादि चतुर्थकालवत अद्भुत महिमा सहित इस नगर में जिनधर्म की प्रवृत्ति पाई जाती है।

—●—

परिशिष्ठ – 2

इन्द्रध्वज विधान-महोत्सव पत्रिका
(ब्र. पण्डित रायमल्ल)

आगे माह शुक्ला 10 (दशमी) संवत् 1821 (अठारह सौ इक्कीस) के वर्ष में इन्द्रध्वज पूजा की स्थापना हुई । अत: देश-देश के साधर्मी बंधुओं को बुलाने के लिये चिट्ठियां लिखीं, उनकी नकल यहां लिखते हैं । (1) दिल्ली (2) आगरा (3) भिंड (4) कोरडा जिहानाबाद (5) सिरोंज (6) बडौदा (7) इन्दौर (8) औरंगाबाद (9) उदयपुर (10) नागौर (11) बीकानेर (12) जैसलमेर (13) मुल्तान आदि पर्यन्त ऐसी चिट्टी लिखीं, वह लिखते हैं :–

स्वस्ति । दिल्ली, आगरा आदि नगरों के समस्त जैन भाईयों के योग्य सवाई जयपुर से रायमल्ल का श्री शब्द वांचना (पढ़ना) यहां आनन्द वर्तता है । आपके आनन्द की वृद्धि हो । आप धर्म में बडे रुचिवान हैं ।

आगे यहां सवाई जयपुर नगर में इन्द्रध्वज पूजा शहर के बाहर आधे कोस (लगभग डेढ किलोमीटर) दूर मोतीडूंगरी के पास करना निश्चित हुआ है । पूजा की रचना का प्रारम्भ तो पोष कृष्णा एकम से ही होने लगा है । चौसठ गज चौडा तथा इतना ही लम्बा एक चबूतरा बना है । उस पर तेरह द्वीप की रचना बनाई गयी है । उसमें यथार्थ रूप से चार सौ अठावन (458) चैत्यालय, अढाई द्वीप के पांच मेरु, नन्दीश्वर द्वीप के बावन (52) पर्वतों पर जिनमंदिर बने हैं तथा अढाई द्वीप के क्षेत्र, कुलाचल, नदी, पर्वत, वन, समुद्र आदि की रचना बनी है । कहीं कल्पवृक्षों के वन तथा उनमें कहीं चैत्यवृक्ष, कहीं सामान्य वृक्षों के वन, कहीं पुष्प वाटिका, कहीं सरोवर,

कहीं कुंड, कहीं द्रह (सरोवर) में से निकलकर समुद्र में प्रवेश करती नदी आदि की रचना बनी है । कहीं महलों की पंक्तियां, कहीं ध्वजाओं के समूह, कहीं छोटी-छोटी ध्वजाओं के समूह का निर्माण हुआ है ।

पौष वदि एकम से लेकर माघ सुदी दशमी तक डेढ सौ कारीगर, रचना करने (पत्थर की कुराई करने) वाले सिलावट, चितेरे, दरजी, खराधी, खाती, सुनार आदि लगे हैं । उनकी महिमा कागज पर लिखने में नहीं आ सकती, देखने से ही जानी जा सकती है । ये रचना तो पत्थर चूने के चौसठ गज के चबूतरे पर बनी है । उसके चारों तरफ कपडे की सरायचां (कनातों) के कोट बनेंगे । चारों तरफ चार वीथिकाओं की रचना समवशरण की वीथिकाओं के सदृश्य बनेंगी । चारों ओर बडे-बडे कपडे के अथवा भोडल (अभ्रक) के काम के अथवा चित्रों के काम के दरवाजे खडे होंगे । उससे दूर चारों ओर नौबतखाना (वाद्ययंत्र बजाने का स्थान) शुरु होगा । चंबूतरे के चारों ओर आसपास दौ- सौ (200) डेरे तम्बू कनात खडे होंगे । चार हजार रेजे पाध (थान) लाल छींट के रंग कर आये हैं, जो निशान, ध्वजा, चंदोवा, बिछायत आदि में लगेंगे ।

झालर सहित रूपा (चांदी) के दो सौ छत्र नये घडाये (बनवाये) गये हैं । पांच-सात इन्द्र बनेंगे, उनके मस्तक पर पहनाने के लिये पांच-सात मीने के काम के मुकुट बनेंगें । बीस-तीस-चालीस गड्डी कागजों को (बाग तथा पुष्प वाटिकाओं के लिये फूल पौधे बनाने के लिये) अनेक प्रकार के रंगों से रंगा गया है तथा बीस-तीस मण (लगभग सैंतीस किलोग्राम का एकमण होता है) रद्दी कागज लगे हैं, जिनसे अनेक प्रकार की रचनायें बनी हैं । पांच सौ कोडी (एक कोडी बराबर बीस नग) सोट बांस रचना में लगेंगे ।

चौसठ गज के चबूतरे पर आगरा से आया एक ही बडा धरती से बीस गज ऊंचा शामियाना दो सौ कनातों पर आदमियों द्वारा खडा किया

जावेगा, जिससे पूरे चबूतरे पर छाया रहेगी तथा उस डेरे के चारों ओर चौबीस-चौबीस द्वार, कपडे के अथवा अभ्रक के झालरों सहित, अन्त में चबूतरे के किनारे पर बने हैं । चारों ओर कुल मिलाकर छयानवे (96) द्वार हुये। डेरे के बीच में ऊपर स्वर्ण के कलश चढाये गये हैं तथा आस-पास बहुत से छोटे बडे डेरे राज्य परिवार के लिये खडे किये जावेंगे । उनसे आगे (दूर) दीवानों तथा अनेक अधिकारियों के डेरे खडे होंगे । उनसे आगे यात्रियों के लिये डेरे खडे होंगे ।

पौष सुदी एकम से लेकर रोजाना पचास रुपये कारीगरों पर खर्च हो रहे हैं, जो माह सुदी दशमी तक लगेंगे । इसके बाद एक सौ रुपये रोजाना फाल्गुण वदी चौथ तक लगेंगे । तेरह द्वीप तेरह समुद्रों के बीच-बीच छब्बीस (26) कोट बनेंगे । राज्य से नाना प्रकार की जलुस (शोभायात्रा) सम्बन्धी सामग्री आयी है तथा आगरे में पहले जो इन्द्रध्वज पूजा हुई थी, उसका सारा सामान तथा जलुस का सामान यहां आया है तथा यहां अन्य समस्त सामग्री का निमित्त अन्य स्थानों से अधिक है अत: मनोरथ के (चाहे गये) अनुसार कार्य सिद्ध होंगे (समस्त व्यवस्था हो सकेगी)।

यह सारी द्वीप, नदी, कुलाचल, पर्वत आदि की रचना घनरूप (थ्री डाईमेंशनल) बनी है । चांवल रोली के मंडल की भांति प्रतर रूप (टू डाईमेंशनल) नहीं बनी है । ये रचना "त्रिलोकसार" ग्रन्थ के अनुसार बनी है तथा पूजा का विधान इन्द्रध्वज पूजा का संस्कृत का तीन हजार श्लोक प्रमाण जो पाठ है उसके अनुसार होगा । चारों ओर चार बडी-बडी गंधकुटियों में बडे-बडे जिनबिम्ब विराजमान होंगे, जिनकी प्रभात के समय चारों ओर से मुखिया साधर्मी युगपत पूजा करेंगे ।

बाद में चारों ओर अधिक बुद्धि के धारक भिन्न-भिन्न मुखिया साधर्मी शास्त्र का व्याख्यान करेंगे । देश-देश से आये यात्रि एवं यहां के (श्रोता) सब मिलकर शास्त्र का उपदेश सुनेंगे । इसके बाद भोजन लेना

आदि शरीर का साधन करने के बाद दो पहर दिन चढने से लेकर दो घडी दिन रहने पर्यन्त तक सुदर्शन मेरू के चैत्यालय से लेकर समस्त चैत्यालयों का पूजन इन्द्रध्वज पूजा के अनुसार होगा । इसके बाद चबूतरे की तीन प्रदक्षिणा देकर चारों ओर आरती होगी । इसके बाद सर्वरात्रि में चारों ओर जागरण होगा ।

सर्वत्र रूपा (चांदी), सोने, जरी के अथवा तबक (वर्क) के अथवा चित्रों से अथवा अभ्रक के काम से, समवशरण सदृश्य जगमगाहट लिये, शोभा बनेगी तथा लाखों चांदी-सोने के दीपक तथा फूल पूजा के लिये बनाये गये हैं । एक कल का (मशीन से चलने वाला) रथ बना है, जो बिना बैलों, बिना आदमियों, के मात्र कल को फिराने (मशीन घुमाने) से चलेगा। उस पर श्रीजी विराजमान होंगे तथा अन्य भी अनेक प्रकार की सवारियां बनेंगी। इत्यादि अद्भुत आश्चर्यकारी शोभा होगी, ऐसा जानना ।

सौ-दो सौ कोस के जैन बंधु संभी संघ बना-बना कर परिवार सहित पधारेंगे । यहां जैनियों का बडा समुदाय है ही तथा माघ सुदी दशमी के दिन लाखों आदमी अनेक हाथी, घोडों, पालकी, निशान, अनेक नौबत नगारे तथा सब प्रकार के बाजे (वाद्य यंत्रों) सहित बहुत उत्सव से, इन्द्रों द्वारा की गयी भक्ति की उपमा सहित चैत्यालय से श्रीजी रथ पर विराजमान होकर अथवा हाथी के अहोदे पर विराजमान होकर शहर के बाहर तेरह द्वीप की रचना में जा विराजमान होगें।

वहां फाल्गुण वदी चौथ तक ही पूजन होगा एवं नित्य शास्त्र का व्याख्यान, तत्वों का निर्णय, पठन-पाठन, जागरण आदि कार्य भी चतुर्थी तक (फाल्गुण वदी चौथ तक) ही होगा । उसके बाद श्रीजी वापस चैत्यालय में आ विराजेंगे। इसके बाद भी देश-देश के यात्रि पांच-सात दिन रहेंगे । इसप्रकार की उत्सव की महिमा जानना । अतः अपने को कृतार्थ करने के लिये सारे देश तथा प्रदेश के जैन बंधुओं को अग्रिम

सूचना देकर उन्हें भी साथ लेकर संघ बनाकर मुहूर्त से पांच-सात दिन पहले शीघ्र पधारें । ऐसा उत्सव फिर इस पर्याय में दिखना दुर्लभ है ।

यह कार्य यहां के राजा की आज्ञा से हुआ है तथा यह हुकुम हुआ है कि पूजा के अर्थ आपको जो भी वस्तुयें चाहिये वे सब दरबार (राज कोष) से लेलें । यह बात (हुकुम) उचित ही है क्योंकि धर्म राजा के चलाये ही चलता है । राजा की सहायता के बिना इतना बडा परम कल्याण का कार्य बन नहीं सकता तथा दोनों दीवान-रतनचन्द एवं बालचन्द - इस कार्य में अग्रणी हैं, अत: विशेष प्रभावना होगी ।

यहां (जयपुर नगर में) बडे-बडे अपूर्व जिनमंदिर बने हुये हैं । सभा में गोम्मटसारजी का व्याख्यान होता है जो दो वर्ष से तो चल रहा है तथा दो वर्ष पर्यन्त अभी और चलेगा। यह व्याख्यान टोडरमलजी करते हैं । यहां गोम्मटसार ग्रन्थ की अडतीस हजार (38,000), लब्धिसार-क्षपणासार ग्रन्थ की तेरह हजार (13,000), त्रिलोकसार ग्रन्थ की चौदह हजार (14,000), मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ की बीस हजार (20,000), बडे पद्मपुराण ग्रन्थ की बीस हजार (20,000) पदों प्रमाण टीकायें हुई हैं, उनका दर्शन होगा । यहां बडे-बडे संयमी भी रहते हैं उनसे भी मिलना हो सकेगा ।

दो-चार भाई धवला, महाधवला,जयधवला लेने के लिये दक्षिण देश में जैनबद्री एवं समुद्र तक गये हैं । वहां जैनबद्री में धवला आदि सिद्धान्त ग्रन्थ ताडपत्रों पर लिखे कर्णाटक भाषा में विद्यमान हैं, जिनमें एक लाख सत्तर हजार (1,70,000) मूल गाथायें हैं । उनमें धवला की सत्तर हजार (70,000), जवधवला की साठ हजार (60,000), महाधवला की चालीस हजार (40,000) गाथायें हैं । उनके किसी अधिकार के अनुसार ही गोम्मटसार, लब्धिसार-क्षपणासार बने हैं ।

वहां (दक्षिण) के राजा तथा रैयत (प्रजा) सारी जैन है तथा मुनिधर्म का वहां भी अभाव है । कुछ वर्ष पहले तक यथार्थ लिंग के धारक मुनि थे, अब काल दोष के कारण नहीं रहे । आस-पास में बहुत क्षेत्र हैं वहां होंगे (हो सकते हैं)। वहां करोडों रुपयों के काम के शिखरबंध बहुमूल्य पत्थरों के अथवा जिन पर सर्वत्र तांबे के पत्र के तीन कोट जिनके व्यास पाव (चौथाई) कोस हैं ऐसे सोलह बडे-बडे जिनमंदिर विराजमान हैं । जिनमें मूंगे, लहसुनिया आदि रत्नों के छोटे जिनबिम्ब बहुत हैं तथा अष्टाह्निका के दिनों में रथयात्रा का बडा उत्सव होता है ।

वहां एक अठारह धनुष (एक धनुष बराबर लगभग दो मीटर) ऊंचा, एक नव धनुष ऊंचा, एक तीन धनुष ऊंचा कायोत्सर्ग मुद्रा में भिन्न-भिन्न तीन देशों में तीन जिनबिम्ब स्थित हैं । वहां यात्रा जुडती है । उनका निराभरण पूजन होता है । उनका नाम गोमट्टस्वामी है । इसप्रकार के गोमट्टस्वामी आदि बहुत तीर्थ हैं ।

वहां शीतकाल में भी ग्रीष्म ऋतु जैसी गरमी पडती है तथा मुख्य रूप से चावल का भोजन विशेष है । वहां की भाषा को यहां के लोग समझते नहीं हैं, दुभाषियों के द्वारा समझाया जाता है । सुरंगपट्टन तक तो थोडे बहुत यहां के देश के लोग पाये जाते हैं । इसलिये यहां की भाषा को समझा देते हैं । सुरंगपट्टन के मनुष्य भी वैसे ही बोलते हैं । इससे आगे यहां के लोग नहीं हैं । सुरंगपट्टन आदि से (दुभाषियों को) साथ लेकर जाते हैं । हम उनका अवलोकन कर आये हैं (वहां जा आये हैं)।

यहां से एक हजार अथवा बारह सौ कोस दूर जैनबद्री नगर है । वहां जिनमंदिर में धवला आदि सिद्धान्त ग्रन्थ आदि तथा अन्य भी पूर्व एवं अपूर्व ग्रन्थ ताडपत्रों पर अथवा बांस के कागजों पर कर्णाटकी लिपि में अथवा मराठी लिपि में अथवा गुजराती लिपि में अथवा तेलगूदेश की लिपि में अथवा यहां के देश की लिपि में लिखे कई गाडियों में वहन के

योग्य भार वाले शास्त्र, जैनों के सारे प्रकार के यतियों के आचरण के, श्रावकों के आचरण के अथवा तीन लोक की रचना वर्णन के अथवा विशेष बारीक चर्चा के अथवा महंत पुरुषों (की जीवनियों) के कथन के पुराण अथवा मंत्र, तंत्र, यंत्र, छंद, अलंकार, काव्य, व्याकरण, न्याय, एकार्थकोष, नाममाला आदि भिन्न-भिन्न विषयों के शास्त्रों का भंडार मौजूद है । वहां अन्य भी बडे-बडे शहर हैं, उनमें भी शास्त्रों का समूह (भंडार) है । बहुत से शास्त्र ऐसे हैं जो बुद्धि की मंदता के कारण किसी से खुले नहीं (समझ में न आ सकने के कारण पढे नही जाते अथवा जिनका अर्थ स्पष्ट नहीं हो सका) । सुगम हैं वे ही पढे जाते हैं ।

वहां के राजा तथा प्रजा भी जैन है । सुरंगपट्टन में पचास घर जैन ब्राह्मणों के हैं । वहां का राजा भी कुछ वर्ष पूर्व जैन ही था । यहां से साढे तीन सौ कोस दूर औरंगाबाद है । वहां से पांच सौ कोस आगे सुरंगपट्टण है, उससे भी दो सौ कोस आगे जैनबद्री है । यहां से वहां तक बीच-बीच में अनेक बडे-बडे नगर हैं, उनमें बडे-बडे जिनमंदिर हैं तथा जैन लोगों का समूह रहता है । जैनबद्री से चार सौ कोस आगे खाडी समुद्र है । इत्यादि वहां की अद्भुत वार्ता जानना ।

धवला आदि सिद्धान्त ग्रन्थ तो वहां भी नहीं पढे जाते । दर्शन करने मात्र हैं । वहां की यात्रा जुडती है (होती है) । देव उनके रक्षक हैं, अत: इस देश में सिद्धान्त ग्रन्थों का आना हुआ नहीं । पांच-सात आदमियों के जाने-आने में दो हजार रुपये का खर्च पडा । एक साधर्मी डालुराम की पर्याय वहां ही पूर्ण हो गयी । उन सिद्धान्त ग्रन्थों के रक्षक देव डालुराम के स्वप्न में आये थे, उनने ऐसा कहा था – हे भाई ! तू इन सिद्धान्त ग्रन्थों को लेने आया है, ये सिद्धान्त ग्रन्थ उस देश में नहीं जावेंगे क्योकि वहां मलेच्छ पुरुषों का राज्य है । इस बात का उपाय करने में पांच-सात वर्ष लगे । पांच विश्वा (25%) विचार अब भी वर्तता है ।

औरंगाबाद से सौ कोस दूर एक मलयखेडा है । वहां भी तीनों सिद्धान्त ग्रन्थ हैं । इसलिये औरंगाबाद में बडे-बडे लक्षपति, विशेष पुण्यवान, जिनके जहाज चलते हैं तथा नवाब जिनका सहायक है ऐसे नेमीदास, अमृतराय, अमीचन्द, मजलसिराय, हुकुमचन्द, कौलापति आदि सौ-पचास पाणीपथ्या अग्रवाल जैन साधर्मी वहां हैं । उनके मलयखेडा से सिद्धान्त ग्रन्थ मंगवाने का उपाय वर्तता है (विचार है) । पर देखो, कार्य बनने में बहुत कठिनता है, ऐसा आप जानें।

हम मेवाड गये थे । वहां चितौडगढ है, उसके नीचे तलहटी में नगर बसा है । वहां तलहटी में हवेली (मकान) बनाने के लिये जमीन खोदते एक भैंहरा (बहरा) निकला है । उसमें स्फटिक मणि के सदृश्य महाविज्ञ, उपमा रहित पद्मासन विराजमान सोलह जिनबिम्ब पन्द्रह सोलह वर्ष के पुरुष के आकार के सदृश्य परिमाण (प्रमाण) के निकले हैं । उनमें से एक महाराज (जिनबिम्ब) बावन के वर्ष (संवत बावन) में प्रतिष्ठित उस भोंहरे में से अतिशय सहित निकले हैं तथा बहुत से जिनबिम्ब तथा धातु के उपकरण निकले हैं । उनमें से कुछ स्वर्ण पीतल के सदृश्य दिखते निकले हैं । धातु के जिनबिम्ब तो गढ के उपर भोंहरे में विराजमान हैं । ऊपर किलेदार तथा जोगी रहते हैं जिनके पास भोंहरे की चाबियां हैं । पाषाण के बिम्ब तलहटी के मंदिर में विराजमान हैं । वहां महाजनों के सौ घर हैं जिनमें आधे जैन हैं तथा आधे महेश्वरी है । वहां की यात्रा हम कर आये हैं । उनके दर्शन के लाभ की महिमा वचन अगोचर है । यह बात भी आप जानेंगे ।

आप लोगों के मन में कोई प्रश्न अथवा संदेह हो तो उसकी भी यहां शुद्धि (समाधान) होगी । गोम्मटसार आदि अनेक ग्रन्थों की अनेक अपूर्व चर्चा सुनने को मिलेगी । यहां बहुत भाईयों के गोम्मटसार आदि ग्रन्थों का ही अध्ययन है । बहुत सी स्त्रियों (महिलायें) को व्याकरण तथा

गोम्मटसार की चर्चा का ज्ञान है । विशेष धर्मबुद्धि जीवों से मिलाप होगा । अन्य सबों से भाईजी टोडरमलजी को ज्ञान का क्षयोपशम अलौकिक है, जिनने गोम्मटसार आदि ग्रन्थों की संपूर्ण एक लाख श्लोक प्रमाण टीकायें बनाई हैं तथा अन्य भी पांच-सात ग्रन्थों की टीका बनाने का विचार है। (उनकी) आयु की अधिकता होने पर बनेगी (बन पावेगी) । धवला, महाधवला, जयधवला आदि ग्रन्थों को खोलने (मंगाकर उनका भाव स्पष्ट करने) का उपाय किया तथा वहां दक्षिण देश से अन्य तो पांच सात ग्रन्थ ताडपत्रों पर कर्णाटकी लिपि में लिखे यहां आये हैं । उनको मलजी (टोडरमलजी) पढते हैं तथा उनका यथार्थ व्याख्यान करते हैं अथवा कर्णाटकी लिपि में लिख लेते हैं । इत्यादि न्याय, व्याकरण, गणित, छंद, अलंकार का उनको ज्ञान है । ऐसी महंत बुद्धि के धारी इस काल में अन्य मिलना दुर्लभ है । अत: इनसे मिलने पर सर्व संदेह दूर होंगे । बहुत लिखने से क्या ? अपने हित के वांछक पुरुष शीघ्र आकर इनसे मिलें । अन्य भी देश-देश के साधर्मी भाई आवेंगे, उनसे मिलाप होगा ।

यहां दस-बारह, लेखक सदैव जिनवाणी लिखते तथा शोधते रहते हैं तथा एक ब्राह्मण पंडित को वेतन पर नौकर रखा हुआ है, जो बीस-तीस बालकों को न्याय, व्याकरण, गणित शास्त्र पढाता है । सौ-पचास भाई-बहिनें चर्चा व्याकरण का अध्ययन करते हैं । नित्य सौ-पचास स्थानों पर (जिनमंदिरों में) जिन पूजन होता है । इस नगर में सप्त व्यसनों का अभाव है । **भावार्थ:**– इस नगर में कलाल, कसाई, वेश्या आदि नहीं रहते हैं तथा राज्य आदेश से जीव हिंसा की मनाई (बन्द) है । राज़ा का नाम माधवसिंह है, उसके राज्य में ऐसे कुव्यसन राजा की आज्ञा के कारण नहीं हैं । जैन लोगों का समूह बसता है । राजा के हाकिम (अधिकारीगण) सब जैन हैं तथा साहुकार लोग भी जैन हैं । यद्यपि अन्य भी हैं पर गौण हैं, मुख्य नहीं हैं । यहां जैन महाजनों के छह-सात अथवा

आठ-दस हजार घर हैं । ऐसा जैन लोगों का समूह अन्य नगरों में नहीं है । यहां के देश में सर्वत्र मुख्यपने श्रावक लोग बसे हैं, अत: यह नगर अन्य देशों से बहुत निर्मल तथा पवित्र है । इस कारण धर्मात्मा पुरुषों के बसने का स्थान है । अभी (वर्तमान में) तो यह साक्षात धर्मपुरी है ।

देखो ! यह प्राणी व्यापार आदि लौकिक कार्यों के लिये तो समुद्र पर्यन्त जाता है तथा विवाह आदि कार्यों के लिये भी सौ-पचास कोस जाता है तथा मनमाना द्रव्य (धन) खर्च करता है, जिसका फल तो नरक निगोद है । उन कार्यों में तो इस जीव को ऐसी आसक्ति पाई जाती है । यह वासना सर्व जीवों को बिना सिखाये ही स्वयमेव बनी है, परन्तु धर्म की लगन किसी सत्पुरुष के ही पाई जाती है।

विषय कार्यों का पोषण करने वाले तो कदम-कदम पर मिलेंगे, परमार्थ कार्य के उपदेशक एवं उनमें रुचि लेने वाले बिरले स्थानों पर किसी काल में पाये जाते हैं । अत: इनकी प्राप्ति महा भाग्य के उदय से काललब्धि के अनुसार होती है । जीव की यह मनुष्य पर्याय क्षणभंगुर है, उसमें भी इस काल में (वर्तमान में) तो जीव की स्थिति बिजली की चमक के समान अल्प है, उसमें भी लाभ-हानि बहुत हैं । एक ओर तो विषय-कषाय का फल नरक आदि के अनन्त संसार का दु:ख है, दूसरी ओर शुभ तथा शुद्धधर्म का फल स्वर्ग मोक्ष है । अल्प से परिणामों के विशेष से कार्य में इतनी विपरीतता (अन्तर) पडता है । सर्व बातों में यही एक न्याय है कि बीज तो सब का तुच्छ ही होता है तथा फल उसके अपार लगते हैं । अत: ज्ञानी विचक्षण पुरुषों को एक धर्म ही उपादेय है ।

अनन्तानन्त सागर पर्यन्त काल एकेन्द्रिय में व्यतीत करे तब एक त्रस की पर्याय प्राप्त करता है । ऐसे त्रस पर्याय का पाना ही दुर्लभ है, तब मनुष्य पर्याय पाने की बात ही क्या है ? उसमें भी उच्च कुल, पूरी आयु, इन्द्रियों की प्रबलता, निरोग शरीर, आजीविका की स्थिरता, शुभक्षेत्र,

शुभ काल, जिनधर्म का अनुराग, ज्ञान का विशेष क्षयोपशम, परिणामों की विशुद्धता – जीव इन्हें अनुक्रम से दुर्लभता से पाता है।

कैसी दुर्लभता से पाता है ? अभी ऐसा संयोग मिला है, पूर्व में अनादि (बहुत-बहुत) काल से नहीं मिला होगा । यदि ऐसा संयोग मिला होता तो फिर संसार में क्यों रहता ? जिनधर्म का ऐसा (हीन) प्रताप नहीं है कि सच्ची प्रतीति आने के बाद भी संसार के दु:ख पावे । अत: आप तो बुद्धिमान हैं, जिसमें अपना हित हो वह करना । धर्म के अर्थी पुरुष को तो थोडा सा ही उपदेश बहुत होकर परिणमता है । बहुत कहने से क्या ?

इस चिट्ठी की दस-बीस नकल और कराकर वहां के आसपास जहां जैन लोग बसते हों वहां भेजना । यह चिट्ठी सर्व जैन बंधुओं को एकत्रित करके उनके सम्मुख पढना तथा इसका रहस्य सब को समझा देना । चिट्ठी पहुंची अथवा नहीं पहुंची का पता लगता नहीं है, आने न आने की सूचना मिलती नहीं। मिति माघ वदि नवमी संवत अठारह सौ इक्कीस ।

—●—

प्रकाशन योजना के हमारे स्तम्भ

परम संरक्षक : (२१ हजार प्रदान करने वाले)

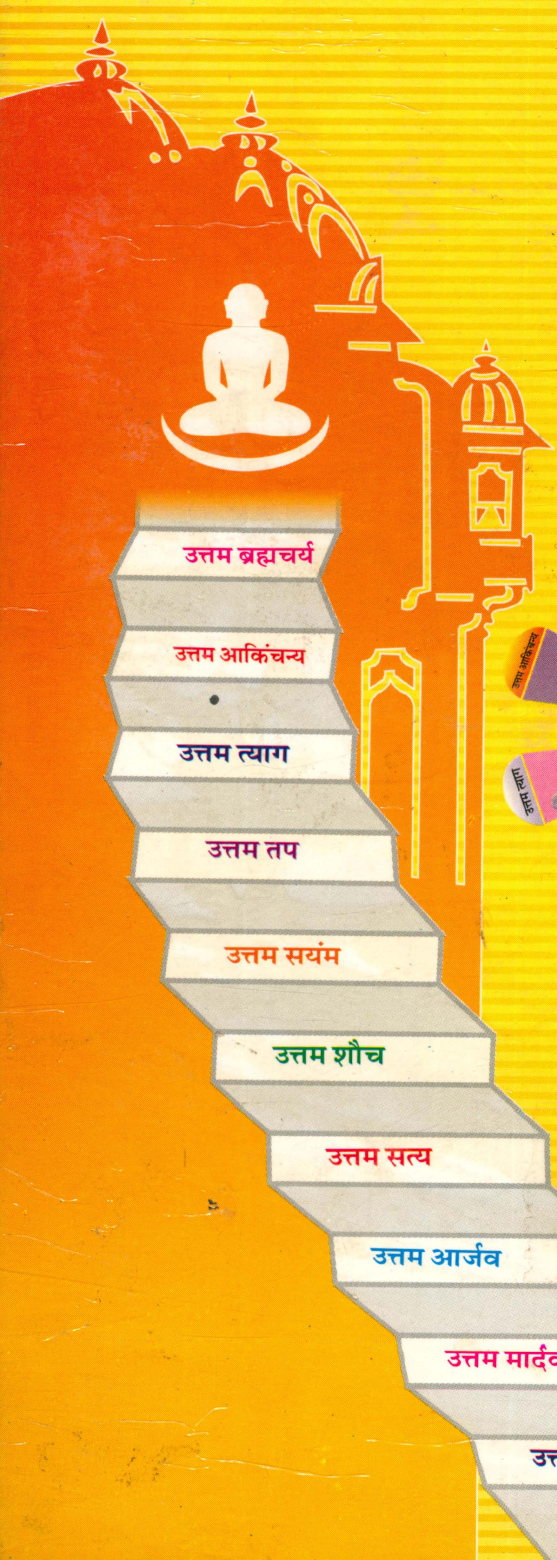
- श्रीमती इन्दुमती अन्नासाहेब, खेमलापुरे, पो. घटप्रभा, जि. बेलगाँव, कर्नाटक

सह संरक्षक : (११ हजार प्रदान करने वाले)

- लाला धर्मपाल जैन, महावीर ब्लॉक, भोलानाथ नगर, शाहदरा, दिल्ली

हितैषी सदस्यगण : (५ हजार प्रदान करने वाले)

- (स्व. पं. चुन्नीलालजी शास्त्री की स्मृति में)
  श्रीमती हीराबाई चुन्नीलाल जैन पा. ट्रस्ट, चन्देरी (म.प्र.) एवं जयपुर (राज.)
- (स्व. पं. हीरालालजी कौशल की स्मृति में)
  डॉ. सत्यप्रकाश जैन, बी-१७३, सूरजमल विहार, दिल्ली
- (स्व. श्री प्रेमचन्दजी जैन की स्मृति में)
  श्रीमती बिन्दु जैन धर्मपत्नि डॉ. अशोक गोयल शास्त्री
  १५७ चन्द्र विहार, निकट पटपड़गंज डिपो, दिल्ली-११००९२
- (स्व. श्रीमती रूपवती किरण की स्मृति में)
  श्री नरेन्द्रकुमार जैन, राइट टाउन, जबलपुर (म.प्र.)
- (स्व. श्रीमती शकुन्तलादेवी की पुण्य स्मृति में)
  श्री जवाहरलालजी जैन, ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५
- (पं. राजकुमार जैन शास्त्री की स्मृति में)
  डॉ. रमेश जैन, जैन आई हास्पिटल निवाई (राज.)
- श्रीमती श्रीकान्ताबाई छाबड़ा
  धर्मपत्नि श्री पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर (म.प्र.)
- श्रीमती कमलादेवी जैन रांवका पत्नि स्व. श्री सौभागमल जैन रांवका, जयपुर-३
- आदीश्वरलाल जैन फाउण्डेशन, राजपुर रोड़, दिल्ली
- प्रेमचन्द जैन कागजी, बेला रोड़, दिल्ली
- श्री पी.के. जैना, डी-६४, सूरजमल विहार, दिल्ली
- श्री दिगम्बर जैन संघ, मथुरा (हस्ते श्री ताराचन्दजी प्रेमी)
- श्रीमती सुशीला जैन, राजपुर रोड़, दिल्ली
- श्रीमती मंजु जैन ६/१ रैकिट कोर्ट रोड़, सिविल लाइन्स, दिल्ली
- (स्व. प्रेमवती जैन मातेश्वरी की स्मृति में)
  श्री अनिलकुमार जैन कागजी, चावड़ी बाजार, दिल्ली
- श्री दुलीचन्द जैन, ९८, बाहुबली एन्क्लेव, दिल्ली
- श्री सत्येन्द्र मोहन जैन, चन्द्रविहार, नई दिल्ली
- श्रीमती राजरानी जैन धर्मपत्नी श्री सुमेरचन्द जैन
  सी/२/५६, अशोक विहार फेस ११, दिल्ली
- श्री आर.के. जैन, पॉकेट बी, ४०ए, फेस II, अशोक विहार, दिल्ली
- श्री नानकचन्द जैन, बी ३/१११ फेस II, अशोक विहार, दिल्ली
- डॉ. कमलेश जैन, बी/४/८, अशोक विहार, फेस दिल्ली
- श्री विमल जैन, नीरू केमीकल्स, दिल्ली
- श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, मुम्बई





Serving JinShasan
193555
gyanmandir@kobatirth.org